VIDYA UNIVERSITY PRESS

TOUCH n PASS

सर्वश्रेष्ठ परीक्षा पथ-प्रदर्शक

B.A.
प्रथम वर्ष
(सर्टिफिकेट कोर्स)
सेमेस्टर-I

समाजशास्त्र

समाजशास्त्र की मूल अवधारणाओं का परिचय

SYLLABUS

UNIT-I

Sociology : Meaning, Nature, Scope of Sociology, Sociology and Common Sense, Sociology as a Science, Humanistic Orientation in Sociology, History and Emergence of Sociology in India.

UNIT-II

Sociology and other Social Sciences (Anthropology, Economics, History, Psychology, Political Science).

UNIT-III

Basic Concepts : Society, Community, Institutions, Association, Social Group, Human and Animal Society.

UNIT-IV

Social Institutions : Family, Kinship, Marriage, Education, State & Religion.

UNIT-V

Culture and Civilization, Pluralism, Multiculturalism, Cultural Relativism.

UNIT-VI

Socio-Cultural Processes : Co-operation, Conflict, Competition, Acculturation, Assimilation and Integration.

UNIT-VII

Social Structure, Status and Role, Norms, Folkways and Mores, Sanctions and Values.

UNIT-VIII

Social Stratification : Meaning, Forms and Basis, Social Mobility : Meaning and Types.

TOUCH n PASS

VIDYA®
UNIVERSITY PRESS

पंजीकृत कार्यालय
विद्या लोक, टी०पी० नगर, बागपत रोड,
मेरठ, उत्तर प्रदेश (NCR) 250 002
फोन : 0121-2513177, 2513277
www.vidyauniversitypress.com

© प्रकाशक

सम्पादन एवं लेखन
शोध एवं अनुसन्धान प्रकोष्ठ

मुद्रक
विद्या यूनिवर्सिटी प्रेस

TOUCH n' PASS

विषय-सूची

UNIT-I : समाजशास्त्र ...3
UNIT-II : समाजशास्त्र एवं अन्य सामाजिक विज्ञान ...18
UNIT-III : समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणाएँ ...27
UNIT-IV : सामाजिक संस्थाएँ ...55
UNIT-V : संस्कृति एवं सभ्यता ...91
UNIT-VI : सामाजिक सांस्कृतिक प्रक्रियाएँ ...111
UNIT-VII : सामाजिक संरचना ...133
UNIT-VIII : सामाजिक स्तरीकरण एवं गतिशीलता ...156
मॉडल पेपर ...168

UNIT-I

समाजशास्त्र

खण्ड-अ अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. समाजशास्त्र का जनक कौन है?

उत्तर आगस्त कॉम्ट को समाजशास्त्र का जनक (Father of Sociology) कहा जाता है। सर्वप्रथम सन् 1838 में इस नवीन शास्त्र को 'समाजशास्त्र' (Sociology) का नाम दिया था।

प्र.2. किस विद्वान ने समाजशास्त्र के लिए 'इथोलॉजी' (Ethology) शब्द प्रयुक्त करने का सुझाव दिया था?

उत्तर जॉन स्टुअर्ट मिल ने समाजशास्त्र को Sociology के स्थान पर इथोलॉजी (Ethology) शब्द प्रयुक्त करने का सुझाव दिया था।

प्र.3. गिडिंग्स द्वारा प्रस्तुत समाजशास्त्र की परिभाषा लिखिए।

उत्तर गिडिंग्स (Giddings) के अनुसार, "समाजशास्त्र समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है।"

प्र.4. "सामाजिक सम्बन्धों के जाल को हम समाज कहते हैं।" यह कथन किसका है?

उत्तर उपर्युक्त कथन मैकाइवर तथा पेज (MecIver and Page) द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

प्र.5. इंकल्स ने समाजशास्त्र की विषय-वस्तु के निर्धारण के कितने पथ बताए हैं?

उत्तर इंकल्स ने समाजशास्त्र के तीन पथों का वर्णन किया जो क्रमश: इस प्रकार हैं—(i) ऐतिहासिक पथ, (ii) आनुभाविक पथ तथा (iii) विश्लेषणात्मक पथ।

प्र.6. किंग्सले डेविस ने समाजशास्त्र की विषय-वस्तु के अन्तर्गत किन विषयों को सम्मिलित किया है?

उत्तर किंग्सले डेविस ने निम्नलिखित पाँच विषयों को समाजशास्त्र की विषय-वस्तु के अन्तर्गत सम्मिलित किया है—(i) सामाजिक संरचना, (ii) सामाजिक कार्य, (iii) सामाजिक अन्त:क्रिया, (iv) व्यक्ति और उसका समाज तथा (v) सामाजिक परिवर्तन।

प्र.7. दुर्खीम (Durkheim) ने समाजशास्त्र की विषय-वस्तु में किन विषयों को सम्मिलित किया है?

उत्तर दुर्खीम ने समाजशास्त्र की विषय-वस्तु में क्रमश: सामाजिक स्वरूपशास्त्र, सामाजिक शरीर शास्त्र तथा सामान्य समाजशास्त्र को सम्मिलित किया है।

प्र.8. "विज्ञान, विज्ञान ही है चाहे वह भौतिकशास्त्र में हो या समाजशास्त्र में" यह कथन किसका है?

उत्तर उपर्युक्त कथन लैंडिस द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

प्र.9. समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के विरुद्ध कोई तीन आपत्तियाँ बताइए।

उत्तर (i) वैषयिकता (तटस्थता) का अभाव।
(ii) सामाजिक घटनाओं की माप में कठिनाई।
(iii) समाजशास्त्र में प्रयोगशाला का अभाव।

प्र.10. समाजशास्त्र की वास्तविक प्रकृति क्या है? किन्हीं दो का उल्लेख कीजिए।

उत्तर (i) समाजशास्त्र एक निरपेक्ष या वास्तविक विज्ञान है न कि आर्दशात्मक विज्ञान।
(ii) समाजशास्त्र एक तार्किक और साथ ही अनुभवात्मक विज्ञान है।

TOUCH 'n' PASS

प्र.11. समाजशास्त्रीय अभिमुखन से क्या तात्पर्य है?

उत्तर समाजशास्त्रीय अभिमुखन (Sociological Orientation) का तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसके माध्यम से अध्ययनकर्त्ता को समाजशास्त्र के महत्त्वपूर्ण पक्षों से परिचित कराया जाता है और उसे समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के अनुरूप अध्ययन हेतु प्रशिक्षित किया जाता है।

प्र.12. मानविकी परिप्रेक्ष्य (अभिमुखन) के अन्तर्गत सामाजिक यथार्थ के अध्ययन के प्रमुख उपागम कौन से हैं?

उत्तर मानविक परिप्रेक्ष्य के प्रमुख उपागम निम्नलिखित हैं—(i) एथनोमैथोडोलॉजी, (ii) प्रघटनाशास्त्र, (iii) आमूल परिवर्तनवादी उपागम, (iv) प्रतीकात्मक अन्त:क्रिया।

प्र.13. वैज्ञानिक दर्शन सिद्धान्त का प्रतिपादन किसने किया था?

उत्तर वैज्ञानिक दर्शन सिद्धान्त का प्रतिपादन ऑगस्त कॉम्ट ने किया था।

प्र.14. प्लेटो तथा अरस्तू द्वारा रचित एक-एक प्रसिद्ध रचना/पुस्तक का नाम बताइए।

उत्तर प्लेटो की प्रसिद्ध रचना 'रिपब्लिक' (427-347 ई०पू०) है तथा अरस्तू की प्रसिद्ध पुस्तक 'ईथिक्स एण्ड पॉलिटिक्स' (384-322 ई०पू०) है। ये दोनों ही यूनानी विचारक थे।

प्र.15. ऑगस्त कॉम्ट ने सर्वप्रथम समाजशास्त्र का क्या नाम रखा था?

उत्तर ऑगस्त कॉम्ट ने समाज से सम्बन्धित अध्ययन को सर्वप्रथम सामाजिक भौतिकी (Social Physics) का नाम दिया था। सन् 1838 में इन्होंने इस नाम को बदलकर समाजशास्त्र (Sociology) नाम दिया।

प्र.16. सामाजिक चिन्तन प्रस्तुत करने वाले किन्हीं दो भारतीय विचारकों के नाम एवं उनकी रचना का उल्लेख कीजिए।

उत्तर भारतीय विचारकों में 'मनु' एवं 'कौटिल्य' (चाणक्य) का योगदान उल्लेखनीय है। मनु ने अपनी रचना 'मनुस्मृति' में भारतीय समाज व्यवस्था का और कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का विवेचन प्रस्तुत किया है।

प्र.17. भारत में समाजशास्त्र के विकास का काल-क्रम प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर भारत में समाजशास्त्र के विकास को तीन युगों में बाँटा जा सकता है—

1. प्राचीन भारत में समाजशास्त्र का विकास।
2. भारत में समाजशास्त्र का औपचारिक प्रतिस्थापन युग।
3. स्वतन्त्र भारत में समाजशास्त्र का व्यापक प्रसार युग।

प्र.18. डॉ० घुरिये ने समाजशास्त्र के किन विषयों पर अध्ययन कार्य किया है?

उत्तर डॉ० घुरिये ने विभिन्न समाजशास्त्रीय विषयों पर अध्ययन कार्य किया है जिनमें जाति, वर्ग, व्यवसाय, परिवार, धर्म आदि मुख्य हैं।

प्र.19. डॉ० एम०एन० श्रीनिवास ने भारत में जाति के सन्दर्भ में होने वाले परिवर्तनों को समझाने हेतु कौन-सी अवधारणा प्रस्तुत की थी?

उत्तर डॉ० एम०एन० श्रीनिवास ने भारत में जाति के सन्दर्भ में होने वाले परिवर्तनों को समझाने हेतु **'संस्कृतिकरण'** (Sanskritization) नामक अवधारणा प्रस्तुत की थी।

प्र.20. भारत में परिस्थितीय समाजशास्त्र के विकास का प्रयास तथा 'प्रवासिता का सिद्धान्त' का प्रतिपादन किसने किया था?

उत्तर भारत में परिस्थितीय समाजशास्त्र के विकास का प्रयास तथा 'प्रवासिता का सिद्धान्त' का प्रतिपादन **डॉ० राधाकमल मुकर्जी** ने किया था।

प्र.21. डॉ० वी०पी० मुकर्जी की किन्हीं दो रचनाओं के नाम लिखिए।

उत्तर (i) Basic Concepts of Sociology, (ii) Modern Indian Culture.

प्र.22. डॉ० के०एम० कापडिया के अध्ययन के मुख्य विषय कौन से हैं?

उत्तर डॉ० के०एम० कापडिया ने विवाह, परिवार एवं नातेदारी आदि विषयों पर मुख्य रूप से अध्ययन किए हैं।

TOUCH 'n' PASS

खण्ड-ब लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. समाजशास्त्र एवं सामान्य समझ की अवधारणा तथा अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

समाजशास्त्र एवं सामान्य समझ की अवधारणा
(Concept of Sociology and Common Sense)

समाजशास्त्र एवं सामान्य समझ दोनों ही अलग-अलग धारणाएँ हैं। इन दोनों को स्पष्ट करते हुए **एन्थोनी गिडेन्स** (A. Giddens) ने स्वयं की पुस्तक **'समाजशास्त्र का परिचय'** (Introduction to Sociology) में कुछ ऐसे उदाहरणों का उल्लेख किया है जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार सामान्य ज्ञान और समाजशास्त्र एक-दूसरे से भिन्न हैं। जैसे भारत में आत्महत्या के कारण के प्रति सामान्य धारणा लोगों की यही रहती है कि एक व्यक्ति स्वयं के व्यक्तिगत कारणों व असफलता के कारण आत्महत्या करता है, परन्तु समाजशास्त्रीय अध्ययनों द्वारा यह स्पष्ट किया गया कि कुछ समय से उन ग्रामीण व जनजातीय समुदाय में भी आत्महत्या की दर में वृद्धि हुई है जो इन (व्यक्तिगत व जीवन में असफलता) कारणों को कभी सोचते नहीं थे। इन समुदायों में समाजशास्त्रियों की यह धारणा है कि इस समुदाय के लोगों का सामाजिक ढाँचे से जुड़े वर्तमान में तनाव के प्रति संवेदनशील होना व बैंक सुविधाओं से ऋण का बढ़ना आत्महत्या के कारण के रूप में स्पष्ट होते हैं। इस प्रकार उदाहरण से यह स्पष्ट है कि समाजशास्त्र घटनाओं का अध्ययन करके यथार्थ में विश्वास करता है और सामान्य ज्ञान व्यक्तियों के स्वयं के विचार घटना के प्रति होना है।

गिडेन्स सामान्य समझ को अनुपयोगी नहीं मानते हैं क्योंकि अनेक स्थितियों में ये ज्ञान हमें एक आधार प्रदान करता है जो समाजशास्त्रीय अध्ययन हेतु उपयोगी स्पष्ट होता है। वर्तमान में सामान्य समझ के आधार पर जब समाजशास्त्रीय अध्ययन किए जाते हैं तब वही अध्ययन वैज्ञानिक हो जाते हैं। इसी वैज्ञानिक या तार्किक ज्ञान को हम समाजशास्त्रीय ज्ञान कहते हैं।

समाजशास्त्र और सामान्य समझ में अन्तर
(Differences between Sociology and Common Sense)

समाजशास्त्र एवं सामान्य समझ में निम्न अन्तर हैं—

1. समाजशास्त्र समाज का व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक अध्ययन है जबकि सामान्य बोध या समझ के अन्तर्गत सामान्य लोगों की धारणाएँ समाज के प्रति सामान्य रूप से होती हैं। व्यावहारिक रूप के अन्तर्गत सामाजिक जीवन एक छोटे घेरे (धारणाओं) से बँधा होता है; जैसे—गाँव के लोगों में नगर के लोगों के प्रति स्वार्थी एवं चालाक होने की धारणा तथा शहरी लोगों को गाँव के लोगों को सरल, एक सहायक व्यक्तियों के रूप में देखने की धारणा। जबकि समाजशास्त्र इन धारणाओं का सदैव यथार्थ होना आवश्यक नहीं मानता।
2. समाजशास्त्र के अन्तर्गत समाज के विभिन्न मूल्यों, धारणाओं का स्वरूप परिवर्तित हुआ है तथा वे आधुनिक समय में अनैतिक नहीं कहे जा सकते जबकि सामान्य बोध के द्वारा इसके विषय में कहा जाता है कि समाज में नैतिकता का पतन हो रहा है।
3. समाजशास्त्र समाज के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित विभिन्न व्यक्तियों के सम्बन्धों का अध्ययन करता है। इसके साथ ही वह लोगों की मनोवृत्तियों एवं स्थितियों का भी वर्णन करता है। लेकिन सामान्य बोध से सम्बन्धित मान्यताओं को समाजशास्त्र तभी मान्यता देता है जब वे यथार्थ अनुभव एवं तर्क पर आधारित होते हैं।

प्र.2. समाजशास्त्र की प्रकृति समझाइए।

उत्तर

समाजशास्त्र की प्रकृति
(Nature of Sociology)

रॉबर्ट बीरस्टीड (Robert Bierstedt) ने समाजशास्त्र की प्रकृति के सम्बन्ध में विभिन्न विशेषताओं का उल्लेख किया है। इन विशेषताओं का वर्णन निम्नलिखित है—

1. **समाजशास्त्र एक प्राकृतिक विज्ञान न होकर एक सामाजिक विज्ञान है**—बीरस्टीड के अनुसार समाजशास्त्र निश्चित रूप से एक सामाजिक विज्ञान है। उनका यह तात्पर्य नहीं है कि समाजशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान समान ही है, बल्कि समाजशास्त्र सामाजिक विज्ञानों में एक वैज्ञानिक विषय है, क्योंकि यह भौतिक एवं प्राकृतिक घटनाओं से सम्बन्धित न

होकर सामाजिक घटनाओं, समाज तथा सामाजिक सम्बन्धों से सम्बन्धित हैं। इसलिए समाजशास्त्र का भौतिक घटनाओं से कोई सम्बन्ध न होने के कारण इसे प्राकृतिक विज्ञानों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।

2. **समाजशास्त्र तथ्यात्मक विज्ञान है, आदर्शात्मक विज्ञान नहीं**—समाजशास्त्र में सामाजिक सम्बन्धों का तथ्यात्मक अध्ययन किया जाता है। यह 'क्या है' का अध्ययन करता है 'क्या होना चाहिए' का अध्ययन नहीं करता है। अत: समाजशास्त्र को तथ्यात्मक सामाजिक विज्ञान माना जाता है न कि आदर्शात्मक विज्ञान।
3. **समाजशास्त्र मूर्त विज्ञान न होकर, एक अमूर्त विज्ञान है**—समाजशास्त्र दूसरे सामाजिक विज्ञानों की भाँति अमूर्त है, क्योंकि इसकी विषय-वस्तु सामाजिक सम्बन्ध है और सामाजिक सम्बन्धों को मूर्त रूप में नहीं देखा जा सकता। चूँकि सामाजिक सम्बन्ध अमूर्त होते हैं इसलिए समाजशास्त्र भी एक अमूर्त विज्ञान है।
4. **समाजशास्त्र व्यावहारिक विज्ञान न होकर, एक विशुद्ध विज्ञान है**—समाजशास्त्र भी क्रमबद्ध ज्ञान प्राप्त करता है। इसलिए अन्य विशुद्ध विज्ञानों की तरह यह भी एक विशुद्ध विज्ञान है, तथा अपनी ओर से किसी प्रकार के यह व्यावहारिक सुझाव नहीं देता है।
5. **समाजशास्त्र विशिष्ट विज्ञान न होकर, एक सामान्य विज्ञान है**—समाजशास्त्र को एक सामान्य विज्ञान माना जाता है, क्योंकि यह समाज तथा सामाजिक घटनाओं के अध्ययन से सम्बन्धित है अत: दुर्खीम हाबहाउस ने इसे एक सामान्य विज्ञान माना है।
6. **समाजशास्त्र सामान्यीकरण करने वाला विज्ञान है**—समाजशास्त्र मानव अंत:क्रिया एवं सम्बन्धों के बारे में सामान्य नियमों या सिद्धान्तों को ज्ञात करता है एवं मानव समूह और समाजों की प्रकृति, स्वरूप, विषय-वस्तु एवं संरचना की खोज करता है। **उदाहरण के लिए,** कारगिल में पाकिस्तान ने जून, 1999 में भारत पर आक्रमण क्यों किया; समाजशास्त्र इस बात में रुचि नहीं रखता, बल्कि यह इसमें रुचि रखता है कि किसी समूह की आन्तरिक शक्ति बढ़ाने में विदेशी आक्रमण एक महत्त्वपूर्ण कारक है।
7. **समाजशास्त्र अनुभव आश्रित एवं तार्किक दोनों प्रकार का विज्ञान है**—समाजशास्त्र एक अनुभवाश्रित विज्ञान है, क्योंकि इसका अध्ययन पुस्तकालय में नहीं अपितु अनुसन्धान क्षेत्र में जाकर किया जाता है। इसके अतिरिक्त यह एक तार्किक विज्ञान भी है, क्योंकि इसमें प्रत्येक घटना की तार्किक व्याख्या देने का प्रयास किया जाता है।

प्र.3. विज्ञान का क्या अर्थ है? विज्ञान के प्रमुख तत्त्वों (विशेषताओं) का उल्लेख कीजिए।

***अथवा* किसी भी विषय के विज्ञान कहलाने के लिए उसमें किन बातों/तत्त्वों का होना आवश्यक होता है?**

उत्तर

विज्ञान का अर्थ
(Meaning of Science)

सामान्तया 'विज्ञान' का अर्थ विशेष प्रकार की विषय-सामग्री से ही लगाया जाता है। इस दृष्टि से रसायनशास्त्र, भौतिकशास्त्र, जीव-विज्ञान, वनस्पतिशास्त्र आदि विषयों को ही विज्ञान माना जाता है। सामाजिक तथ्यों एवं प्रघटनाओं, सामाजिक समूहों, संस्थाओं, समाजों एवं सम्बन्धों का अध्ययन करने वाले विषय को विज्ञान नहीं। वास्तव में विज्ञान अपने आप में कोई विषय-सामग्री नहीं होकर वैज्ञानिक पद्धति से प्राप्त किया गया व्यवस्थित ज्ञान है। यदि किसी भी विषय से सम्बन्धित तथ्यों को वैज्ञानिक पद्धति को काम में लेते हुए संग्रहीत किया जाए तथा इस प्रकार से प्राप्त तथ्यों के आधार पर सिद्धान्त बनाए जाएँ तो ऐसे विषय को विज्ञान ही माना जाएगा।

विज्ञान का अर्थ स्पष्ट करते हुए **स्टुआर्ट चेज** ने कहा है कि, "विज्ञान का सम्बन्ध पद्धति से है न कि विषय-सामग्री से।" ग्रीन ने विज्ञान का अर्थ तथ्यों की खोज करने वाले तरीके से लिया है।

कार्ल पियर्सन के अनुसार, "सभी विज्ञानों की एकता उसकी पद्धति में है न कि उसकी विषय-वस्तु में।"

बीसंज तथा **बीसंज** के अनुसार, "यह एक पद्धति या उपागम है न कि विषय-सामग्री जो विज्ञान की कसौटी है।"

लुण्डबर्ग के अनुसार, "विज्ञान को विषय-सामग्री के रूप में परिभाषित करने का प्रयत्न भ्रम ही उत्पन्न करता है।" **लैंडिस** की मान्यता है कि विज्ञान, विज्ञान ही है, चाहे वह भौतिकशास्त्र में हो या समाजशास्त्र में।

विद्वानों की उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि **विज्ञान का सम्बन्ध किसी विशिष्ट प्रकार की विषय-सामग्री से न होकर वैज्ञानिक पद्धति से प्राप्त किए गए क्रमबद्ध व व्यवस्थित ज्ञान से है।** जिस किसी विषय की अध्ययन वस्तु वैज्ञानिक पद्धति को काम में लेते हुए प्राप्त की जाती है, वह विषय विज्ञान कहलाता है।

विज्ञान के प्रमुख तत्त्व (विशेषताएँ)
(Main Elements or Characteristics of Science)

विज्ञान के लिए निम्नलिखित तत्त्वों का होना आवश्यक है—

1. **वैज्ञानिक प्रवृत्ति**—उस विषय को विज्ञान कहा जाता है जिससे सम्बन्धित तथ्यों का संकलन अध्ययनकर्त्ता वैज्ञानिक प्रवृत्ति को बनाए रखते हुए करे।
2. **अवलोकन**—विज्ञान में अवलोकन के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए **गुडे** एवं **हेट** ने लिखा है कि विज्ञान अवलोकन से आरम्भ होता है और उसकी पुष्टि के लिए अन्ततः अवलोकन पर ही लौट आना पड़ता है। अतः समाजशास्त्री को अपने आपको सावधानीपूर्वक अवलोकन करने में प्रशिक्षित करना चाहिए।
3. **सत्यापन तथा वर्गीकरण**—विज्ञान की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें अवलोकन विधि द्वारा प्राप्त तथ्यों की सत्यता की परीक्षा की जाती है। इसी को **सत्यापन** के नाम से पुकारा जाता है। अन्य शब्दों में सत्यापन का अर्थ किसी भी प्राप्त निष्कर्ष की प्रामाणिकता का पता लगाना है।
   प्राप्त तथ्यों को समान विशेषताओं के आधार पर विभिन्न वर्गों में व्यवस्थित करना ही **वर्गीकरण** कहलाता है। इसमें तथ्यों को अलग-अलग वर्गों में इस प्रकार रखा जाता है कि एक वर्ग के समान तथ्य आ जाएँ और इस आधार पर बनने वाले विभिन्न वर्गों के बीच एक पारस्परिक सम्बन्ध बना रहे।
4. **सामान्यीकरण**—विज्ञान का एक प्रमुख तत्त्व या विशेषता सामान्यीकरण है। सामान्यीकरण का अर्थ प्राप्त तथ्यों के आधार पर किसी सामान्य नियम या सामान्य प्रवृत्ति को ज्ञात करने से है। इसमें कुछ इकाइयों के अध्ययन के आधार पर निष्कर्षों को सम्पूर्ण वर्ग या पूरे समग्र पर लागू किया जाता है।
5. **भविष्यवाणी**—विज्ञान का एक प्रमुख तत्त्व उसमें भविष्यवाणी करने की क्षमता का होना है। यदि किसी भी विषय में प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर भविष्य की घटनाओं के सम्बन्ध में पहले से अनुमान लगा लिया जाए तो उस विषय को विज्ञान कहा जाएगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि किसी भी विषय के विज्ञान कहलाने के लिए निम्न बातें आवश्यक हैं—

1. तथ्यों को एकत्रित करने के लिए वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया गया हो।
2. अवलोकन विधि को काम में लिया गया हो।
3. वास्तविक तथ्यों का यथावत् चित्रण किया गया हो, अन्य शब्दों में 'क्या है' का स्पष्टतः उल्लेख किया गया हो।
4. कार्य-कारण सम्बन्धों की स्पष्टतः विवेचना की गई हो।
5. निष्कर्ष प्रामाणिक हों अर्थात् उनकी सत्यता की जाँच की जा चुकी हो।
6. निष्कर्ष सर्वव्यापी होने चाहिए।
7. एकत्रित तथ्यों के आधार पर भविष्यवाणी की जा सकती हो।

प्र.4. मानवीय उन्मुखीकरण की उत्पत्ति के सन्दर्भ में संक्षेप में बताइए।

उत्तर

मानवीय उन्मुखीकरण की उत्पत्ति
(Origin of Human Orientation)

मानवीय उन्मुखीकरण की उत्पत्ति वास्तविक रूप में पोलैण्ड निवासी फ्लोरियन जैनिनिकी के अमेरिका शिकागो विश्वविद्यालय में किए गए कार्यों के फलस्वरूप हुआ। यह एक दार्शनिक था जो अमेरिका में समाजशास्त्री के रूप में प्रसिद्ध हुआ। विलियम आई० थॉमस के साथ मिलकर इन्होंने वर्ष 1918 में **'यूरोप एवं अमेरिका पोलैण्डवासी कृषक'** नामक पुस्तक लिखी। जो अमेरिका में शास्त्रीय कृति के रूप में प्रसिद्ध है। इस पुस्तक में पद्धतिशास्त्र की दृष्टि से समाजशास्त्रीय अध्ययनों में डायरी, जीवन-इतिहास जैसी द्वितीयक सामग्री के स्त्रोतों पर बल दिया गया है। इसमें मानवतावादी साहचर्य कारणात्मक पद्धति प्रयोगी रही। क्योंकि इसमें सामाजिक कार्यकलापों में सहभागी व्यक्तियों के अर्थ और अवधारणाओं को समझा जाता है या उन्हें गहन तरीके से समझने का प्रयास किया जाता है। जैनिनिकी, सामाजिक क्रिया के निर्धारण में व्यक्तिष्ठाता का महत्त्वपूर्ण भूमिका मानते हैं। इसे उन्होंने 'मानवीय गुणांक' कहकर परिभाषित किया। यदि कोई अध्ययनकर्त्ता मानवीय गुणांक को छोड़कर वैज्ञानिक उन्मुखीकरण से अध्ययन करता है तो इस पद्धति में सामाजिक यथार्थता नहीं रह पाती। जैनेनिकी द्वारा लिखित पुस्तक समाजशास्त्र की पद्धतियाँ

(The Methods of Sociology) में जो पद्धति विकसित की गई वह अपनी मूल्य महत्त्व के कारण प्राकृतिक विज्ञान की अध्ययन पद्धति से भिन्न है।

इसके बाद समाजशास्त्र में विभिन्न अध्ययन पद्धतियों का विकास हुआ; जैसे—प्रतीकात्मक अन्त:क्रियावाद, प्रघटना विज्ञान आदि। इन सभी पद्धतियों के महत्त्व को मानवीय उन्मुखीकरण में महत्त्वपूर्ण माना गया है।

मैक्सवेबर ने समाजशास्त्र के अध्ययन की प्रमुख विषय-वस्तु सामाजिक क्रिया को माना है। वहीं दूसरी ओर उन्होंने मानवीय क्रियाओं के अधिकतम भाग को वैज्ञानिक आधार की तुलना में मानविकी आधार पर प्रस्तुत किया है।

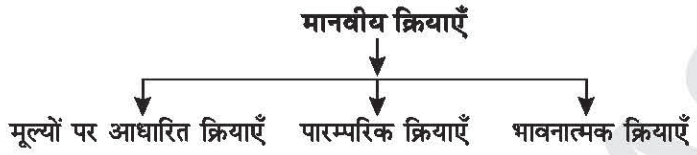

इन क्रियाओं को परम्परागत क्रियाएँ, मूल्यों पर आधारित क्रियाएँ तथा भावनात्मक क्रियाएँ कहा। वेबर का वास्तविक उद्देश्य यही स्पष्ट करना था कि जब तक हम सामाजिक क्रियाओं व्यक्ति की भावना या समाज के मूल्यों एवं परम्परागत विश्वासों के आधार पर नहीं समझेंगे तब तक सामाजिक घटना का वास्तविक रूप नहीं स्पष्ट होगा।

सामाजिक व्यवस्था एवं नियन्त्रण हेतु कुछ विद्वान राज्य एवं कानून को महत्त्वपूर्ण या समाज का मुख्य तत्त्व मानते हैं। जबकि कुछ समाजशास्त्री, पारसन्स, मैटिल, कोजर, गारफिन्कल के अनुसार समाज को केवल कानून या राज्य ही नियन्त्रित नहीं रख सकता बल्कि मानवीय क्रियाओं और सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करने वाले उन सामाजिक मानदण्डों को प्रभावपूर्ण बनाया जाए; जैसे—परम्परागत व्यवहार, नैतिक मूल्य, धार्मिक विश्वास आदि। यह सभी मानदण्ड सामाजिक जीवन के मानविकी पक्ष को स्पष्ट करते हैं।

समाजशास्त्रीय मानविकी उन्मुखीकरण में अनेक विद्वानों; जैसे—एण्मण्ड हस्सर्ल, अल्फ्रेड शूज, गॉफमैन तथा ऐल्विन गोल्डनर आदि ने अपने विचार देकर इसको महत्त्वपूर्ण बनाया। इन विद्वानों के अनुसार समाजशास्त्रीय अध्ययन के मानविकी उन्मुखीकरण से तात्पर्य समाज का इस प्रकार अध्ययन करना है जिससे परिवर्तनशील एवं जटिल मानवीय सम्बन्धों और विभिन्न प्रकार के व्यवहारों को उनकी पृष्ठभूमि एवं कुछ विशेष अर्थों के सन्दर्भ में समझ सके। यह समाजशास्त्री वस्तुपरकता को तथा विषयपकरता को महत्त्व देते हैं। इनका मानना है कि सामाजिक विद्वानों का बदलते समाज में प्रतिदिन की घटनाओं को इस ढंग से समझना चाहिए जिससे समाज के निम्न व कमजोर वर्गों के प्रति अध्ययन में हमारी रुचि में वृद्धि हो सके।

प्र.5. समाजशास्त्र के उद्‌भव की प्रचलित विश्लेषण पद्धतियों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

समाजशास्त्र का उद्‌भव
(Origin of Sociology)

समाजशास्त्र के उद्‌भव एवं विकास के सन्दर्भ में मुख्यत: तीन विश्लेषण पद्धतियाँ उभरकर सामने आती हैं—

1. प्रथम विश्लेषण पद्धति मानव चिन्तन की निरन्तरता पर जोर देती है। इसमें समाजशास्त्र के उदय एवं विकास को प्राचीन युग के सामाजिक चिन्तन के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया गया। वार्न्स एवं टिमैरोफ ने समाजशास्त्र का आरम्भ चिन्तन के एक निरन्तर प्रवाह के एक भाग के रूप में माना है। इसके अनुसार प्राचीनकाल में ग्रीस, रोम, भारत, चीन और अरब देशों में समाजशास्त्र का उदय हुआ। सामाजिक जीवन का विश्लेषण करने वाले विभिन्न सामाजिक विज्ञानों; जैसे—इतिहास, राजनीतिशास्त्र, दर्शन, अर्थशास्त्र तथा प्राकृतिक विज्ञानों में प्रयुक्त अध्ययन-विधियों के सम्मिलित प्रभाव के परिणामस्वरूप समाजशास्त्र की उत्पत्ति हुई।
2. द्वितीय विश्लेषण पद्धति सिद्धान्त तथा तथ्यों के विवेचन पर जोर देती है। इस पद्धति के प्रतिपादक मर्टन का कहना है कि समाजशास्त्र के सिद्धान्तों पर विचार करते समय इसके इतिहास के अध्ययन पर जोर नहीं देकर सिद्धान्तों एवं तथ्यों के विश्लेषण पर जो देना चाहिए।
3. तृतीय विश्लेषण पद्धति से सम्बन्धित विद्वानों का कहना है कि तत्कालीन यूरोप के सामाजिक एवं आर्थिक परिप्रेक्ष्य में समाजशास्त्र के उदय तथा विकास पर विचार किया जाना चाहिए। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों में औद्योगीकरण व पूँजीवाद के विकास के परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन में जो बदलाव आया, उसके सन्दर्भ में समाजशास्त्र के उद्‌भव एवं विकास पर शोध किया जाना चाहिए।

TOUCH 'n' PASS

खण्ड-स विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

उत्तर

समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Sociology)

शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से समाजशास्त्र दो शब्दों से मिलकर बना है जिनमें से पहला शब्द *'सोशियस' (Socius)* लैटिन भाषा से और दूसरा शब्द *'लोगस' (Logas)* ग्रीक भाषा से लिया गया है। *'सोशियस'* का अर्थ है—समाज और *'लोगस'* का शास्त्र। इस प्रकार 'समाजशास्त्र' (Sociology) का शाब्दिक अर्थ समाज का शास्त्र या समाज का विज्ञान है। **जॉन स्टुअर्ट मिल** ने 'Sociology' के स्थान पर 'इथोलॉजी' (Ethology) शब्द को प्रयुक्त किया और कहा कि 'Sociology' दो भिन्न भाषाओं की एक अवैध सन्तान है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से **हरबर्ट स्पेन्सर** (Herbert Spencer) ने समाज के क्रमबद्ध अध्ययन का प्रयत्न किया और अपनी पुस्तक का नाम 'सोशियोलॉजी' रखा। सोशियोलॉजी (Sociology) शब्द की उपयुक्तता के सम्बन्ध में आपने लिखा है कि प्रतीकों की सुविधा एवं सूचकता उनकी उत्पत्ति सम्बन्धी वैधता से अधिक महत्त्वपूर्ण है। स्पष्ट है कि शाब्दिक दृष्टि से **समाजशास्त्र का अर्थ समाज (सामाजिक सम्बन्धों) का व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध ढंग से अध्ययन करने वाले विज्ञान से है।**

जब हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि **समाजशास्त्र क्या है** तो विभिन्न समाजशास्त्रियों के दृष्टिकोणों में भिन्नता देखने को मिलती है, लेकिन इतना अवश्य है कि अधिकांश समाजशास्त्री समाजशास्त्र को **'समाज का विज्ञान'** मानते हैं। समाजशास्त्र का अर्थ स्पष्ट करने की दृष्टि से विभिन्न विद्वानों ने समय-समय पर विचार व्यक्त किए हैं। उनके द्वारा दी गई **समाजशास्त्र की परिभाषाओं को प्रमुखत: निम्नलिखित चार भागों में बाँटा जा सकता है—**

1. समाजशास्त्र समाज के अध्ययन के रूप में।
2. समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन के रूप में।
3. समाजशास्त्र समूहों के अध्ययन के रूप में।
4. सामाजशास्त्र सामाजिक अन्त:क्रियाओं के अध्ययन के रूप में।

अब इनमें से प्रत्येक पर हम यहाँ विचार करेंगे।

1. समाजशास्त्र समाज के अध्ययन के रूप में (Sociology as a Study of Society)

गिडिंग्स, समनर, वार्ड आदि ने समाजशास्त्र को एक ऐसे विज्ञान के रूप में परिभाषित करने का प्रयत्न किया जो सम्पूर्ण समाज का एक समग्र इकाई के रूप में अध्ययन कर सके।

वार्ड (Ward) के अनुसार, "समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है।"

गिडिंग्स (Giddings) के अनुसार, "समाजशास्त्र समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है तथा समाजशास्त्र समाज का एक समग्र इकाई के रूप में व्यवस्थित वर्णन एवं व्याख्या है।"

ओडम (Odum) के अनुसार, "समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो समाज का अध्ययन करता है।" इन परिभाषाओं के आधार पर स्पष्ट है कि समाजशास्त्र समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है।

अत: स्पष्ट है कि **समाजशास्त्र के अन्तर्गत मानव समाज का अध्ययन किया जाता है। जी० डंकन मिचेल** (G. Duncan Mitchell) के अनुसार, "समाजशास्त्र मानव समाज के संरचनात्मक पक्षों (Structural Aspects) का विवरणात्मक एवं विश्लेषणात्मक शास्त्र है।"

2. समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन के रूप में (Sociology as a Study of Social Relations)

जहाँ कुछ विद्वानों ने समाजशास्त्र को समाज का विज्ञान माना है, वहीं कुछ अन्य ने इसे सामाजिक सम्बन्धों का व्यवस्थित अध्ययन कहा है, लेकिन समाज के विज्ञान और सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन में कोई अन्तर नहीं है। इसका कारण यह है कि सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था को ही समाज के नाम से पुकारा गया है। समाजशास्त्र को सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन मानने वाले कुछ प्रमुख विद्वानों की परिभाषाएँ अग्र प्रकार हैं—

मैकाइवर तथा **पेज** (MacIver and Page) के अनुसार, "समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के विषय में है, सम्बन्धों के इसी जाल को हम समाज कहते हैं।" आपने अन्यत्र लिखा है, "सामाजिक सम्बन्ध मात्र समाजशास्त्र की विषय-वस्तु है।"
क्यूबर (J.F. Cuber) के अनुसार, "समाजशास्त्र को मानव सम्बन्धों (Human relationships) के वैज्ञानिक ज्ञान की शाखा के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।"
मैक्स वेबर (Max Weber) के अनुसार, "समाजशास्त्र प्रधानत: सामाजिक सम्बन्धों तथा कृत्यों का अध्ययन है।" इसी प्रकार के विचारों को व्यक्त करते हुए **वॉन वीज** (Von Wiese) ने लिखा है, "सामाजिक सम्बन्ध ही समाजशास्त्र की विषय-वस्तु का एकमात्र वास्तविक आधार है।"
आरनोल्ड एम० रोज (Arnold M. Rose) के अनुसार, "समाजशास्त्र मानव सम्बन्धों का विज्ञान है।"
उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र एक ऐसा विज्ञान है जो सामाजिक सम्बन्धों का व्यवस्थित अध्ययन करता है। सामाजिक सम्बन्धों के जाल को ही समाज कहा गया है। मनुष्य पारस्परिक जागरूकता (Mutual Awareness) और सम्पर्क (Contact) के आधार पर विभिन्न व्यक्तियों एवं समूहों के साथ अगणित सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करता है। जब अनेक व्यक्ति और समूह विभिन्न इकाइयों के रूप में एक-दूसरे के साथ सम्बन्धित हो जाते हैं, तब इन सम्बन्धों के आधार पर जो कुछ बनता है, वही 'समाज' (Society) कहलाता है। ऐसे समाज या सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन समाजशास्त्र के अन्तर्गत किया जाता है।

3. समाजशास्त्र समूहों के अध्ययन के रूप में (Sociology as a Study of Groups)

नोब्स, हाइन तथा **फ्लेमिंग** के अनुसार, "समाजशास्त्र समूहों में लोगों का वैज्ञानिक और व्यवस्थित अध्ययन है।" इसका तात्पर्य है कि समाजशास्त्र व्यवहार के उन प्रतिमानों की ओर ध्यान देता है जो संगठित समुदायों में रहने वाले लोगों में पाए जाते हैं।
जॉन्सन (Johnson) ने समाजशास्त्र को सामाजिक समूहों का अध्ययन माना है। जॉन्सन के शब्दों में, "समाजशास्त्र सामाजिक समूहा का विज्ञान है ..... सामाजिक समूह सामाजिक अन्त:क्रियाओं की ही एक व्यवस्था है।" सामाजिक समूह का अर्थ जॉन्सन के अनुसार केवल व्यक्तियों के समूह से नहीं होकर व्यक्तियों के मध्य उत्पन्न होने वाली अन्त:क्रियाओं की व्यवस्था से है। विभिन्न व्यक्ति जब एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं तो उनमें सामाजिक अन्त:क्रिया उत्पन्न होती है और इन्हीं अन्त:क्रियाओं के आधार पर समूह बनते हैं। समाजशास्त्र सामाजिक अन्त:क्रियाओं के आधार पर बनने वाले ऐसे सामाजिक समूहों का अध्ययन ही है। जॉन्सन ने समाजशास्त्र में उन्हीं सामाजिक सम्बन्धों को महत्त्व दिया है जो सामाजिक अन्त:क्रियाओं के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं। स्पष्ट है कि समूह के निर्माण में सामाजिक अन्त:क्रियाएँ आधार के रूप में हैं और इन्हीं के आधार पर बनने वाले सामाजिक समूहों का अध्ययन समाजशास्त्र में किया जाता है।
सामाजिक समूहों के अध्ययन का समाजशास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति समूह में रहता है तथा उसकी विभिन्न गतिविधियों में भाग लेता है और अपनी आश्यकताओं या लक्ष्यों की पूर्ति करता है। वह परिवार-समूह, नाते-रिश्तेदारों के समूह, जाति-समूह और खेल-कूद के साथियों के समूह, पड़ोस-समूह, विद्यालय-समूह, व्यावसायिक समूह, धार्मिक समूह एवं राजनीतिक दल में भाग लेता है और यहीं उसका विकास होता है। इनमें से प्रत्येक समूह सामाजिक अन्त:क्रियाओं की एक व्यवस्था है, अत: जब हम समाजशास्त्र में सामाजिक समूहों का अध्ययन करते हैं तो अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक अन्त:क्रियाओं के व्यवस्थित अध्ययन के महत्त्व को भी स्वीकार करते हैं।

4. समाजशास्त्र सामाजिक अन्त:क्रियाओं के अध्ययन के रूप में (Sociology as a Study of Social Interactions)

कुछ समाजशास्त्री समाजशास्त्र को सामाजिक अन्त:क्रियाओं के अध्ययन के रूप में परिभाषित करते हैं। इनकी मान्यता है कि सामाजिक सम्बन्धों के स्थान पर सामाजिक अन्त:क्रियाएँ समाज का वास्तविक आधार हैं। सामाजिक सम्बन्धों की संख्या अधिक होने के कारण इसका अध्ययन किया जाना बहुत कठिन है। अत: समाजशास्त्र में सामाजिक अन्त:क्रियाओं का अध्ययन किया जाना चाहिए। अत:क्रिया (Interaction) का तात्पर्य दो या दो से अधिक व्यक्तियों या समूहों का जागरूक अवस्था में एक-दूसरे के सम्पर्क में आना और एक-दूसरे के व्यवहारों को प्रभावित करना है। सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण का आधार अन्त:क्रिया ही है। यही कारण है कि **समाजशास्त्र को सामाजिक अन्त:क्रियाओं का विज्ञान भी माना गया है।**
गिलिन और **गिलिन** (Gillin and Gillin) के अनुसार, "व्यापक अर्थ में समाजशास्त्र व्यक्तियों के एक-दूसरे के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली अन्त:क्रियाओं का अध्ययन कहा जा सकता है।"

गिन्सबर्ग (Ginsberg) के अनुसार, "समाजशास्त्र मानवीय अन्त:क्रियाओं और अन्त:सम्बन्धों, उनकी दशाओं और परिणामों का अध्ययन है।"

जॉर्ज सिमेल (George Simmel) के अनुसार, "समाजशास्त्र मानवीय अन्त:सम्बन्धों के स्वरूपों का विज्ञान है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र सामाजिक अन्त:क्रियाओं का विज्ञान है। इसके अतिरिक्त **कुछ अन्य विद्वानों ने समाजशास्त्र को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है—**

मैक्स वेबर (Max Weber) के अनुसार, "समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक क्रिया (Social Action) का विश्लेषणात्मक बोध कराने का प्रयत्न करता है।" वेबर के अनुसार सामाजिक क्रियाओं को समझे बिना समाजशास्त्र को समझना कठिन है। इसका कारण यह है कि जहाँ समाजशास्त्र में सामाजिक सम्बन्धों एवं सामाजिक अन्त:क्रियाओं का विशेष महत्त्व है, वहाँ सामाजिक क्रियाओं को समझे बिना इन दोनों को नहीं समझा जा सकता है, क्योंकि अन्त:क्रियाओं का निर्माण सामाजिक क्रियाओं से ही होता है। अत: मैक्स वेबर ने समाजशास्त्र में सामाजिक क्रियाओं को समझने पर विशेष जोर दिया है। समाजशास्त्र में सामाजिक क्रिया के अध्ययन को **टालकट पारसन्स** ने भी अत्यधिक महत्त्व दिया है। पारसन्स के अनुसार सम्पूर्ण सामाजिक संरचना, सामाजिक सम्बन्धों, समाज तथा सामाजिक व्यवस्था को 'क्रिया' की धारणा के माध्यम से ही स्पष्ट किया जा सकता है।

सोरोकिन (Sorokin) के अनुसार, "समाजशास्त्र सामाजिक-सांस्कृतिक प्रघटनाओं के सामान्य स्वरूपों, प्रकारों और अनेक अन्तर्सम्बन्धों का सामान्य विज्ञान है।" सोरोकिन ने स्पष्ट किया है कि समाजशास्त्र समाज के उन पहलुओं का अध्ययन करता है जो आवर्तक (Recurrent), स्थायी और सार्वभौमिक हैं और जो प्रत्येक सामाजिक विज्ञान की विषय-वस्तु से सम्बन्धित हैं, किन्तु फिर भी कोई सामाजिक विज्ञान उनका विशेष रूप से अध्ययन नहीं करता।"

अपने व्यापक रूप में **समाजशास्त्र समाज व्यवस्था** (Social System) **का अध्ययन करने वाला विज्ञान है।** समाज व्यवस्था में सामाजिक प्रक्रिया, सामाजिक सम्बन्ध, सामाजिक नियन्त्रण, सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक संस्थाएँ तथा इनसे सम्बन्धित प्रभाव एवं परिस्थितियाँ आती हैं। अन्य शब्दों में, समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो समाज व्यवस्था से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों का अध्ययन करता है।

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं के आधार पर स्पष्ट है कि **समाजशास्त्र सम्पूर्ण समाज का एक समग्र इकाई के रूप में अध्ययन करने वाला विज्ञान है। इसमें सामाजिक सम्बन्धों का व्यवस्थित अध्ययन किया जाता है। सामाजिक सम्बन्धों को विधिवत समझने हेतु सामाजिक क्रिया, सामाजिक अन्त:क्रिया एवं सामाजिक मूल्यों के अध्ययन पर इसमें विशेष बल दिया जाता है।**

प्र.2. समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र से आप क्या समझते हैं? विस्तार से समझाइए।

***अथवा* स्वरूपात्मक तथा समन्वयात्मक सम्प्रदाय का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।**

उत्तर

समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र
(Scope of Sociology)

इंकल्स के अनुसार "समाजशास्त्र परिवर्तनशील समाज का अध्ययन करता है, इसलिए समाजशास्त्र के अध्ययन की न तो कोई सीमा निर्धारित की जा सकती है और न ही इसके अध्ययन क्षेत्र को बिल्कुल स्पष्ट रूप से परिभाषित किया जा सकता है।" क्षेत्र का तात्पर्य यह है कि वह विज्ञान कहाँ तक फैला हुआ है। अन्य शब्दों में क्षेत्र का अर्थ उन सम्भावित सीमाओं से है जिनके अन्तर्गत किसी विषय या विज्ञान का अध्ययन किया जा सकता है। समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र के सम्बन्ध में विद्वानों के मतों को मुख्यत: दो भागों में बाँटा जा सकता है—1. **स्वरूपात्मक अथवा विशिष्टात्मक सम्प्रदाय** (Formalistic or Specialistic or Particularistic School), तथा 2. **समन्वयात्मक सम्प्रदाय** (Synthetic School)। प्रथम मत या विचारधारा के अनुसार समाजशास्त्र एक विशेष विज्ञान है और द्वितीय विचारधारा के अनुसार समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है। इनमें से प्रत्येक विचारधारा का वर्णन निम्नलिखित है—

1. स्वरूपात्मक सम्प्रदाय (Formalistic School)

स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के प्रवर्तक **जॉर्ज सिमेल** है इसके समर्थकों में **वीरकान्त मैक्सवेबर, वॉनवीज टॉनीज, बोगल, रॉस, पार्क एवं बर्गस** आदि नाम उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों के अनुसार, समाजशास्त्र एक **स्वतन्त्र, शुद्ध तथा विशिष्ट विज्ञान है।** इसका मुख्य उद्देश्य सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन करना है। इस सम्प्रदाय को मानने वाले समाजशास्त्रियों का कहना है कि यदि समाजशास्त्र को सम्पूर्ण समाज का एक सामान्य अध्ययन बनाने का प्रयास किया गया तो वैज्ञानिक आधार पर ऐसा करना असम्भव है। इस प्रकार समाजशास्त्र के अन्तर्गत सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन न करके इन सम्बन्धों के विशिष्ट स्वरूपों का अध्ययन करना चाहिए। इसे स्वरूपात्मक सम्प्रदाय इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इसमें सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपात्मक पक्ष पर जोर दिया गया है। स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के स्पष्टीकरण में कुछ समाजशास्त्रियों के विचारों का वर्णन अग्रलिखित है—

1. **जॉर्ज सिमेल** (George Simmel) के अनुसार, "समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन है। उनका मानना है कि यदि अन्य विज्ञानों की भाँति समाजशास्त्र भी सामाजिक सम्बन्धों की अन्तर्वस्तु का अध्ययन करने लगा तो यह एक विशिष्ट ज्ञान नहीं बन सकेगा। इस प्रकार समाजशास्त्र को सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन करना चाहिए। उन्होंने सामाजिक सम्बन्धों को दो रूपों में विभाजित किया है—(i) स्वरूप, (ii) अन्तर्वस्तु।
सिमेल का कथन है कि सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन समाजशास्त्र तथा अन्तर्वस्तु का अध्ययन दूसरे विज्ञान करते हैं। **उदाहरण के लिए**, दो बाल्टी रखी हुई हैं जिनमें से एक में तेल और दूसरी में सिरका भरा जा सकता है। तेल और शराब की बाल्टी के स्वरूप पर और इनके स्वरूप का बाल्टियों की अन्तर्वस्तु (सिरका एवं तेल) पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। बाल्टी का आकार या बनावट उसका स्वरूप है और उसमें भरा हुआ तेल और सिरका उसकी अन्तर्वस्तु है। अत: सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूप एवं अन्तर्वस्तु में भी भिन्नता पाई जाती है तथा वे परस्पर प्रभावित नहीं करते हैं। सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूप में सहयोग, अनुकरण, प्रतिस्पर्धा आदि को शामिल करते हैं जिनका अध्ययन समाजशास्त्र करता है। समाजशास्त्र के अन्तर्गत सामाजिक सम्बन्धों के वे स्वरूप जो विभिन्न अन्तर्वस्तुओं यथा—दलों, आर्थिक संघ, राजनीतिक संघ आदि में पाए जाते हैं, का अध्ययन समाजशास्त्र में नहीं किया जा सकता है। इनका राजनीतिशास्त्र एवं अर्थशास्त्र में अध्ययन किया जाता है। इसलिए समाजशास्त्र को केवल सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन करना चाहिए न कि अन्तर्वस्तु का, सामाजिक सम्बन्धों की अन्तर्वस्तु का अध्ययन अन्य सामाजिक विज्ञानों में किया जाता है।
2. **मैक्स वेबर** (Max Weber) के अनुसार, समाजशास्त्र को मात्र सामाजिक क्रियाओं का ही अध्ययन करना चाहिए तथा इसके अतिरिक्त अन्य सभी सामाजिक व्यवहारों को अस्वीकार करना चाहिए। वेबर का सामाजिक व्यवहारों से तात्पर्य सभी सामाजिक सम्बन्धों (Social relationship) से नहीं है। सामाजिक व्यवहार वही है जिनमें सामाजिक क्रिया हो। इस प्रकार वेबर के अनुसार सामाजिक क्रिया अर्थपूर्ण होती है और साथ ही दूसरों के व्यवहारों से प्रभावित होती है। सामाजिक क्रियाओं का आधार व्यवहार है। समाजशास्त्र का कार्य इन्हीं क्रियाओं का अध्ययन करना है। वेबर का मत है कि यदि समाजशास्त्र में सभी सम्बन्धों का अध्ययन किया जाएगा, तो विषय के नियमों में अनुभवों एवं तर्क का अभाव होगा तथा साथ ही इसका क्षेत्र अस्पष्ट और असीमित हो जाएगा। इस प्रकार सामाजिक सम्बन्धों का निश्चित सीमा में ही अध्ययन करना चाहिए। वेबर के अनुसार, समाजशास्त्र में केवल क्रिया का ही अध्ययन करना चाहिए।
3. **वॉन विज** (Von-Wiese) के अनुसार, समाजशास्त्र का क्षेत्र मात्र सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन तक ही सीमित रहना चाहिए, तथा वॉन विज ने समाजशास्त्र के क्षेत्र को अत्यधिक संकुचित कर दिया है। आपके अनुसार, समाजशास्त्र एक विशिष्ट सामाजिक विज्ञान है जो कि मानवीय सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन है और इसका यही विशिष्ट क्षेत्र है।
4. **वीरकान्त** (Veerkant) समाजशास्त्र को एक विशिष्ट विज्ञान बनाने के पक्ष में थे। आपके अनुसार, "समाजशास्त्र उन मानसिक या मन सम्बन्धी स्वरूपों का अध्ययन है जो कि मनुष्यों को परस्पर जोड़ते हैं।" समाजशास्त्र प्रेम, लज्जा, स्नेह, समर्पण, सहयोग, संघर्ष आदि भावनात्मक मानसिक पहलुओं का अध्ययन करता है। सामाजिक सम्बन्ध इन्हीं के आधार पर बनते हैं और इन्हीं सम्बन्धों के आधार पर समाज का निर्माण होता है। इस प्रकार समाजशास्त्र में केवल मानसिक या भावनात्मक तत्त्वों या सम्बन्धों के स्वरूपों का ही अध्ययन करना चाहिए।

स्वरूपात्मक सम्प्रदाय की आलोचना (Criticism of Formalistic School)

स्वरूपात्मक सम्प्रदाय की विभिन्न आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं—

1. समाजशास्त्र को इस सम्प्रदाय के समर्थक दूसरे सभी सामाजिक विज्ञानों से अलग एक स्वतन्त्र एवं नवीन विज्ञान बनाने का मत रखते हैं। परन्तु यह मानना सम्भव नहीं है, क्योंकि सभी सामाजिक विज्ञान परस्पर निर्भर होते हैं।
2. इस सम्प्रदाय के अनुसार किसी अन्य विज्ञान के द्वारा सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन नहीं किया जा सकता है। इसलिए समाजशास्त्र को इसका (सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का) अध्ययन एक नवीन विज्ञान के रूप में करना चाहिए। ऐसा मानना सही नहीं होगा, क्योंकि सामाजिक सम्बन्धों के कुछ ऐसे स्वरूप; जैसे—प्रभुत्व, सत्ता, शक्ति, स्वामित्व, आज्ञा पालन, दासता, संघर्ष आदि का अध्ययन कानून शास्त्र में किया जाता है।

3. इस सम्प्रदाय में स्वरूप एवं अन्तर्वस्तु में भेद किया गया है और इन्हें एक-दूसरे से भिन्न माना गया है। जबकि इन्हें एक-दूसरे से अलग करना सम्भव नहीं है। सोरोकिन के अनुसार, "हम एक गिलास को शराब, पानी या शक्कर से बिना उसके स्वरूप को बदले हुए भर सकते हैं, परन्तु मैं सामाजिक संस्था के विषय में कल्पना भी नहीं कर सकता कि उसका स्वरूप उसके सदस्यों के बदल जाने के बाद परिवर्तित नहीं होगा।"
4. समाजशास्त्र को स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के समाजशास्त्री एक नवीन विज्ञान मानते हैं, इसके अध्ययन क्षेत्र को सीमित रखते हैं। यदि ऐसा किया जाए तो सामाजिक जीवन के अनेक पक्ष समाजशास्त्र में नहीं शामिल होंगे। ऐसी स्थिति में समाजशास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त सीमित स्पष्ट होता है। जो विषय के विकास की दृष्टि से अनुपयुक्त है।
5. आलोचकों का कहना है कि इस सम्प्रदाय के समर्थकों के अनुसार समाजीकरण के स्वरूपों और सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों में कोई भिन्नता नहीं है तथा दोनों एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। जबकि वास्तविकता यह नहीं है क्योंकि सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों में असमाजीकरण के स्वरूप भी मौजद हैं।

2. समन्वयात्मक सम्प्रदाय (Synthetic School)

इस सम्प्रदाय के प्रमुख समर्थकों के अन्तर्गत **सोरोकिन, दुर्खीम, हॉबहाउस** आदि आते हैं। इन समाजशास्त्रियों के अनुसार, समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है न कि एक विशिष्ट विज्ञान। इस दृष्टि से विद्वानों ने दो तर्क दिए हैं—

1. **प्रथम तर्क**—समाज का प्रत्येक भाग सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक सभी परस्पर सम्बन्धित हैं। यदि किसी एक भाग में परिवर्तन होता है तो उसका प्रभाव सम्पूर्ण समाज पर पड़ता है। अत: समाज को समझने के लिए उसकी विभिन्न इकाइयों या अंगों के अन्तर्सम्बन्ध को समझना अत्यन्त आवश्यक है। यह कार्य तभी सम्भव है जब समाजशास्त्र को एक सामान्य विज्ञान बनाकर इसके क्षेत्र को काफी व्यापक बनाया जाए। दूसरे शब्दों में, समाजशास्त्र के क्षेत्र को केवल सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता बल्कि इसे तो सम्पूर्ण समाज का सामान्य अध्ययन करना है। इस अध्ययन को अन्य सामाजिक विज्ञान; जैसे—राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि अधिक समृद्ध बना सकते हैं। समाज केवल इन पक्षों पर आधारित ही नहीं है बल्कि इनके पारस्परिक सम्बन्ध से सामाजिक जीवन में पूर्णता भी आती है। इस प्रकार समाजशास्त्र को सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का सामान्य ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।
2. **द्वितीय तर्क**—समाजशास्त्र को एक सामान्य विज्ञान बनाने के पक्ष में एक यह भी तर्क दिया गया है कि प्रत्येक सामाजिक विज्ञान में समाज के किसी एक ही पक्ष का अध्ययन किया जाता है; जैसे—अर्थशास्त्र में समाज के एक पक्ष अर्थात् आर्थिक जीवन का ही अध्ययन किया जाता है, इसी प्रकार राजनीतिशास्त्र द्वारा राजनीतिविज्ञान का ही अध्ययन किया जाता है। सामाजिक विज्ञान में ऐसा कोई भी विषय नहीं है जो सामाजिक जीवन के सभी भागों का या सम्पूर्ण समाज का व्यापक रूप में अध्ययन करता हो।

अत: समाजशास्त्र को एक सामान्य विज्ञान के रूप में सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का अध्ययन कार्य करना है जिससे समाज की वास्तविक प्रकृति को समझा जाए। इसी आधार पर यह समन्वयात्मक सम्प्रदाय कहा जाता है।
समन्वयात्मक सम्प्रदाय के प्रति अनेक विद्वानों के मत निम्न प्रकार हैं—

1. **दुर्खीम** (Durkheim) के अनुसार, "समाजशास्त्र सामूहिक प्रतिनिधित्व का विज्ञान है।" आप समाजशास्त्र के क्षेत्र में 'सामूहिक प्रतिनिधानों' को शामिल करते हैं। सामाजिक अन्त:क्रिया के माध्यम से समाज में विद्यमान अनेक विचार एवं धारणाएँ व्यक्तिगत चेतना के परस्पर प्रभाव के कारण स्पष्ट हो जाती हैं। यह विचार एवं धारणाएँ लोगों के सामाजिक जीवन में स्पष्ट भी होने लगती हैं क्योंकि समाज के अधिकांश सदस्यों द्वारा इन्हें अपना लिया जाता है जिससे ये सामाजिक प्रतीकों के रूप में विकसित होते हैं। इस प्रकार ये विचार एवं धारणाएँ समाज के अधिकांश सदस्यों द्वारा स्वीकार किए जाने के कारण समस्त समूह के भिन्न-भिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसीलिए दुर्खीम समाजशास्त्र के क्षेत्र में सामूहिक प्रतिनिधानों को शामिल करते हैं।
2. **सोरोकिन** (Sorokin) के अनुसार, "यदि सामाजिक घटनाओं को वर्गों में विभाजित किया जाए और विशेष सामाजिक विज्ञान प्रत्येक वर्ग का अध्ययन करे तो इन विशेष सामाजिक विज्ञानों के अतिरिक्त एक ऐसे विज्ञान की आवश्यकता होगी जो सामान्य एवं विभिन्न विज्ञानों के सम्बन्धों का अध्ययन करे।" **सोरोकिन** के अनुसार प्रत्येक सामाजिक विज्ञान पूर्णत: स्वतन्त्र नहीं है। प्रत्येक सामाजिक विज्ञान किसी-न-किसी रूप में दूसरे पर निर्भर रहता है। क्योंकि प्रत्येक विषय द्वारा सामाजिक विज्ञान के किसी एक पक्ष का ही अध्ययन किया जाता है। जबकि विभिन्न घटनाएँ पारस्परिक ढंग से एक दूसरे

को प्रभावित करती हैं। कारणवश एक ऐसे विज्ञान की आवश्यकता है जो अलग-अलग विज्ञानों के परिणामों में समन्वय स्थापित कर सके जिससे पूर्ण समाज का अध्ययन किया जा सके। समाजशास्त्र विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्धों या उनके सामान्य तत्त्वों का अध्ययन करता है। सोरोकिन ने अपने विचार को निम्नलिखित तरीके से समझाने का प्रयास किया है—

सम्बन्ध	व्याप्त तत्त्व
आर्थिक सम्बन्ध	a, b, c, d, e, f
राजनीतिक सम्बन्ध	a, b, c, g, h, i
धार्मिक सम्बन्ध	a, b, c, j, k, l
वैधानिक सम्बन्ध	a, b, c, m, n, o
मनोरंजनात्मक सम्बन्ध	a, b, c, p, q, r

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है, कि घटना की प्रकृति चाहे राजनैतिक, आर्थिक, किसी भी प्रकार की हो; प्रत्येक में कुछ सामान्य तत्त्व अवश्य मौजूद हैं; जैसे—a, b, c। ऐसी घटनाएँ सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलुओं में समान हैं। समाजशास्त्र को इन्हीं सामान्य तत्त्वों या पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन करना है। अत: समाजशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र सामान्य होना चाहिए और इसे प्रत्येक पहलू का अध्ययन करना चाहिए।

3. **वार्ड** (Ward) के अनुसार, जब रसायनशास्त्र में दो तत्त्वों के मिश्रण से एक तत्त्व बनता है और उसका अध्ययन रसायनशास्त्र करता है, ठीक उसी प्रकार समाजशास्त्र ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का मात्र समन्वय है। समाज के निर्माण में सहायक समूह एवं संस्थाएँ परस्पर सम्बन्धित होती हैं। यही कारण है, कि किसी एक में हुए परिवर्तन का प्रभाव दूसरों पर भी पड़ता है। इसी प्रकार समाजशास्त्र में अलग-अलग सामाजिक विज्ञानों से प्राप्त मुख्य विचारों का समन्वय एवं अध्ययन करना चाहिए।

समन्वयात्मक सम्प्रदाय की आलोचना (Criticism of Synthetic School)

समन्वयात्मक सम्प्रदाय के विरुद्ध निम्नलिखित तर्क दिए गए हैं—

1. समाजशास्त्र का एक सामान्य विज्ञान होने की स्थिति में उसका स्वतनत्र अध्ययन क्षेत्र नहीं होगा। ऐसी स्थिति में इसे अन्य विज्ञानों पर निर्भर होना पड़ेगा।
2. यदि समाजशास्त्र में सभी प्रकार के सामाजिक तथ्यों एवं घटनाओं का अध्ययन किया जाने लगा तो वह किसी भी विषय का पूर्ण और वैधता के साथ अध्ययन नहीं कर सकेगा।
3. समाजशास्त्र यदि अन्य सामाजिक विज्ञानों का मात्र संकलन होगा। ऐसी स्थिति में इसकी स्वयं की कोई स्वतन्त्र पद्धति न हो सकेगी।

प्र.3. समाजशास्त्र में मानविकी उन्मुखीकरण का अर्थ एवं परिभाषा स्पष्ट कीजिए तथा मानविकी उन्मुखीकरण के उपागमों का वर्णन कीजिए।

उत्तर

समाजशास्त्र में मानविकी उन्मुखीकरण का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Humanistic Orientation in Sociology)

समाजशास्त्रीय अध्ययनों में वैज्ञानिक उन्मुखीकरण को मानवीय उन्मुखीकरण महत्त्वपूर्ण नहीं मानता है। इसके अनुसार वस्तुनिष्ठ आधार पर सामाजिक यथार्थता को नहीं समझा जा सकता है। यह दृष्टिकोण वस्तुनिष्ठता पर बल न देकर, व्यक्तिनिष्ठता पर बल देता है। मानवीय उन्मुखीकरण के विद्वानों ने समाज को रहने वाले लोगों के मूल्यों, दृष्टिकोणों तथा क्रियाओं में निहित अर्थ के माध्यम से जानने या समझने का प्रयास करते हैं। समाजशास्त्रीय अध्ययन में उपयोग किया जाने वाला यह परिप्रेक्ष्य या विधि जिसमें शोधकर्ता सामाजिक घटनाओं को मानव पर केन्द्रित कर या मानवीय सन्दर्भ में समझता है, मानवीय **उन्मुखीकरण, विधा या उन्मेषण** कहलाता है।

दूसरे शब्दों में, समाजशास्त्र को विज्ञान की श्रेणी के अतिरिक्त मानवीय ज्ञान के रूप में समझना भी आवश्यक है। कुछ समाजशास्त्री सिर्फ समाजशास्त्र को विज्ञान के रूप में स्पष्ट करते हैं लेकिन कुछ मानविकी समाजशास्त्र को भी परिभाषित करते हैं क्योंकि समाज को समझने के लिए मानवीय क्रियाओं और व्यवहारों को भी समझना होगा; जैसे—किसी परिवार के कुछ नियमों

से हम उस परिवार की सांस्कृतिक, सामाजिक स्थिति पता कर लेते हैं, ठीक इसी प्रकार हम मानवीय व्यवहार से समाज की संरचना और क्रियाओं को समझ सकते हैं।

मानविकी समाजशास्त्र में वस्तुओं के साथ विषयपरकता को भी ध्यान में रखा जाता है। इसमें माना गया कि तथ्यों की निष्पक्षता के बजाय यदि हम अवलोकन करें तो हम वास्तविकता के करीब पहुँच सकते हैं।

समाज में मानवीय समाजशास्त्री व्यक्ति वही कहा जाता है जो सामाजिक सुधार हेतु समाजशास्त्र का प्रयोग करता है या समाज को न्याय संगत व अधिक समतावादी बनाने में समाजशास्त्र का उपयोग करता है। एक मानवीय समाजशास्त्री मानव की दुर्दशा, विशेषत: शोषित व्यक्तियों के प्रति चिन्तन करता है। वह इन व्यक्तियों के लिए स्वयं को समर्पित करता है।

मानविकी उन्मुखीकरण के उपागम (Approaches of Human Orientation)

समाजशास्त्र को विज्ञान के अतिरिक्त मानवीय क्रियाओं के द्वारा भी समझना आवश्यक है। इसके लिए निम्न कुछ उपागम महत्त्वपूर्ण हैं—

1. **प्रघटनाशास्त्र**—इसका विकास **एडमण्ट हुसर्ल** (Edmunt Husserl) और उनके शिष्य **शूट्ज** ने किया। इसके अन्तर्गत हम समाज में होने वाली घटनाओं के अध्ययन में अपने विचारों और सूचनाओं को सम्मिलित करते हैं।
   समाजविज्ञान विश्वकोश के मतानुसार, "प्रघटनाशास्त्र दर्शनशास्त्र की एक विधि है जिसका प्रारम्भ व्यक्ति से होता है तथा व्यक्ति को अपने अनुभव द्वारा जो अर्जित होता है उसे इसमें संयोजित किया जाता है। इसका अर्थ है कि अध्ययन की यह प्रणाली अनेक घटनाओं की प्रकृति तथा शोधकर्ता को आपस में जुड़ा हुआ न मानकर उन्हें एक दूसरे से अलग मानता है।
2. **अमूल परिवर्तनवाद**—इस उपागम के अन्तर्गत हमें समाज के कमजोर एवं शोषित वर्गों का अध्ययन कर उनकी स्थिति में सुधार लाना है।
   रेडिकल समाजशास्त्रियों के अनुसार, संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम यह मानकर चलता है कि सामाजिक ढाँचे के सभी भागों के अपने निर्धारित प्रकार्य होते हैं और इन पर बल देने से सामाजिक जीवन संगठित रहता है। इसके विपरीत वर्तमान की बदलती हुई परिस्थितियों में सामाजिक संरचना में परिवर्तन लाकर ही एक ऐसे समाज का निर्माण किया जा सकता है जो सभी प्रकार के पक्षपात तथा शोषण से स्वतन्त्र हो। इसका आशय यह है कि रेडिकल उपागम की जड़ें संघर्ष से जुड़ी हुई हैं। जिन समाजों में कई वर्षों से सांस्कृतिक और राजनैतिक आधार पर अनेक समूहों के मध्य भिन्नता करने का प्रचलन रहा है उनमें इस पद्धति के द्वारा ही मानवतावादी व्यवस्थाओं को मजबूत किया जा सकता है।
3. **प्रतीकात्मक अन्त:क्रियावाद**—इसके प्रतिपादक हरबर्टब्लूमर हैं जबकि इस उपागम को **मीड** ने विकसित किया है। इसमें व्यक्ति समाज में अपने विचारों और व्यवहारों को प्रतीकों के माध्यम से समझता है। मानव मुख्यत: प्रतीक प्रयोगकर्ता प्राणी है। वह अपने शरीर, चरित्र, भावना और सामाजिक दुनिया को जिस प्रणाली से महत्त्व प्रदान करके जीता है, उस प्रणाली का अध्ययन इस उपागम का मुख्य विषय है। **उदाहरण के लिए,** हमारे विषय में जैसा लोगों द्वारा सोच-विचार और अनुभव किया जाता है, उन्हीं के अनुसार हमारे सामाजिक सम्बन्धों और क्रियाओं का स्वरूप निर्धारित होता है। **कूले** तथा **मीड़** ने इसी विचार को स्वयं के सम्पूर्ण समाजशास्त्रीय विश्लेषण का आधार माना है।
4. **लोकपद्धतिशास्त्र**—इसका प्रयोग सबसे पहले **हैराल्ड गारफिन्डेल** ने किया। यह अमेरिका के रहने वाले थे। जीवन जीने के तरीकों में दिन-प्रतिदिन जिन नियमों का हम उपयोग करते हैं वह लोकपद्धतिशास्त्र कहलाता है।
   गारफिंकल के अनुसार, लोकपद्धतिशास्त्र अध्ययन का विशेष तरीका है। इसके द्वारा यह समझने का प्रयास किया जाता है कि भिन्न-भिन्न लोग लोक पद्धति स्वपरिधि की घटनाओं को किस दृष्टि से देखते हैं तथा उसके विषय में किस प्रकार सोचते-विचारते हैं तथा एक विशिष्ट अर्थ लगाते हैं। इस अध्ययन हेतु व्यक्तियों द्वारा दिन-प्रतिदिन के जीवन में जिन तरीकों का प्रयोग किया जाता है वह अध्ययन इस (लोकपद्धति) शास्त्र के अन्तर्गत आता है।
   समाजशास्त्री इस उपागम का प्रयोग व्यक्तियों के जीवन जीने के तरीके, सामान्य ज्ञान का अध्ययन करने के लिए करते हैं। **एन्थोनी गिडेन्स** ने अपनी पुस्तक **'द कॉन्स्टीट्यूशन ऑफ सोसाइटी'** (1984) में लोकपद्धति को बहुत व्यवस्थित तथा क्रमबद्ध ढंग से प्रयुक्त करने का प्रयास किया।

इस प्रकार समाजशास्त्र मानविकी इन उपागमों का प्रयोग कर समाज के दैनिक जीवन में व्यक्तियों की मानवीय क्रियाओं तथा व्यवहारों का अध्ययन करता है।

प्र.4. भारत में समाजशास्त्र की विकास-यात्रा पर संक्षिप्त विवेचना कीजिए।

उत्तर

भारत में समाजशास्त्र का विकास
(Development of Sociology in India)

भारत में समाजशास्त्र के विकास को तीन युगों में बाँटा जा सकता है—

1. प्राचीन भारत में समाजशास्त्र का विकास
(Development of Sociology in Ancient India)

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों—वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, गीता, स्मृतियों आदि में सामाजिक चिन्तन का व्यवस्थित रूप देखने को मिलता है। इन ग्रन्थों में उस समय सामाजिक व्यवस्था काफी उन्नत प्रकार की थी और जीवन के आवश्यक मूल्यों पर गहन चिन्तन प्रारम्भ हो चुका था। उस समय वर्णाश्रम व्यवस्था व्यक्ति और समाज के जीवन को किस प्रकार संचालित कर रही थी। यह व्यवस्था व्यक्ति और समाज के बीच सुन्दर समन्वय का एक उत्तम उदाहरण है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थ जीवन के चार प्रमुख उद्देश्य थे, जिन्हें प्राप्त करने के लिए व्यक्ति प्रयत्नशील रहता था और अपने व्यक्तित्व का विकास करते हुए समाज-जीवन को उन्नत बनाने में योग देता था। उस समय के चिन्तक इस बात से परिचित थे कि केवल भौतिकता और व्यक्तिवादिता के आधार पर व्यक्ति के जीवन को पूर्णता प्रदान नहीं की जा सकती। अत: उन्होंने आध्यात्मवाद का सहारा लिया, धर्म के आधार पर व्यक्ति के आचरण को निश्चित करने का प्रयत्न किया। यह सम्पूर्ण सामाजिक चिन्तन समाजशास्त्र के विकास की दृष्टि से अमूल्य सामग्री है।

कौटिल्य (चाणक्य) के अर्थशास्त्र, शुक्राचार्य के नीतिशास्त्र, मनु की मनुस्मृति, मुगल काल में लिखी गई आईन-ए-अकबरी आदि ग्रन्थों से पता चलता है कि उस समय सामाजिक व्यवस्था कैसी थी, किस प्रकार के रीति-रिवाज, सामाजिक प्रथाएँ, परम्पराएँ और आचरण सम्बन्धी आदर्श-नियम प्रचलित थे। इन ग्रन्थों के अध्ययन से उस समय की समाज-व्यवस्था को समझने और उसमें समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों को जानने में सहायता मिलती है। उदाहरण के रूप में, मनुस्मृति में सामाजिक ज्ञान भरा पड़ा है। इसमें वर्ण, जाति, विवाह, परिवार, राज्य, धर्म आदि पर गम्भीरता से विचार किया गया। इस ग्रन्थ ने समाज के भावी स्वरूप को निर्धारित करने में काफी योग दिया। प्राचीन ग्रन्थों का समाजशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन करने की दिशा में प्रो० विनयकुमार सरकार, प्रो० बृजेन्द्रनाथ, डॉ० भगवानदास एवं प्रो० केवल मोतवानी ने महत्त्वपूर्ण योग दिया। वर्तमान में आवश्यकता इस बात की है कि प्राचीन भारतीय विचारों पर समाजशास्त्रीय दृष्टि से चिन्तन और मनन किया जाए। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि वैदिक काल से ही भारत में समाजशास्त्र के विकास की परम्परा प्रारम्भ हो चुकी थी, यद्यपि मध्यकाल में यहाँ सामाजिक व्यवस्थाओं के अध्ययन पर ध्यान दिया गया।

2. भारत में समाजशास्त्र का औपचारिक प्रतिस्थापन युग
(Formal Replacement Era of Sociology in India)

भारत में, समाजशास्त्र एक नवीन विज्ञान है। यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यूरोप में समाजशास्त्र का एक व्यवस्थित विषय के रूप में विकास प्रारम्भ हो चुका था, परन्तु भारत में बीसवीं शताब्दी के पहले तक ऐसा कोई विज्ञान नहीं था जो समाज का सम्पूर्णता में अध्ययन करे। पश्चिम के देशों में समाजशास्त्र का विकास तेजी से होता जा रहा था। ऐसी दशा में भारतीयों का ध्यान भी भारत में समाजशास्त्र को एक विषय के रूप में विकसित करने की ओर गया। परिणामस्वरूप यहाँ समाजशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन का कार्य प्रारम्भ हुआ। सन् 1914 से 1947 तक का काल भारत में समाजशास्त्र का औपचारिक प्रतिस्थापन युग कहा जा सकता है।

यहाँ सर्वप्रथम सन् 1914 में बम्बई विश्वविद्यालय में स्नातक स्तर पर समाजशास्त्र का अध्ययन-कार्य प्रारम्भ हुआ। यहीं सन् 1919 में ब्रिटिश समाजशास्त्री प्रो० पैट्रिक गेडिस की अध्यक्षता में समाजशास्त्र विभाग की स्थापना हुई और समाजशास्त्र की स्नातकोत्तर कक्षाएँ शुरू की गईं। सन् 1917 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्रो० बृजेन्द्रनाथ शील के प्रयत्नों से अर्थशास्त्र विषय के साथ समाजशास्त्र का अध्ययन-कार्य प्रारम्भ किया गया। डॉ० राधाकमल मुकर्जी, विनय कुमार, डॉ० डी०एन० मजूमदार तथा प्रो० निर्मल कुमार बोस जैसे प्रतिभाशाली विद्वान डॉ० बृजेन्द्रनाथ शील के ही विद्यार्थी थे जिन्होंने आगे चलकर समाजशास्त्र के विकास में काफी योग दिया। सन् 1921 में लखनऊ विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र विभाग के अन्तर्गत समाजशास्त्र को मान्यता अवश्य दी गई, परन्तु इस विषय का अध्ययन अर्थशास्त्र विषय के अन्तर्गत ही किया जाने लगा। यहाँ देश के प्रमुख विद्वान **डॉ० राधाकमल मुकर्जी** को समाजशास्त्र का विभागाध्यक्ष नियुक्त किया गया। सन् 1924 में प्रो० पैट्रिक गेडिस के बाद उन्हीं के शिष्य

और देश-विदेश में जाने-माने समाजशास्त्री **डॉ० जी०एस० घुरिये** को बम्बई विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के विभागाध्यक्ष का पद सुशोभित करने का अवसर मिला। **प्रो० राधाकमल मुकर्जी** और **डॉ० जी०एस० घुरिये** का भारत में समाजशास्त्र के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। मैसूर विश्वविद्यालय में सन् 1923 में स्नातक कक्षाओं में इस विषय को पढ़ाया जाने लगा। इस वर्ष आन्ध्र विश्वविद्यालय में भी समाजशास्त्र को एक विषय के रूप में मान्यता प्रदान की गई। सन् 1930 में पूना विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र विभाग प्रारम्भ हुआ और श्रीमती **इरावती कर्वे** ने विभागाध्यक्ष का पद सँभाला। धीरे-धीरे देश के कुछ अन्य विश्वविद्यालयों में भी समाजशास्त्र को बी०ए० तथा एम०ए० के पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर लिया गया। सन् 1947 के पूर्व तक देश में समाजशास्त्र के विकास की गति काफी धीमी रही, परन्तु इस काल में यहाँ समाजशास्त्र की नींव अवश्य पड़ चुकी थी। इतना अवश्य है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व तक कहीं समाजशास्त्र अर्थशास्त्र के साथ तो कहीं मानवशास्त्र या दर्शनशास्त्र के साथ जुड़ा रहा और एक स्वतन्त्र विषय के रूप में मान्यता प्राप्त नहीं कर सका।

3. स्वतन्त्र भारत में समाजशास्त्र का व्यापक प्रसार युग (Great Extention Era of Sociology in Independent India)

सन् 1947 में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से यह युग प्रारम्भ होता है। इस युग में समाजशास्त्र को देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में एक व्यवस्थित स्वतन्त्र विषय के रूप में मान्यता प्राप्त हुई तथा इसके अध्ययन-अध्यापन की ओर लोगों का ध्यान गया। वर्तमान में देश में आधे से अधिक विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र विभाग की स्थापना हो चुकी है। वर्तमान में मुम्बई, कोलकाता, लखनऊ, मैसूर, आन्ध्र, पूना, वडोदरा, गुजरात, पटना, भागलपुर, गोरखपुर, दिल्ली, जबलपुर, पंजाब, नागपुर, राजस्थान, जोधपुर, उदयपुर, अजमेर, इन्दौर, जीवाजी, भोपाल, रायपुर, राँची, काशी विद्यापीठ, कुमाऊँ, रुहेलखण्ड, बुन्देलखण्ड, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, रविशंकर, मेरठ, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, मद्रास, कानपुर आदि विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र विभागों की स्थापना हो चुकी है। इनके अतिरिक्त देश के अनेक राजकीय एवं अराजकीय महाविद्यालयों में भी बी०ए० और एम०ए० स्तर पर समाजशास्त्र का अध्ययन कार्य चल रहा है। वर्तमान में इस विषय की लोकप्रियता एवं उपयोगिता तेजी के साथ बढ़ती जा रही है। अनेक विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र से सम्बन्धित शोध-कार्य भी चल रहे हैं। इसके अतिरिक्त समाजशास्त्र के विकास की दृष्टि से अनेक शोध संस्थान भी स्थापित किए गए हैं।

❑

TOUCH 'n' PASS

UNIT-II

समाजशास्त्र एवं अन्य सामाजिक विज्ञान

खण्ड-अ अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. समाज विज्ञान (समाजशास्त्र) से क्या आशय है?

उत्तर सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन करने वाले समाज विज्ञान (समाजशास्त्र) को सामान्य सामाजिक विज्ञान कहा जाता है।

प्र.2. विज्ञानों को प्रमुखतः कितनी श्रेणियों में बाँटा गया है?

उत्तर विज्ञानों को प्रमुखत: दो श्रेणियों में बाँटा गया है—(i) प्राकृतिक विज्ञान (Natural Science) तथा (ii) सामाजिक विज्ञान (Social Science)।

प्र.3. प्राकृतिक विज्ञानों के अन्तर्गत आने वाले मुख्य विज्ञानों के नाम बताइए तथा इनके अन्तर्गत किसका अध्ययन किया जाता है?

उत्तर प्राकृतिक विज्ञानों के अन्तर्गत मुख्यत: भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, जीवशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र आदि विज्ञान आते हैं। प्राकृतिक विज्ञानों के अन्तर्गत भौतिक जगत या उससे सम्बन्धित घटनाओं का अध्ययन किया जाता है।

प्र.4. सामाजिक विज्ञानों के अन्तर्गत किन-किन विषयों का अध्ययन किया जाता है?

उत्तर सामाजिक विज्ञानों के अन्तर्गत मानवशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र तथा मनोविज्ञान आदि विषयों का अध्ययन किया जाता है। सामाजिक विज्ञानों में विशेषकर मानवीय क्रियाओं, समाज और सामाजिक घटनाओं का अध्ययन किया जाता है।

प्र.5. समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र के बीच घनिष्ठ सम्बन्धों के परिणामस्वरूप किस नवीन शाखा का विकास हुआ?

उत्तर समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र के बीच घनिष्ठ सम्बन्धों के परिणामस्वरूप **राजनीतिक समाजशास्त्र** (Political Sociology) नामक नवीन शाखा का विकास हुआ।

प्र.6. समाजशास्त्र के अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ सम्बन्धों को बार्न्स एवं बेकर ने किस प्रकार परिभाषित किया है?

उत्तर बार्न्स एवं बेकर के अनुसार, "समाजशास्त्र न तो अन्य सामाजिक विज्ञानों की गृहस्वामिनी है और न ही उनकी दासी, बल्कि केवल उनकी बहन है।

प्र.7. समाजशास्त्र एवं अर्थशास्त्र के सम्बन्धों को स्पष्ट करते हुए सिल्वरमैन द्वारा दी गई परिभाषा लिखिए।

उत्तर इन दोनों शास्त्रों के सम्बन्धों के बारे में सिल्वरमैन ने लिखा है कि सामान्य कार्यों या लक्ष्यों के लिए इसे (अर्थशास्त्र) समाजशास्त्र नामक पितृ विज्ञान (Parent Science) की, जो सभी सामाजिक सम्बन्धों के सामान्य सिद्धान्तों का अध्ययन करता है, एक शाखा माना जा सकता है।

प्र.8. समाजशास्त्र और इतिहास में कोई एक भेद बताइए।

उत्तर इतिहास एक विशेष विज्ञान है जिसका सम्बन्ध ऐतिहासिक घटनाओं से है। समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है जिसका सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धों से है।

प्र.9. समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के सम्बन्धों का उल्लेख करते हुए कीसिंग द्वारा दी गई परिभाषा लिखिए।

उत्तर कीसिंग के अनुसार, "मानवशास्त्र और समाजशास्त्र के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है, दोनों प्रबल रूप से समूह-व्यवहार के वैज्ञानिक सामान्यीकरणों से सम्बन्धित हैं।"

TOUCH 'n' PASS

प्र.10. समाजशास्त्र और मनोविज्ञान के बीच कोई एक भेद बताइए।

उत्तर मनोविज्ञान का सम्बन्ध व्यक्ति की मानसिक प्रक्रियाओं से है, व्यक्ति-व्यवस्था से है जबकि समाजशास्त्र का सम्बन्ध, सामाजिक प्रक्रियाओं एवं सामाजिक व्यवस्था से है।

खण्ड-ब लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. समाजशास्त्र एवं राजनीति विज्ञान के मध्य पाए जाने वाले सम्बन्धों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

समाजशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र
(Sociology and Political Science)

समाजशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। कुछ समय पूर्व तक राज्य और समाज में कोई भेद नहीं किया जाता था और इसी कारण समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र एक ही विषय के अन्तर्गत आते थे। 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में राज्य और समाज में अन्तर किया जाने लगा तथा राज्य का अध्ययन राजनीतिशास्त्र के द्वारा और समाज, परिवार, धर्म एवं कानून आदि का समाजशास्त्र के द्वारा किया जाने लगा।

राजनीतिशास्त्र की रुचि, प्रमुखत: सत्ता (Power) के अध्ययन में है। इस शास्त्र के द्वारा राज्य तथा राजकीय प्रशासन के अध्ययन पर विशेष जोर दिया जाता है। राजनीतिशास्त्र संगठित मानव सम्बन्धों (राजनीतिक सम्बन्धों) का अध्ययन करता है और ये सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धों का ही एक अंग है। **गार्नर** ने लिखा है कि राजनीतिशास्त्र केवल एक ही प्रकार के मानव सम्बन्ध, राज्य से सम्बन्धित है जबकि समाजशास्त्र सब प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों से। व्यक्ति का राजनीतिक जीवन और सामाजिक जीवन एक-दूसरे से इतना घुला-मिला है कि न तो राजनीतिशास्त्र के द्वारा और न ही समाजशास्त्र के द्वारा उसका पूर्णता से अध्ययन किया जा सकता है। दोनों शास्त्रों के लिए एक-दूसरे का सहयोग अत्यन्त आवश्यक है। दोनों ही एक-दूसरे के ज्ञान का उपयोग अपने-अपने क्षेत्र में करते हैं। **गिडिंग्स** ने लिखा है कि प्रत्येक राजनीतिशास्त्री, समाजशास्त्री और प्रत्येक समाजशास्त्री राजनीतिशास्त्री होता है। आपके अनुसार **समाजशास्त्र के प्राथमिक सिद्धान्तों से अपरिचित लोगों को राज्य के सिद्धान्तों को पढ़ाना उसी प्रकार बेकार है जिस प्रकार ऐसे व्यक्तियों को ज्योतिष** (Astronomy **पढ़ाना, जिन्होंने न्यूटन के सिद्धान्त** (Law of Motion) **को नहीं सीखा हो।** कहने का तात्पर्य यह है कि राजनीतिशास्त्र के प्रारम्भिक सिद्धान्तों को समझने के लिए समाजशास्त्रीय ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। ये दोनों शास्त्र एक-दूसरे पर काफी निर्भर हैं। **गिलक्राइस्ट** ने बताया है कि राजनीतिशास्त्र में हमें मानव सम्बन्धों के उन तथ्यों और सिद्धान्तों को अवश्य ही ग्रहण करना होगा जिनका अध्ययन और प्रतिपादन करना समाजशास्त्र का दायित्व है। समाजशास्त्र व्यक्ति को सामाजिक प्राणी और राजनीतिशास्त्र उसे अच्छा नागरिक बनाने का प्रयत्न करता है। वर्तमान में तो इन दोनों शास्त्रों का सम्बन्ध इतना बढ़ गया है कि परिणामस्वरूप समाजशास्त्र की एक नवीन शाखा **राजनीतिक समाजशास्त्र'** (Political Sociology) का विकास हुआ है। पिछले करीब पचास वर्षों में समाजशास्त्री राजनीतिक व्यवहार सम्बन्धी अनुसन्धानों में विशेष रुचि लेने लगे हैं। अब राजनीतिज्ञ-वैज्ञानिक का ध्यान भी इस ओर गया है।

समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में काफी आदान-प्रदान होता है। राजनीतिशास्त्र मनुष्य को एक राजनीतिक प्राणी मानता है, परन्तु वह राजनीतिक प्राणी क्यों और कैसे बना, यह जानकारी समाजशास्त्र ही प्रदान करता है। **बार्न्स** ने इन दोनों शास्त्रों में आदान-प्रदान के सम्बन्धों को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि **समाजशास्त्र तथा आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त के सम्बन्ध में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि राजनीतिक सिद्धान्त में पिछले तीस वर्षों में होने वाले अधिकांश परिवर्तन समाजशास्त्र द्वारा सुझाए गए और बताए गए मार्ग या ढंग के अनुसार हुए हैं।** अब तो समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों एवं पद्धतियों का राजनीतिशास्त्र में काफी प्रयोग होने लगा है। वास्तव में राजनीतिक व्यवहार को समझने के लिए, उदाहरण के रूप में मतदान-प्रतिमान या मतदान-व्यवहार को जानने के लिए सामाजिक तथ्यों, विभिन्न सामाजिक संस्थाओं; जैसे—जाति प्रणाली, संयुक्त परिवार प्रणाली, वर्ग-भेद, स्त्रियों की स्थिति आदि के सम्बन्ध में जानकारी आवश्यक है। प्रामाणिक आधार पर यह जानकारी हमें समाजशास्त्र से ही मिल सकती है। सामाजिक व्यवस्था और संगठन पर राज्य के कार्यों का काफी प्रभाव पड़ता है। राज्य के द्वारा पारित कानून प्रथाओं, रूढ़ियों, संस्थाओं और मूल्यों को काफी प्रभावित करते हैं। हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 तथा अनेक अन्य अधिनियमों ने सामाजिक जीवन और लोगों के व्यवहार को अनेक रूपों में प्रभावित किया है। **गिलक्राइस्ट** के शब्दों में हम कह सकते हैं कि दोनों विज्ञानों की यथार्थ सीमाओं को दृढ़ता के साथ परिभाषित नहीं किया जा सकता। वे कभी-कभी एक-दूसरे की सीमा में प्रवेश करते हैं, लेकिन (फिर भी दोनों में) उनमें स्पष्ट सामान्य भेद है।

प्र.2. समाजशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र के मध्य पाए जाने वाले अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में अन्तर
(Differences between Sociology and Political Science)

समाजशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र के मध्य पाए जाने वाले अन्तर निम्न प्रकार हैं—

क्र०सं०	समाजशास्त्र	राजनीतिशास्त्र
1.	यह संगठित तथा विसंगठित दोनों प्रकार के सम्बन्धों का अध्ययन करता है।	राजनीतिशास्त्र मात्र समाज की उन संगठित स्थितियों/दशाओं का अध्ययन करता है जिन पर राजनैतिक जीवन की स्पष्ट छाप होती है।
2.	समाजशास्त्र का परिप्रेक्ष्य अधिक विस्तृत है।	इसका परिप्रेक्ष्य तुलनात्मक रूप से सीमित है।
3.	समाजशास्त्र तुलनात्मक रूप से अधिक प्रायोगिक है।	यह समाजशास्त्र की तुलना में कम प्रायोगिक है।
4.	इसमें सिद्धान्तों तथा सामान्यीकरण का निर्माण किया जाता है।	प्राय: राजनैतिक अध्ययनों में कोई सिद्धान्त परिपक्व नहीं हो पाया है।
5.	समाजशास्त्र इस कथन की पुष्टि करता है कि व्यक्ति एक राजनैतिक प्राणी क्यों बना?	यह इस साधारण तथ्य को स्पष्ट करता है कि व्यक्ति एक राजनैतिक प्राणी है।
6.	समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है।	राजनीतिशास्त्र एक विशिष्ट विज्ञान है।
7.	समाजशास्त्र जीवन के सामान्य पक्ष का अध्ययन करता है।	राजनीतिशास्त्र जीवन के एक विशिष्ट पक्ष का अध्ययन करता है।
8.	समाजशास्त्र कई संस्थाओं, जिनमें सरकार भी शामिल है, के पारस्परिक सम्बन्धों पर बल देता है।	राजनीतिशास्त्र सरकार के भीतर चलने वाली क्रियाओं के अध्ययन पर बल देता है।
9.	समाजशास्त्र सामाजिक नियन्त्रण के औपचारिक एवं अनौपचारिक साधनों अर्थात् सभी प्रकार के अध्ययन में रुचि रखता है; जैसे—धर्म, जाति और जनमत।	राजनीतिशास्त्र उन औपचारिक साधनों के अध्ययन में रुचि रखता है, जिन्हें राज्य की सहमति प्राप्त है; जैसे—कानून।

खण्ड-स विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. समाजशास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानों के सम्बन्ध में कुछ विद्वान विचारकों के विचारों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।

उत्तर समाजशास्त्र के अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ सम्बन्धों के बारे में कुछ प्रमुख विद्वानों के विचारों का वर्णन निम्नलिखित है—

1. **ऑगस्ट कॉम्ट के विचार**—फ्रेंच विद्वान ऑगस्ट कॉम्ट ने समाजशास्त्र के अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ किसी भी प्रकार के सम्बन्ध को अस्वीकार किया है। कॉम्ट ने अन्य सामाजिक विज्ञानों के अस्तित्व को ही नहीं माना है। कॉम्ट के अनुसार समाज एक समग्रता है और इस कारण सामाजिक प्रघटनाओं को अलग-अलग भागों में विभाजित नहीं किया जा सकता है। अत: एक ही विज्ञान के द्वारा उसका पूर्णता में अध्ययन किया जाना चाहिए। इस कार्य को अकेला समाजशास्त्र ही कर सकता है। कोई भी अन्य सामाजिक विज्ञान समाज के किसी एक विशेष पहलू का अध्ययन करके समाज के सम्बन्ध में किसी वास्तविक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकता। केवल समाजशास्त्र ही समाज का समग्र रूप में वैज्ञानिक अध्ययन करके सामाजिक जीवन और विभिन्न सामाजिक प्रघटनाओं के सम्बन्ध में प्रामाणिक जानकारी करा सकता है।
2. **सोरोकिन के विचार**—समाजशास्त्री सोरोकिन ने समाजशास्त्र को विशेष या स्वतन्त्र विज्ञान नहीं मानकर एक सामान्य विज्ञान माना है। सोरोकिन के अनुसार, समाजशास्त्र सामाजिक जीवन की सामान्य घटनाओं का अध्ययन करने वाला विज्ञान है। इसके द्वारा सामाजिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाता है। अध्ययन-सामग्री की दृष्टि से समाजशास्त्र अन्य विज्ञानों से सहायता प्राप्त करता है। साथ ही यह शास्त्र विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने और उन्हें पूर्णता प्रदान करने में योग देता है। इनकी मान्यता है कि समाजशास्त्र और अन्य सामाजिक विज्ञानों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। ये एक-दूसरे के काफी कुछ लेते-देते हैं, अत: ये परस्पर निर्भर रहते हैं।

3. **वार्ड के विचार**—अमेरिकन समाजशास्त्री वार्ड समाजशास्त्र को एकमात्र सामाजिक विज्ञान नहीं मानते (कॉम्ट की भाँति) और न ही ये इसे अन्य सामाजिक विज्ञानों का समन्वय मात्र समझते हैं (स्पेन्सर की भाँति)। वार्ड समाजशास्त्र को अन्य सामाजिक विज्ञानों के समान एवं स्वतन्त्र विज्ञान मानते हैं, इसे समानता का दर्जा प्रदान करते हैं। वार्ड की मान्यता है कि समाजशास्त्र विशेष सामाजिक विज्ञानों का समन्वय नहीं है बल्कि उनसे मिलकर बना एक मिश्रण है। यह ठीक उसी प्रकार का एक मिश्रण है जिस प्रकार से कई रासायनिक पदार्थ मिलकर एक नए रसायन (मिश्रण) का निर्माण करते हैं। विभिन्न सामाजिक विज्ञान समाजशास्त्र की निर्मायक इकाइयाँ हैं।
4. **गिडिंग्स के विचार**—अमेरिकन समाजशास्त्री गिडिंग्स ने समाजशास्त्र को समाज का समग्र रूप में या सम्पूर्ण समाज का अध्ययन करने वाला विज्ञान माना है। गिडिंग्स ने समाजशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र को काफी विशाल एवं विस्तृत माना है। इनके अनुसार समाजशास्त्र न तो अन्य सामाजिक विज्ञानों का योग है और न ही समन्वय। इसका तो अपना एक पृथक् दृष्टिकोण है, अलग विषय-सामग्री एवं अध्ययन-क्षेत्र है।
5. **स्पेन्सर के विचार**—ब्रिटिश समाजशास्त्री हरबर्ट स्पेन्सर समाजशास्त्र को एक स्वतन्त्र विज्ञान नहीं मानकर विभिन्न सामाजिक विज्ञानों का समन्वय मानते हैं। इन्होंने समाज के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करने वाले सभी सामाजिक विज्ञानों; जैसे—अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, इतिहास आदि के अस्तित्व और महत्त्व को स्वीकार किया है। इनके अनुसार विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के परिणामों (निष्कर्षों) को समाजशास्त्र ही समाज के एक सामान्य सिद्धान्त के रूप में समन्वित करता है।

विद्वानों के उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र और अन्य सामाजिक विज्ञानों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। **बार्न्स** एवं **बेकर** का यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि **"समाजशास्त्र न तो अन्य सामाजिक विज्ञानों की गृहस्वामिनी है और न ही उनकी दासी, बल्कि केवल उनकी बहन है।"**

प्र.2. समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के बीच पाए जाने वाले सम्बन्धों तथा अन्तरों का वर्णन कीजिए।

उत्तर

समाजशास्त्र और मानवशास्त्र
(Sociology and Anthropology)

सामाजिक मानवशास्त्र और समाजशास्त्र एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। सम्बन्धों की इसी घनिष्ठता के कारण इनमें कोई स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना सम्भव नहीं है। **इवान्स प्रिचार्ड** की तो मान्यता है कि सामाजिक मानवशास्त्र को समाजशास्त्रीय अध्ययनों की एक शाखा माना जा सकता है, वह शाखा जो प्रमुखत: अपने को आदिम समाजों के अध्ययन में लगाती है। जब लोग समाजशास्त्र शब्द का प्रयोग करते हैं तो साधारणतया उनके मस्तिष्क में सभ्य समाजों की विशिष्ट समस्याओं के अध्ययन होते हैं। **कीसिंग** ने लिखा है कि सामाजिक मानवशास्त्र और समाजशास्त्र के बीच निकट सम्बन्ध है, दोनों प्रबल रूप से समूह-व्यवहार के वैज्ञानिक सामान्यीकरणों से सम्बन्धित हैं। **क्रोबर** ने समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के बीच पाए जाने वाले घनिष्ठ सम्बन्धों के आधार पर ही इन्हें जुड़वाँ बहनें माना है। मानवशास्त्र के तीन भागों—भौतिक मानवशास्त्र, प्रागैतिहासिक मानवशास्त्र तथा सामाजिक मानवशास्त्र में से समाजशास्त्र सामाजिक मानवशास्त्र के अत्यन्त निकट हैं।

दोनों ही विज्ञानों के द्वारा समाजों का अध्ययन किया जाता है। इतना अवश्य है कि सामाजिक मानवशास्त्र के द्वारा विशेषत: आदिम समाजों (Primitive Societies) का अध्ययन किया जाता है, जबकि समाजशास्त्र के द्वारा आधुनिक जटिल सभ्य समाजों का। सामाजिक मानवशास्त्र में समाजों का उनकी सम्पूर्णता में अध्ययन किया जाता है। सामाजिक मानवशास्त्री आदिम लोगों की अर्थव्यवस्था का, उनके परिवार और नातेदारी संगठनों का, उनकी प्रौद्योगिकी (Technology) तथा कलाओं का सामाजिक व्यवस्थाओं के भागों के रूप में अध्ययन करता है। दूसरी ओर समाजशास्त्री पृथक्-पृथक् समस्याओं का; जैसे—विवाह-विच्छेद, वेश्यावृत्ति, अपराध, श्रमिक-असन्तोष आदि का अध्ययन करता है।

सामाजिक मानवशास्त्री सरल और छोटे आदिम समाजों का अध्ययन कर समाजशास्त्री को आधुनिक जटिल सभ्य समाजों को समझने में सहायता पहुँचाता है। **क्लूखौन** के अनुसार मानवशास्त्र व्यक्ति के सामने ऐसा दर्पण प्रस्तुत करता है जिसमें वह अपने को अपनी असंख्य (असीमित) विविधता में देख सकते हैं। स्पष्ट है कि मानवशास्त्री समाजशास्त्री को मानव की प्रकृति को अधिक उत्तमता के साथ समझने में योग देता है। समाजशास्त्री आधुनिक जटिल समाजों में विशिष्ट समस्याओं का अध्ययन कर मानवशास्त्री के लिए अनेक उपकल्पनाएँ प्रस्तुत करता है। विस्तृत अर्थों में समाजशास्त्र मानव समाजों के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक

ज्ञान का एक सामान्य पुंज है। सैद्धान्तिक ज्ञान के इस पुंज का आदिम सामाजिक जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। समाजशास्त्र के सैद्धान्तिक ज्ञान का उपयोग आदिम सामाजिक जीवन को अधिक उत्तमता के साथ समझने में किया जाता है। दुर्खीम ने अपने समाजशास्त्रीय अध्ययनों के द्वारा सामाजिक घटनाओं की तह या मूल में पाए जाने वाले सामाजिक कारण को ढूँढ़ निकाला। आपने विविध घटनाओं का कारण स्वयं समाज को माना है।

संस्कृति के विज्ञान के रूप में मानवशास्त्र समाजशास्त्र के काफी निकट है। किसी भी समाज के सम्बन्ध में यथार्थ जानकारी प्राप्त करने के लिए उस समाज की संस्कृति को समझना अत्यन्त आवश्यक है और इसके लिए समाजशास्त्र को मानवशास्त्र से सहायता लेनी होगी। साथ ही मानवशास्त्र को संस्कृति की उत्पत्ति और विकास को जानने के लिए समाजशास्त्र द्वारा अध्ययन की जाने वाली सामाजिक अन्त:क्रियाओं एवं सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था से परिचित होना पड़ेगा। संस्कृति के विकास में योग देने वाले कारकों की जानकारी समाजशास्त्र ही करता है। समाजशास्त्र सामाजिक अन्त:क्रियाओं का अध्ययन करता है और इन अन्त:क्रियाओं के परिणामस्वरूप ही किसी समाज की संस्कृति की उत्पत्ति और विकास होता है। स्पष्ट है कि दोनों विज्ञान एक-दूसरे पर काफी निर्भर हैं। **बॉटोमोर** ने भारत के सन्दर्भ में समाजशास्त्र एवं मानवशास्त्र के बीच पाए जाने वाले घनिष्ठ सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि भारतीय समाज न तो आदिम समाजों के समान पूरी तरह से पिछड़ा हुआ है और न ही औद्योगिक समाजों के समान पूर्णत: विकसित। ऐसे समाजों में, जिनका कि भारत एक ज्वलन्त उदाहरण है, समाजशास्त्र व मानवशास्त्र के मध्य अधिक अन्तर कोई अर्थ नहीं रखता है। भारत में समाजशास्त्रीय अन्वेषण, चाहे वे जाति-व्यवस्था से सम्बन्धित हों, ग्राम-समुदायों से अथवा औद्योगीकरण की विधि तथा उसके प्रभाव आदि से, समाजशास्त्रियों या मानवशास्त्रियों द्वारा किए जाते हैं तथा किए जाने चाहिए। इस प्रकार बॉटोमोर ने इन दोनों विषयों के बीच किसी प्रकार के विभाजन को अनावश्यक माना है।

समाजशास्त्र और मानवशास्त्र में अन्तर
(Differences between Sociology and Anthropology)

समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के मध्य निम्नलिखित अन्तर हैं—

क्र०सं०	समाजशास्त्र	मानवशास्त्र
1.	समाजशास्त्र प्रमुखत: वर्तमान सभ्य समाज का अध्ययन करता है।	मानवशास्त्र मुख्यत: प्राचीन समाज का अध्ययन करता है।
2.	इसमें सामाजिक सांख्यिकीय अनुमापन तथा सर्वेक्षण पद्धतियों का विशेष महत्त्व है।	मानवशास्त्र में अध्ययन हेतु सहभागी अवलोकन का मुख्य महत्त्व है।
3.	समाजशास्त्र का दृष्टिकोण/नजरिया सामाजिक है।	मानवशास्त्र का दृष्टिकोण/नजरिया मानवशास्त्री है।
4.	समाजशास्त्र एक विशुद्ध विज्ञान है।	मानवशास्त्र एक व्यावहारिक विज्ञान है।
5.	यह समाजशास्त्रीय समस्याओं का अध्ययन कर उनके कारणों को ज्ञात करता है और उनके समाधान हेतु उपाय भी बताता है।	सामाजिक मानवशास्त्रीय तटस्थ है वह प्राय: किसी प्रकार का प्रस्ताव सुझाव नहीं देता है।
6.	समाजशास्त्र के अन्तर्गत समाज और इसकी उत्पत्ति एवं विकास (सामाजिक वर्ग, संस्थान और संरचनाओं, सामाजिक आन्दोलन) पर बल दिया जाता है।	मानवशास्त्र के अन्तर्गत संस्कृति और सामाजिक विशेषताओं (नातेदारी, भाषा, धर्म, लिंग, कला आदि) पर बल दिया जाता है।
7.	यह वृहत स्तर पर ध्यान केन्द्रित करता है और यह अध्ययन करता है कि किस प्रकार वृहत समाज और सामाजिक प्रवृत्तियाँ व्यक्तियों, प्रत्येक परिवार और समुदाय को प्रभावित करती हैं।	यह सूक्ष्म स्तर पर ध्यान केन्द्रित करता है और यह अध्ययन करता है कि कैसे व्यक्ति, परिवार और समुदाय वृहत समाज और सामाजिक प्रवृत्तियों के साथ जुड़ते हैं।
8.	इसका प्रयोग समकालीन सामाजिक समस्याओं को हल करने के लिए किया जाता है।	मानवशास्त्र विभिन्न संस्कृतियों को समझने के लिए प्रयोग किया जाता है।
9.	समाजशास्त्री अनुसन्धान में गुणात्मक और मात्रात्मक दोनों पद्धतियों का उपयोग करते हैं।	मानवशास्त्री, मानव-जाति विज्ञान (एक गुणात्मक शोध पद्धति) का उपयोग करके अनुसन्धान करते हैं।

प्र.3. समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान के बीच पाए जाने वाले सम्बन्धों एवं अन्तर का वर्णन कीजिए।

उत्तर

समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान
(Sociology and Psychology)

समाजशास्त्र और मनोविज्ञान एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। सामाजिक मनोविज्ञान ने तो समाजशास्त्र और मनोविज्ञान को और भी निकट ला दिया है। **मनोविज्ञान** को मस्तिष्क या मानसिक प्रक्रियाओं का विज्ञान माना गया है। जिस प्रकार समाजशास्त्र का केन्द्रीय विषय समाज और सामाजिक व्यवस्था है, उसी प्रकार मनोविज्ञान का केन्द्रीय विषय व्यक्तित्व (Personality) है। मनोविज्ञान की रुचि व्यक्ति में है, न कि उसकी सामाजिक परिस्थितियों में। यह शास्त्र मानसिक तत्त्वों; जैसे—ध्यान, कल्पना, स्नायु प्रणाली, बुद्धि, भावना, स्मृति, मस्तिष्क की स्वाभाविकता एवं विकृति आदि का अध्ययन करता है। इस शास्त्र के द्वारा मनुष्य के मानसिक विचारों एवं अनुभवों का अध्ययन एवं विश्लेषण किया जाता है। मनोविज्ञान प्रमुखत: व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन करता है; इसमें उन मानसिक प्रक्रियाओं; जैसे—संवेगों (Emotions), प्रेरकों (Motives), चालकों (Drives), प्रत्यक्ष बोध (Perception), बोधीकरण (Congnition), सीखना (Learning) आदि का अध्ययन किया जाता है जो व्यक्ति को एक निश्चित प्रकार से व्यवहार करने के लिए प्रोत्साहित करती हैं। व्यक्ति में ये मानसिक प्रक्रियाएँ संगठित रूप में एक निश्चित प्रतिमान का निर्माण करती हैं जिसे व्यक्तित्व कहते हैं। व्यक्तित्व व्यवस्था का अध्ययन करना मनोविज्ञान का प्रमुख कार्य है। **समाजशास्त्र** सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन है। इसमें सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक प्रक्रियाओं, समूहों, संस्थाओं, प्रथाओं, परम्पराओं, सामाजिक मूल्यों, सामाजिक संरचना, सामाजिक परिवर्तन आदि का अध्ययन किया जाता है। इन्हीं से मिलकर सामाजिक परिस्थिति बनती है। समाजशास्त्र व्यक्ति के बजाय प्रमुखत: इसी सामाजिक परिस्थिति का अध्ययन करता है।

मनोविज्ञान और समाजशास्त्र का सम्बन्ध व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध के साथ जुड़ा हुआ है। व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध के बारे में तीन प्रकार के दृष्टिकोण या मत पाए जाते हैं—(i) प्रथम मत के मानने वाले समाज के बजाय व्यक्ति को ज्यादा महत्त्व एवं प्राथमिकता देते हैं। फ्रायड तथा जे०एस० मिल इस मत के मानने वालों में प्रमुख हैं। इन्होंने वैयक्तिक इच्छाओं, संवेगों एवं उद्देश्यों को सामाजिक सम्बन्धों एवं संस्थाओं का आधार माना है। समाज के बजाय व्यक्ति को प्रधानता देने के कारण ही ये विद्वान मनोविज्ञान को प्रमुख विज्ञान और समाजशास्त्र को उसकी एक शाखा मानते हैं। (ii) द्वितीय मत के मानने वाले व्यक्ति के बजाय समाज को अधिक महत्त्व एवं प्राथमिकता देते हैं। इस मत के समर्थकों में आगस्ट कॉम्ट एवं दुर्खीम आदि प्रमुख हैं। इन्होंने समाज का आधार व्यक्ति को न मानकर उनके बीच होने वाली अन्तर्क्रियाओं को माना है। इन्होंने व्यक्ति से पृथक समाज की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकर किया है। वे तो व्यक्ति को समाज की देन मात्र मानते हैं। समाज को प्रधानता देने के कारण ही ये मनोविज्ञान के बजाय समाजशास्त्र को प्रमुख विज्ञान मानते हैं। इनके अनुसार मनोविज्ञान समाजशास्त्र की एक शाखा मात्र है। (iii) तृतीय मत के मानने वाले न तो व्यक्ति को और न ही समाज को एक-दूसरे की तुलना में अधिक महत्त्व और प्राथमिकता देते हैं। इस मत के अन्तर्गत उपर्युक्त दोनों मतों का समन्वय देखने को मिलता है। इस मत से सम्बन्धित विद्वान; जैसे—मैक्स वेबर, गिन्सबर्ग, डिल्थे, मैकाइवर आदि व्यक्ति और समाज को एक-दूसरे का पूरक मानते हैं। जब व्यक्ति और समाज दोनों का ही समान महत्व है अर्थात् दोनों में से कोई भी कम या अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है तो व्यक्ति से सम्बन्धित शास्त्र मनोविज्ञान और समाज से सम्बन्धित शास्त्र समाजशास्त्र में से किसी को भी एक-दूसरे की तुलना में अधिक महत्त्व एवं प्राथमिकता नहीं दी जा सकती। वास्तव में ये दोनों शास्त्र एक-दूसरे से काफी कुछ ग्रहण करते हैं। आधुनिक अधिकांश समाज-वैज्ञानिक इसी तीसरे मत से सहमत हैं।

व्यक्ति के मानसिक विचार और अनुभव जिसका मनोविज्ञान में अध्ययन किया जाता है, इस दृष्टि से सामाजिक हैं कि इन पर सामाजिक पर्यावरण एवं व्यक्तियों की अन्त:क्रियाओं का प्रभाव पड़ता है। साथ ही विभिन्न व्यक्तियों की अन्त:क्रियाएँ और सामाजिक पर्यावरण जिनका समाजशास्त्र में अध्ययन किया जाता है, मानसिक प्रक्रियाओं का परिणाम या फल हैं। अन्य शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि मानसिक प्रक्रियाएँ सामाजिक परिस्थितियों से और सामाजिक परिस्थितियाँ मानसिक प्रक्रियाओं से काफी प्रभावित होती हैं। अत: समाजशास्त्र और मनोविज्ञान दोनों एक-दूसरे से न केवल सम्बन्धित बल्कि एक-दूसरे के लिए आवश्यक भी हैं। इन दोनों विज्ञानों का सम्बन्ध उस समय और भी घनिष्ठ मालूम पड़ता है जब हम **सामाजिक मनोविज्ञान** की अध्ययन-वस्तु पर विचार करते हैं। **क्लाइनबर्ग** ने लिखा है, "सामाजिक मनोविज्ञान को उस विज्ञान के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो व्यक्ति के व्यवहार का अन्य व्यक्तियों से सम्बन्धित होने के रूप में अध्ययन करता है। यह (सामाजिक मनोविज्ञान) सामूहिक परिस्थितियों में व्यक्ति से सम्बन्धित होने के रूप में अध्ययन करता है। यह (सामाजिक मनोविज्ञान) सामूहिक परिस्थितियों में व्यक्ति से सम्बन्धित है।" सामाजिक मनोविज्ञान में व्यक्ति (मनोविज्ञान की अध्ययन-वस्तु) और समाज (समाजशास्त्र की अध्ययन-वस्तु) दोनों की व्याख्या की जाती है। मनोविज्ञान व सामाजिक मनोविज्ञान का केन्द्रीय विषय मनुष्य है जो समाज विशेष का सदस्य है। अत: मनोविज्ञान, सामाजिक मनोविज्ञान एवं समाजशास्त्र तीनों ही घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं।

व्यक्ति के मानसिक तत्त्वों या लक्षणों की अवहेलना करके सामाजिक सम्बन्धों एवं सामाजिक परिस्थितियों को ठीक से नहीं समझा जा सकता। साथ ही सामाजिक सम्बन्धों और सामाजिक परिस्थितियों की अवहेलना करके वैयक्तिक लक्षणों एवं व्यक्तित्व के विकास को भी ठीक से नहीं जाना जा सकता। व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण तथा उसके अनुभव एवं व्यवहार के प्रतिमान का आधार केवल उसकी शारीरिक एवं मानसिक क्षमताएँ तथा आवश्यकताएँ ही नहीं होकर सामाजिक परिस्थितियाँ भी हैं। अन्य लोगों के साथ अन्त:क्रिया करते हुए ही व्यक्ति बहुत कुछ सीखता है, अनुभव प्राप्त करता है और व्यवहार करता है। समाज, सभ्यता और संस्कृति के बीच ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण और विकास होता है। इस प्रकार वैयक्तिक भावनाओं, उद्वेगों, प्रवृत्तियों तथा अन्य मानसिक लक्षणों का अध्ययन मनोविज्ञान, सामाजिक सम्बन्धों एवं परिस्थितियों का अध्ययन समाजशास्त्र तथा सामाजिक परिस्थितियों के बीच व्यक्ति के व्यवहार-प्रतिमानों, अनुभवनों एवं व्यक्तित्व का अध्ययन सामाजिक मनोविज्ञान करता है। स्पष्ट है कि सामाजिक मनोविज्ञान, मनोविज्ञान व समाजशास्त्र को जोड़ने का कार्य करता है।

समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान में अन्तर
(Differences between Sociology and Psychology)

समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान में घनिष्ठ सम्बन्ध होने के बाद भी दोनों में निम्नलिखित अन्तर हैं—

क्र०सं०	समाजशास्त्र	मनोविज्ञान
1.	समाजशास्त्र सम्पूर्ण समाज का अध्ययन होने के नाते एक सामान्य विज्ञान (General Science) है तथा इसका अध्ययन क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है।	मनोविज्ञान मात्र व्यक्ति के मानसिक पक्ष से सम्बन्धित होने के नाते एक विशेष/मुख्य सामाजिक विज्ञान (Social Science) है।
2.	इसमें प्रमुख रूप से सामाजिक समूहों का अध्ययन किया जाता है।	मनोविज्ञान मानसिक दृष्टिकोण से अध्ययन करता है तथा इसका दृष्टिकोण वैयक्तिक होता है।
3.	ब्राउन के अनुसार, "समाजशास्त्र सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन करता है।"	ब्राउन ने "मनोविज्ञान को मानसिक व्यवस्था का अध्ययन माना है।"
4.	समाजशास्त्र में परोक्ष प्रयोग विधि (तुलनात्मक विधि) तथा ऐतिहासिक, प्रकार्यात्मक, संघर्षात्मक विधियों द्वारा अध्ययन किया जाता है।	वर्तमान में मनोविज्ञान में प्रयोगात्मक विधि का प्रयोग हो रहा है। अत: इसी धारा में मनोविज्ञान समाजशास्त्र से आगे निकल गया है।

प्र.4. समाजशास्त्र एवं अर्थशास्त्र में पाए जाने वाले सम्बन्ध की विवेचना कीजिए तथा दोनों के बीच क्या अन्तर हैं, स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

समाजशास्त्र एवं अर्थशास्त्र
(Sociology and Economics)

अर्थशास्त्र के अन्तर्गत मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं या आर्थिक व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। अर्थशास्त्र को वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन एवं वितरण का अध्ययन भी कहा गया है। इस शास्त्र के द्वारा धन के उत्पादन एवं वितरण और उपभोग से सम्बन्धित व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। धन से सम्बन्धित मानवीय क्रियाओं या गतिविधियों को अर्थशास्त्र में प्रमुखता देने का कारण यह है कि धन आवश्यकताओं या इच्छाओं की पूर्ति का प्रमुख साधन है। **समाजशास्त्र** के अन्तर्गत मनुष्य की सामाजिक क्रियाओं या गतिविधियों का अध्ययन किया जाता है। यह शास्त्र प्रथा, परम्परा, रूढ़ि, संस्था, संस्कृति, सामाजिक सम्बन्धों के विभिन्न स्वरूपों, सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिमानों, सामाजिक संरचनाओं तथा विभिन्न प्रकार के समूहों में विशेष रूप से रुचि रखता है। समाजशास्त्र समग्र रूप में मानवीय व्यवहार एवं समाज को समझने का प्रयास करता है।

इन दोनों शास्त्रों के सम्बन्धों के बारे में **सिल्वरमैन** ने लिखा है कि सामान्य कार्यों का लक्ष्यों के लिए इसे (अर्थशास्त्र) समाजशास्त्र नामक पितृ विज्ञान (Parent Science) की, जो सभी सामाजिक सम्बन्धों के सामान्य सिद्धान्तों का अध्ययन करता है, एक शाखा माना जा सकता है। **थॉमस** के अनुसार अर्थशास्त्र वास्तव में समाजशास्त्र के व्यापक विज्ञान की एक शाखा है। ये दोनों शास्त्र मानव और उसकी क्रियाओं का अध्ययन करते हैं। इतना अवश्य है कि अर्थशास्त्र में मानव की आर्थिक क्रियाओं का जबकि समाजशास्त्र में सामाजिक जीवन के सभी पक्षों का अध्ययन किया जाता है। इसी आधार पर कुछ विद्वानों ने अर्थशास्त्र को समाजशास्त्र की एक शाखा माना है, लेकिन वास्तविकता यह है कि ये दोनों अपने-अपने अध्ययन-क्षेत्र में विषय-सामग्री की दृष्टि से स्वतन्त्र विज्ञान हैं, किसी को भी किसी से कम या ज्यादा महत्त्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। ये दोनों सामाजिक विज्ञान घनिष्ठ रूप से एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। यही कारण है कि अनेक विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र दोनों का एक

ही विभाग हुआ करता था। इसके अलावा बहुत से विद्वान अर्थशास्त्री होने के साथ-साथ समाजशास्त्री भी हुए हैं। कॉम्ट, जे०एस० मिल, पैरेटो, वेबलिन, कार्ल मार्क्स, मैक्स वेबर, महात्मा गांधी आदि विद्वानों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से यह स्पष्टत: सिद्ध कर दिया है कि ये दोनों विज्ञान एक-दूसरे के पूरक हैं; इनका पृथक्-पृथक् रूप में अध्ययन नहीं किया जा सकता। व्यक्ति की सामाजिक क्रियाओं और व्यवहार पर आर्थिक परिस्थितियों का और आर्थिक क्रियाओं एवं व्यवहार पर सामाजिक परिस्थितियों का निश्चित रूप से प्रभाव पड़ता है। ये दोनों शास्त्र एक-दूसरे के अध्ययन को व्यापकता और साथ ही निश्चितता प्रदान करने में भी सहायता करते हैं। वास्तव में समाज विशेष की परम्पराएँ, प्रथाएँ, संस्थाएँ तथा लोक विश्वास आर्थिक क्रियाओं को काफी प्रभावित करते हैं और स्वयं आर्थिक क्रियाएँ सामाजिक संरचना को बहुत कुछ प्रभावित करती हैं।

आज अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र कुछ ऐसी समस्याओं का अध्ययन करते हैं जो एक-दूसरे के क्षेत्र के अन्तर्गत आती हैं; जैसे—औद्योगीकरण, नगरीकरण, श्रम समस्याएँ, श्रम-कल्याण, बेकारी, निर्धनता, ग्रामीण समस्याएँ, ग्रामीण पुनर्निर्माण आदि। इन पर जब तक आर्थिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टिकोणों से विचार नहीं किया जाता तब तक न तो इनहें ठीक से समझा जा सकता और न ही इन्हें हल किया जा सकता है। अनेक समस्याएँ; जैसे—अपराध, वेश्यावृत्ति, बेकारी, निर्धनता आदि आर्थिक कारकों से काफी प्रभावित हैं, परन्तु इनके सामाजिक कारक भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। अनेक अच्छी-से-अच्छी योजनाएँ इसलिए असफल रही हैं कि मानवीय और सामाजिक कारकों को समझने का प्रयत्न नहीं किया गया, उनकी अवहेलना की गई। मैक्स वेबर, कार्ल मार्क्स, आदि विद्वानों ने अपने अध्ययनों के माध्यम से यह स्पष्ट कर दिया है कि आर्थिक और सामाजिक कारकों में घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। तब तो अर्थशास्त्र समाजशास्त्र के अनेक सिद्धान्तों का प्रयोग करने लगा है। वर्तमान में अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र में दिन-प्रतिदिन सहयोग बढ़ता ही जा रहा है।

समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र आपस में सम्बन्धित होते हुए भी दोनों के मध्य निम्नलिखित अन्तर स्पष्ट होते हैं—

समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र में अन्तर
(Differences between Sociology and Economics)

क्र०सं०	समाजशास्त्र	अर्थशास्त्र
1.	समाजशास्त्र में प्रमुखत: सामाजिक सम्बन्धों, घटनाओं तथा अन्तर्क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है।	अर्थशास्त्र में मात्र आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है।
2.	समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र व्यापक एवं अति विस्तृत है। क्योंकि इसमें सामाजिक जीवन के सभी पक्षों का अध्ययन किया जाता है।	इसका विषय-क्षेत्र सीमित है। क्योंकि इसमें केवल आर्थिक पक्षों का ही अध्ययन किया जाता है।
3.	समाजशास्त्र में सामाजिक सर्वेक्षण पद्धति, समाजमिति, अवलोकन एवं व्यक्ति अध्ययन विधि का उपयोग किया जाता है।	अर्थशास्त्र में अध्ययन हेतु आगमन तथा निगमन तकनीकी का उपयोग किया जाता है।
4.	समाजशास्त्र का दृष्टिकोण समाजशास्त्रीय है। इसमें व्यक्ति को सामाजिक प्राणी के रूप में देखा जाता है।	अर्थशास्त्र का दृष्टिकोण आर्थिक है।
5.	समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है।	अर्थशास्त्र विशिष्ट विज्ञान है।
6.	समाजशास्त्र की प्रकृति समूहवादी है।	अर्थशास्त्र की प्रकृति व्यक्तिवादी है।
7.	समाजशास्त्र के अध्ययन में समाज को इकाई माना जाता है।	अर्थशास्त्र के अध्ययन में व्यक्ति को इकाई माना जाता है।
8.	समाजशास्त्र अनुमान आधारित विज्ञान है।	अर्थशास्त्र आँकड़ों के आधार पर चलने वाला एक ठोस विज्ञान है।

प्र.5. समाजशास्त्र और इतिहास विषय के मध्य पाए जाने वाले सम्बन्ध एवं अन्तर को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

समाजशास्त्र और इतिहास
(Sociology and History)

समाजशास्त्र और इतिहास के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन दोनों शास्त्रों की विषय-वस्तु में खास अन्तर नहीं होकर दृष्टिकोण में अन्तर है। **इतिहास** भूतकाल की विशिष्ट घटनाओं का वर्णन करता है, उन घटनाओं के कार्य-कारण सम्बन्धों की विवेचना करता है। भूतकाल के सम्बन्ध में ज्ञान के अभाव में न तो हम वर्तमान को भली-भाँति समझ सकते हैं और न ही भविष्य को। इतिहास उस समय-क्रम (Time-Sequence) का पता लगाने का प्रयत्न करता है जिसमें विभिन्न घटनाएँ घटित हुईं। इतिहास के द्वारा प्रारम्भ से लेकर अभी तक के समय के मानव के जीवन की प्रमुख घटनाओं का चित्रण किया जाता है। इस दृष्टि से इतिहास अतीत या

भूतकाल की घटनाओं का क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित अध्ययन है। **समाजशास्त्र** अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान समाज का अध्ययन है। यही कारण है कि इतिहास अतीत का समाजशास्त्र और समाजशास्त्र समाज का वर्तमान इतिहास कहलाता था। किसी समय इतिहास राजा-महाराजाओं, प्रमुख तारीखों व युद्धों की कहानी था, परन्तु अब इसके द्वारा सामाजिक घटनाओं का आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत किया जाता है। ये सामाजिक घटनाएँ समाजशास्त्र से सम्बद्ध हैं। इतिहास विभिन्न युगों के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन का अध्ययन है। समाजशास्त्र ऐतिहासिक अध्ययनों से प्राप्त सामग्री के आधार पर वर्तमान युग के सामाजिक जीवन को समझने का प्रयास करता है।

समाजशास्त्र और इतिहास दोनों ही सभ्यता एवं संस्कृति का अध्ययन करते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि इतिहासकार इनका अध्ययन समय-क्रम के अनुसार करता है, जबकि समाजशास्त्री वर्तमान समय की सभ्यता एवं संस्कृति का। इन दोनों ही शास्त्रों के द्वारा संघर्ष, क्रान्ति एवं युद्ध का अध्ययन किया जाता है, परन्तु भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से। इतिहास इनका अध्ययन विशिष्ट घटना के रूप में करता है, जबकि समाजशास्त्र सामाजिक प्रक्रिया के रूप में या सामाजिक विघटन के सामूहिक प्रकार के रूप में। समाजशास्त्री संघर्ष, क्रान्ति एवं युद्ध के कारणों एवं परिणामों की विवेचना भी करता है।

ये दोनों शास्त्र एक-दूसरे पर काफी निर्भर हैं, एक-दूसरे से बहुत कुछ ग्रहण करते हैं। प्रसिद्ध समाजशास्त्री ऑगस्ट कॉम्ट एवं स्पेन्सर आदि के अध्ययनों पर इतिहास की स्पष्ट छाप झलकती है। समाजशास्त्रीय अध्ययनों में इतिहास द्वारा प्राप्त सामग्री—सामाजिक तथ्यों एवं सूचनाओं का काफी प्रयोग किया जाता है। समाजशास्त्रियों को अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन तथा अवधारणाओं व प्रारूपों के निर्माण में इतिहास द्वारा प्रस्तुत सामग्री से काफी सहायता मिलती है, जैसा कि दुर्खीम के 'श्रम-विभाजन के सिद्धान्त' एवं 'आत्म-हत्या के सिद्धान्त' से स्पष्ट है। मैक्स वेबर द्वारा भी समाजशास्त्रीय अध्ययनों में ऐतिहासिक सामग्री का काफी प्रयोग किया गया है। समाजशास्त्र में इतिहास के प्रभाव के फलस्वरूप ही **'ऐतिहासिक समाजशास्त्र'** (Historical Sociology) का विकास हो सका। इसी प्रकार समाजशास्त्र के प्रभाव के परिणामस्वरूप इतिहास से **'सामाजिक इतिहास'** (Social History) का विकास हो सका। जी०जी० कौल्टन, जेकब बुर्कहार्ट, टायनबी आदि इतिहासकारों ने **सामाजिक इतिहास** लिखा जो सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक प्रतिमानों, रूढ़ियों तथा महत्त्वपूर्ण संस्थाओं के क्रमिक विकास से सम्बन्धित है। दूसरी ओर कुछ प्रमुख समाजशास्त्रियों; जैसे—मैक्स वेबर, गिन्सबर्ग, रेमण्ड एरो, सिगमण्ड-डायमण्ड, रोबर्ट बेला, आदि ने ऐतिहासिक समस्याओं पर समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विचार कर **ऐतिहासिक समाजशास्त्र** के विकास में अपूर्व योग दिया। अब दोनों ही शास्त्र एक-दूसरे की अध्ययन पद्धतियों का उपयोग समाज एवं सामाजिक घटनाओं को समझने में करने लगे हैं।

समाजशास्त्र और इतिहास में अन्तर
(Differences between Sociology and History)

समाजशास्त्र और इतिहास के मध्य निम्नलिखित अन्तर पाए जाते हैं जो इस प्रकार हैं—

1. इतिहास विशेष विज्ञान है जिसका सम्बन्ध ऐतिहासिक घटनाओं से है। समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है जिसका सम्बन्ध सभी प्रकार के सम्बन्धों से है।
2. इतिहास का सम्बन्ध प्रमुखत: भूतकाल के साथ है जबकि समाजशास्त्र का वर्तमान के साथ।
3. इतिहास मूर्त का और समाजशास्त्र अमूर्त का अध्ययन है। **पार्क** ने लिखा है कि इतिहास मानव अनुभव और मानव प्रकृति का मूर्त और समाजशास्त्र अमूर्त विज्ञान है।
4. इतिहास विशिष्ट घटनाओं का अध्ययन करता है जबकि समाजशास्त्र विभिन्न घटनाओं के आधार पर सामान्यीकरण (Generalization) करता है। **बीरस्टीड** ने लिखा है कि इतिहास अपने को समान घटनाओं में भिन्नताओं का पता लगाने में लगाता है जबकि समाजशास्त्र अपने को विभिन्न घटनाओं में समानताओं का पता लगाने में।
5. ऐतिहासिक अध्ययन प्रमुखत: विवरणात्मक होते हैं जबकि समाजशास्त्रीय अध्ययन विश्लेषणात्मक।
6. इतिहास में विवरणात्मक एवं ऐतिहासिक पद्धति का जबकि समाजशास्त्र में वैज्ञानिक, विश्लेषणात्मक एवं तुलनात्मक पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है।
7. इतिहास की घटनाओं का परीक्षण एवं पुनर्परीक्षण नहीं हो सकता क्योंकि ये घटनाएँ सामान्यत: एक बार घटित होती हैं। समाजशास्त्र में निष्कर्षों का परीक्षण और पुनर्परीक्षण सम्भव है। इसी आधार पर इतिहास की अपेक्षा समाजशास्त्र को अधिक प्रामाणिक विज्ञान माना गया है।

❑

UNIT-III

समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणाएँ

खण्ड-अ अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण की आवश्यक दशाएँ अथवा तत्त्व कौन-कौन से हैं?

उत्तर सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण के लिए आवश्यक दशाएँ अथवा तत्त्व इस प्रकार हैं—(i) जीवित व्यक्ति; (ii) सम्पर्क एवं संचार; (iii) पारस्परिक जागरूकता तथा (iv) सामाजिक अन्त:क्रिया।

प्र.2. सामाजिक सम्बन्धों की मुख्य विशेषताएँ संक्षेप में बताइए।

उत्तर सामाजिक सम्बन्धों की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—(i) अमूर्त सम्बन्ध; (ii) जटिल प्रकृति; (iii) अर्थपूर्ण; (iv) अनिश्चित स्वरूप; (v) स्थायी एवं अस्थायी प्रकृति तथा (vi) सहयोगी एवं असहयोगी प्रकृति।

प्र.3. गिर्डिंग्स द्वारा प्रस्तुत समाज की परिभाषा दीजिए।

उत्तर गिर्डिंग्स के अनुसार, समाज स्वयं एक संघ है, एक संगठन है, औपचारिक सम्बन्धों का योग है, जिसमें परस्पर सम्बन्ध रखने वाले लोग एक साथ संगठित होते हैं।

प्र.4. ''समुदाय सामान्य जीवन का क्षेत्र है।'' यह कथन किसका है?

उत्तर ''समुदाय सामान्य जीवन का क्षेत्र है।'' यह कथन मैकाइवर एवं पेज का है।

प्र.5. समुदाय की तीन मुख्य विशेषताएँ बताइए।

उत्तर (i) व्यक्तियों का समूह; (ii) निश्चित भौगोलिक क्षेत्र तथा सामुदायिक भावना।

प्र.6. सामुदायिक भावना के अन्तर्गत पाई जाने वाली मुख्य तीन बातें कौन-सी हैं?

उत्तर (i) हम की भावना की अभिव्यक्ति; (ii) योगदान या दायित्व निर्वाह की भावना तथा (iii) निर्भरता की भावना।

प्र.7. समिति से क्या आशय है?

उत्तर जब कुछ लोग मिलकर अपनी आवश्यकताओं या उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सहयोग करते हैं, संगठन बना कर प्रयत्न करते हैं तो ऐसे संगठन को ही समिति कहा जाता है।

प्र.8. संस्था की परिभाषा दीजिए।

उत्तर मैकाइवर एवं पेज के अनुसार—संस्थाएँ सामूहिक क्रिया की विशेषता व्यक्त करने वाली कार्य प्रणाली के स्थापित स्वरूप अथवा अवस्था को कहते हैं।

प्र.9. मर्टन ने समूह निर्माण के लिए किन बातों का होना आवश्यक बताया है?

उत्तर मर्टन के अनुसार समूह के लिए निम्न बातों का होना आवश्यक है—

(i) दो या दो से अधिक व्यक्तियों का होना।

(ii) इनमें सामाजिक सम्बन्धों का पाया जाना। यह सम्बन्ध व्यक्तियों में बार-बार अन्त:क्रिया से बनता है।

(iii) व्यक्ति के किसी समूह का सदस्य माना जाने के लिए आवश्यक है कि वह स्वयं को किसी समूह विशेष का सदस्य समझे, उसके प्रति हम की भावना रखे। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि समूह के अन्य सदस्य तथा दूसरे सदस्य भी उसे उस विशेष समूह का सदस्य समझे।

TOUCH 'n PASS

प्र.10. मनुष्य समूह में रहता है, इसकी मनोवैज्ञानिक मान्यता बताइए।

उत्तर मनोवैज्ञानिकों की मान्यता है कि व्यक्ति अपनी एक मूल प्रवृत्ति 'ग्रिगेरियस इन्सटिंक्ट' (Gregarious Instinct) के कारण ही समूह में रहता है। समूहों के माध्यम से ही एक पीढ़ी के विचार तथा अनुभव दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित किए जाते हैं।

प्र.11. प्राथमिक समूह की अवधारणा किसने प्रस्तुत की थी?

उत्तर प्राथमिक समूह की अवधारणा चार्ल्स कूले ने अपनी पुस्तक सोशल आर्गनाइजेशन (Social Organization) में सन् 1909 में प्रस्तुत की थी।

प्र.12. चार्ल्स कूले ने प्राथमिक समूह किसे माना है?

उत्तर चार्ल्स कूले ने परिवार, क्रीडा समूह व पड़ोस को प्राथमिक समूह माना है।

प्र.13. प्रो० किंग्सले डेविस ने प्राथमिक समूह निर्माण के लिए किन तीन भौतिक दशाओं का उल्लेख किया है?

उत्तर (i) शारीरिक समीपता; (ii) समूह का लघु आकार; (iii) सम्बन्धों की अवधि।

प्र.14. किंग्सले डेविस द्वारा प्रतिपादित द्वितीयक समूह की परिभाषा लिखिए।

उत्तर किंग्सले डेविस के अनुसार—"द्वितीयक समूहों को स्थूल रूप से सभी प्राथमिक समूहों के विपरीत कहकर परिभाषित किया जा सकता है।"

प्र.15. मानव और पशु समाज में मुख्य सामाजिक-सांस्कृतिक अन्तर बताइए।

उत्तर (i) सामाजिक जागरूकता में अन्तर;
(ii) स्मरण शक्ति में अन्तर;
(iii) सोचने-समझने के आधार पर अन्तर;
(iv) सामाजिक जीवन में विविधता के आधार पर अन्तर;
(v) यौन-सम्बन्धों के आधार पर अन्तर।

खण्ड-ब लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. "हम समितियों के सदस्य होते हैं, संस्थाओं के नहीं" मैकाइवर एवं पेज के इस कथन को उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

हम समितियों के सदस्य होते हैं, संस्थाओं के नहीं
(We belong to Associations and not to Institutions)

यह भली-भाँति स्पष्ट है कि हम समितियों के सदस्य होते हैं, न कि संस्थाओं के। इस सम्बन्ध में भ्रम का मूल कारण यह है कि समिति और संस्था शब्दों का साधारणत: पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयोग किया जाता है। समाजशास्त्रीय शब्दावली में समिति और संस्था का भिन्न-भिन्न अर्थ है जैसा कि इनकी परिभाषाओं से स्पष्ट है।

मैकाइवर एवं पेज के इस कथन से कि "हम समितियों के सदस्य होते हैं, न कि संस्थाओं के" लेखक पूरी तरह सहमत है। समिति से मनुष्यों के एक संगठित समूह का बोध होता है जबकि संस्था से एक कार्य-प्रणाली का। परिवार, महाविद्यालय, धार्मिक संगठन, राजनीतिक दल आदि व्यक्तियों के समूह के रूप में समितियाँ हैं और नियमों, विधि-विधान और कार्य-प्रणालियों के ढाँचे के रूप में संस्थाएँ। जब समितियाँ बनाई जाती हैं तो उनके कार्य-संचालन के लिए कुछ नियम, विधि-विधान और कार्य-प्रणालियाँ भी विकसित हो जाती हैं जो संस्थाओं के नाम से जानी जाती हैं। मैकाइवर और पेज के अनुसार "यदि हम किसी व्यवस्था पर संगठित समूह के रूप में विचार करते हैं तो वह एक समिति है, और यदि कार्य-प्रणाली के रूप में तो वह संस्था है। समिति से सदस्यता का पता चलता है, संस्था से कार्य प्रणाली या सेवा के तरीके या साधन का।"

यहाँ कुछ उदाहरणों द्वारा उपर्युक्त कथन को स्पष्टत: समझाने का प्रयत्न किया गया है। **महाविद्यालय एक समिति और संस्था दोनों ही है।** जब हम महाविद्यालय पर एक संगठित समूह के रूप में विचार करते हैं अर्थात् प्राचार्य, विभागाध्यक्षों, प्राध्यापकों, अन्य कर्मचारियों एवं विद्यार्थियों की दृष्टि से सोचते हैं तो यह एक समिति है जिसके कुछ उद्देश्य हैं। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए महाविद्यालय की शिक्षण की एक पद्धति, टाइम-टेबल, नियम एवं आचरण सम्बन्धी बातें तथा परीक्षा की एक प्रणाली आदि होते हैं। ये सब मिलकर महाविद्यालय को एक संस्था का रूप प्रदान करते हैं। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जब हम

महाविद्यालय पर नियमों, कार्य-प्रणाली अर्थात् कार्य के ढंग, शिक्षण-पद्धति, परीक्षा-प्रणाली, आदि के रूप में विचार करते हैं तो वह एक संस्था है। स्पष्ट है कि समिति मनुष्यों का एक संगठित समूह है जबकि संस्था नियमों एवं कार्य-प्रणाली की एक व्यवस्था। हम मनुष्यों के समूह के ही सदस्य हो सकते हैं, नियमों एवं कार्य-प्रणाली की व्यवस्था के नहीं। हम महाविद्यालय रूपी समिति के प्राचार्य, प्राध्यापक, अन्य कर्मचारी या विद्यार्थी के रूप में तो सदस्य हो सकते हैं, परन्तु महाविद्यालय रूपी संस्था अर्थात् नियमों, शिक्षण-पद्धति, परीक्षा-प्रणाली या सम्पूर्ण कार्य-प्रणाली के सदस्य नहीं बन सकते। हम मानव के रूप में मूर्त हैं, समिति भी संगठित समूह के रूप में मूर्त है। अत: मूर्त मानव मूर्त संगठित समूह अर्थात् समिति का सदस्य तो बन सकता है, परन्तु वह अमूर्त नियमों, विधि-विधानों एवं कार्य-प्रणाली अर्थात् संस्था (जो अमूर्त है) का सदस्य नहीं बन सकता।

महाविद्यालय के समान ही परिवार, आर्थिक संघ, धार्मिक संघ, राजनीतिक दल, राज्य, अस्पताल, लोकसभा, आदि में से प्रत्येक समिति और संस्था दोनों ही हैं। ये सब संगठित समूह भी हैं और इनके सबके अपने-अपने नियम, विधि-विधान एवं कार्य-प्रणालियाँ भी हैं। संगठित समूह के रूप में ये समिति हैं और नियमों व कार्य-प्रणाली की व्यवस्था के रूप में संस्था। हम समिति (संगठित समूह) के सदस्य तो हो सकते हैं और होते हैं, परन्तु नियमों एवं कार्यप्रणाली की व्यवस्था (संस्था) के नहीं। इस प्रकार स्पष्ट है कि हम समितियों के सदस्य होते हैं, संस्थाओं के नहीं।

प्र.2. समुदाय और समाज में अन्तर बताइए।

उत्तर

समुदाय और समाज में अन्तर
(Distinction between Community and Society)

क्र०सं०	समुदाय	समाज
1.	समुदाय व्यक्तियों का एक समूह है।	समाज सामाजिक सम्बन्धों का जाल है।
2.	व्यक्तियों का समूह होने के कारण समुदाय मूर्त है।	सामाजिक सम्बन्धों का जाल होने के कारण समाज अमूर्त है।
3.	समुदाय के लिए निश्चित क्षेत्र या भू-भाग का होना आवश्यक है।	समाज के लिए निश्चित क्षेत्र का होना आवश्यक नहीं है। समाज विशेष के सदस्य अलग-अलग क्षेत्रों में बिखरे हो सकते हैं।
4.	समुदाय के लिए सामुदायिक भावना अत्यन्त आवश्यक है। समुदाय में सहयोगी सामाजिक सम्बन्धों पर विशेष जोर दिया जाता है।	समाज के लिए सामुदायिक भावना आवश्यक नहीं है। समाज में सहयोगी और असहयोगी दोनों ही प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध पाए जाते हैं।
5.	समुदाय का अपना एक विशिष्ट नाम होता है।	समाज का अपना कोई नाम नहीं होता है।
6.	समुदाय समाज का एक भाग है। एक समुदाय में एक से अधिक समाज नहीं हो सकते।	समाज व्यापक है, एक समाज में कई समुदाय हो सकते हैं।
7.	समुदाय की प्रकृति क्षेत्रीय या स्थानीय है। इसमें अनेक समूह, समितियाँ, संघ, आदि होते हैं। समुदाय को विभिन्न भागों में बाँटकर अध्ययन किया जा सकता है।	समाज की प्रकृति समग्रता या सम्पूर्णता की होती है, जिसे विभिन्न भागों में बाँटकर नहीं समझा जा सकता है।

प्र.3. समुदाय और संस्था में अन्तर बताइए।

उत्तर

समुदाय और संस्था में अन्तर
(Distinction between Community and Institution)

क्र०सं०	समुदाय	संस्था
1.	समुदाय के लिए निश्चित भू-भाग और सामुदायिक भावना का होना आवश्यक है।	संस्था के लिए निश्चित भू-भाग और सामुदायिक भावना का होना आवश्यक नहीं है।
2.	समुदाय व्यक्तियों का एक समूह है।	संस्था व्यक्तियों का समूह नहीं होकर नियमों, विधि-विधानों और कार्यप्रणालियों की एक व्यवस्था है।
3.	समुदाय से सदस्यता का पता चलता है।	संस्था से नियमों एवं कार्य-प्रणाली का पता चलता है।
4.	समुदाय से संगठन का पता चलता है।	संस्था से संगठन का नहीं, बल्कि कार्य-प्रणाली का पता चलता है।

5.	समुदाय का कोई विशिष्ट उद्देश्य नहीं होकर सामान्य उद्देश्य होते हैं। इसमें व्यक्तियों का सम्पूर्ण जीवन बीतता है।	संस्था किसी विशिष्ट उद्देश्य या आवश्यकता की पूर्ति के लिए विकसित होती है।
6.	समुदाय साध्य है, साधन नहीं अर्थात् यह सामान्य जीवन का क्षेत्र है, किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति का माध्यम नहीं।	संस्था साधन है साध्य नहीं। यह कुछ मौलिक या विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन है।
7.	समुदाय मूर्त है।	संस्था अमूर्त है।
8.	समुदाय में अनेक संस्थाएँ होती हैं।	संस्था स्वयं समुदाय नहीं होकर सामुदायिक जीवन का एक अंग है, आवश्यकता या उद्देश्य की पूर्ति का माध्यम है।

प्र.4. समुदाय और समिति में अन्तर बताइए।

उत्तर

समुदाय और समिति में अन्तर
(Distinction between Community and Association)

क्र०सं०	समुदाय	समिति
1.	समुदाय के लिए निश्चित भू-भाग या क्षेत्र का होना आवश्यक है।	समिति के लिए निश्चित भू-भाग का होना आवश्यक नहीं है।
2.	समुदाय का स्वत: विकास होता है।	समिति का विचारपूर्वक निर्माण किया जाता है।
3.	समुदाय में सदस्यों के सभी हित या उद्देश्य आ जाते हैं अर्थात् इसका कोई विशिष्ट उद्देश्य नहीं होता।	समिति में व्यक्ति के जीवन के सभी उद्देश्य या हित नहीं आते। यह तो जीवन के किसी विशिष्ट हित या उद्देश्य को लेकर बनाई जाती है।
4.	व्यक्ति समुदाय का अनिवार्यत: सदस्य होता है। किसी-न-किसी समुदाय में रहना उसके लिए आवश्यक है।	किसी समिति का सदस्य बनना या नहीं बनना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर रहता है अर्थात् समिति की सदस्यता ऐच्छिक होती है।
5.	एक बार में व्यक्ति एक ही समुदाय का सदस्य होता है।	एक ही व्यक्ति एक समय में कई समितियों का सदस्य हो सकता है।
6.	समुदाय स्थायी होते हैं।	समितियाँ सापेक्षत: अस्थायी होती हैं।
7.	समुदाय सम्पूर्ण जीवन जीने का क्षेत्र है। इस दृष्टि से यह अपने आप में साधन नहीं होकर साध्य है।	समिति विशिष्ट उद्देश्यों को लेकर बनाई जाती है। अत: यह साध्य नहीं होकर साधन है।
8.	समुदाय की सामान्य नियमों की अपनी एक व्यवस्था होती है।	समिति के नियम सामान्य नहीं होकर विशिष्ट होते हैं।
9.	समुदाय साधारणत: अपने आप में पूर्ण होता है। एक समुदाय में अनेक समितियाँ होती हैं।	समिति समुदाय का एक अंग है। समिति के साधारणत: उपभाग नहीं होते।
10.	समुदाय में सदस्यों की संख्या काफी होती है।	समिति में सदस्यों की संख्या समुदाय की तुलना में सामान्यत: कम होती है।
11.	समुदाय का कोई निश्चित ढाँचा नहीं होता।	समिति का अपना एक निश्चित ढाँचा होता है और सदस्यों की निश्चित प्रस्थितियाँ और भूमिकाएँ होती हैं।

प्र.5. समिति और समाज में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

समिति एवं समाज में अन्तर
(Distinction between Association and Society)

क्र०सं०	समिति	समाज
1.	समिति व्यक्तियों का एक समूह है।	समाज सामाजिक सम्बन्धों का जाल है।
2.	व्यक्तियों का समूह होने के कारण समिति मूर्त है।	सामाजिक सम्बन्धों का जाल होने के कारण समाज अमूर्त है।

TOUCH 'n PASS

3.	समिति का निर्माण समाज के अस्तित्व में आने के बहुत बाद की घटना है।	समाज का अस्तित्व किसी-न-किसी रूप में सदैव रहा है, उस समय भी जब मानव असभ्यता व बर्बरता के युग में था।
4.	समिति की सदस्यता ऐच्छिक होती है। व्यक्ति अपनी किसी आवश्यकता के कारण किसी समिति का सदस्य बनता है।	व्यक्ति का जीवन अनिवार्यत: समाज में ही बीतता है और इसी कारण उसे एक सामाजिक प्राणी माना गया है। समाज से पृथक व्यक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती।
5.	समिति एक अस्थायी संगठन है।	समाज समिति की तुलना में एक स्थायी अवस्था है।
6.	समिति की स्थापना निश्चित उद्देश्यों को लेकर जान-बूझकर की जाती है।	समाज का धीरे-धीरे स्वत: ही विकास होता है।
7.	समिति सहयोग की भावना पर आधारित होती है।	समाज में सहयोग के अलावा संघर्ष भी पाया जाता है।
8.	व्यक्ति एक साथ कई समितियों की सदस्यता ग्रहण कर सकता है।	व्यक्ति एक समय में एक समाज से ही सम्बन्धित हो सकता है।

प्र.6. समिति और संस्था में अन्तर बताइए।

उत्तर

समिति और संस्था में अन्तर
(Distinction between Association and Institution)

क्र०सं०	समिति	संस्था
1.	समिति व्यक्तियों का एक संगठित समूह है।	संस्था नियमों, विधि-विधानों और कार्य-प्रणालियों की एक व्यवस्था है।
2.	व्यक्तियों के समूह के रूप में समिति को देखा जा सकता है। अत: यह मूर्त है।	संस्था अमूर्त है, क्योंकि यह नियमों, कार्य-प्रणाली आदि की व्यवस्था है जिसे देखा नहीं जा सकता।
3.	समिति स्थापित की जाती है। यह बताया जा सकता है कि किस समिति की स्थापना किसने की।	संस्था का धीरे-धीरे स्वत: ही विकास होता है और इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि इसकी कब, कैसे और कहाँ उत्पत्ति हुई।
4.	समिति अस्थायी होती है।	संस्था अपेक्षाकृत स्थायी होती है।
5.	समिति का अपना एक नाम होता है।	संस्था का अपना एक प्रतीक होता है; जैसे—चर्च का प्रतीक क्रॉस तथा किसी शिक्षण-संस्था का जलती हुई मशाल।
6.	समिति व्यक्तिगत हित या कल्याण पर जोर देती है।	संस्था सामूहिक कल्याण पर जोर देती है।
7.	समिति के कुछ औपचारिक नियम होते हैं, जो साधारणत: लिखित रूप में होते हैं।	संस्था के अलिखित—अनौपचारिक नियम—जनरीतियों, प्रथाओं, परम्पराओं और रूढ़ियों के रूप में होते हैं।
8.	समिति की नियन्त्रण-शक्ति अपेक्षाकृत कमजोर या शिथिल होती है।	संस्था की नियन्त्रण-शक्ति अधिक होती है। संस्था द्वारा मान्य रीति-नीति के विरुद्ध आचरण करना अनुचित और असामाजिक समझा जाता है।
9.	समिति विशेष हितों या उद्देश्यों की पूर्ति करती है।	संस्था सामान्यत: मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति में योग देती है; जैसे—यौन सन्तुष्टि, सन्तानोत्पत्ति, भोजन आदि की।
10.	हितों की भिन्नता के कारण समितियों के कई प्रकार पाए जाते हैं। समिति के हितों की पूर्ति के लिए किसी-न-किसी प्रकार की संस्था का होना आवश्यक है।	संस्थाएँ विभिन्न समितियों के हितों की पूर्ति में साधन के रूप में कार्य करती हैं।
11.	समिति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित नहीं होती है।	संस्था एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती है।
12.	मनुष्य समितियों के सदस्य होते हैं।	मनुष्य संस्थाओं के सदस्य नहीं हो सकते हैं, क्योंकि संस्था नियमों और कार्य-प्रणालियों की व्यवस्था है।

TOUCH 'n' PASS

प्र.7. किंग्सले डेविस द्वारा प्रतिपादित प्राथमिक समूह की अवधारणा स्पष्ट कीजिए। प्राथमिक समूह के निर्माण के लिए आवश्यक भौतिक दशाओं का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

प्राथमिक समूह की अवधारणा
(Concept of Primary Group)

किंग्सले डेविस के अनुसार कई बार आमने-सामने के सम्बन्धों के पाए जाने के बाद भी प्राथमिक सम्बन्धों का निर्माण नहीं हो पाता। आपने बताया है कि एक सिपाही अपने अफसर के आगे झुकता है, उसे सलाम करता है। इनके बीच आमने-सामने के सम्बन्ध होते हुए भी ये सम्बन्ध प्राथमिक सम्बन्ध न होकर यान्त्रिक सम्बन्ध हैं। आपने अन्य उदाहरण देते हुए बताया है कि जब सेना का एक सिपाही किसी लड़की के प्रेम सम्बन्धों से प्रेरित होकर उसके साथ लगातार पत्र-व्यवहार करता है तो आमने-सामने के सम्बन्धों के नहीं पाए जाने पर भी उनके बीच प्राथमिक सम्बन्ध पाए जाते हैं। आपने यह भी बताया है कि हम की भावना तो बड़े-बड़े द्वितीयक समूहों में भी पाई जाती है। अत: इन विशेषताओं के आधार पर किसी समूह को प्राथमिक समूह कैसे कहा जा सकता है। यहाँ हमें इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि कूले ने प्राथमिक समूह की इन दो विशेषताओं के अलावा अन्य विशेषताओं पर भी जोर दिया है। उदाहरण के रूप में, आपने सम्बन्धों की सम्पूर्णता, सम्बन्धों की अवधि, सम्बन्धों की घनिष्ठता तथा वैयक्तिक सम्बन्धों ये प्राथमिक समूहों की आवश्यक विशेषताओं के रूप में माना है। यहाँ **कोजर** एवं **रोजनबर्ग** का कथन बहुत महत्त्वपूर्ण है। इन विद्वानों ने बताया है कि आमने-सामने के सम्बन्ध तथा लघु आकार आदि प्राथमिक समूह की संयोगवश विशेषताएँ हैं। सामाजिक सम्बन्धों का घनिष्ठ होना एक ऐसी आधारभूत विशेषता है जिसके बिना प्राथमिक समूह का निर्माण हो ही नहीं सकता। **स्पष्ट है कि सामाजिक सम्बन्धों की घनिष्ठता प्राथमिक समूहों की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।**

प्राथमिक समूह निर्माण हेतु आवश्यक भौतिक दशाएँ
(Necessary Physical Conditions for Formation of Primary Group)

प्रो० किंग्सले डेविस ने प्राथमिक समूह के निर्माण के लिए तीन आवश्यक भौतिक दशाओं का उल्लेख किया है जो निम्नलिखित हैं—

1. **शारीरिक समीपता** (Physical Proximity)—प्राथमिक समूह के लिए प्रो० डेविस शारीरिक समीपता को महत्त्व देते हैं ताकि व्यक्तियों में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो सकें। व्यक्ति के एक-दूसरे के निकट होने, साथ-साथ उठने-बैठने, खाने-पीने, साथ-साथ पढ़ने तथा बातचीत करने से उनमें विचारों तथा भावनाओं का सरलता से आदान-प्रदान हो पाता है। निकट सम्पर्क से व्यक्तियों में परिचय बढ़ता है तथा एक-दूसरे के प्रति आदर, सहानुभूति एवं सहयोग पनपते हैं। प्राथमिक सम्बन्ध के लिए केवल, शारीरिक समीपता ही काफी नहीं है। रेल के एक डिब्बे में अथवा किसी बस में बहुत-से यात्री एक साथ यात्रा करते हैं, परन्तु वे एक प्राथमिक समूह के सदस्य नहीं माने जाएँगे। इसी प्रकार से मेले में अनेक लोगों में शारीरिक निकटता पाई जाती है, परन्तु उनसे प्राथमिक समूह नहीं बन जाता। इसका कारण यह है कि इन लोगों में प्राथमिक सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता, इन सम्बन्धों में घनिष्ठता का अभाव रहता है। एक-दूसरे के निकट होते हुए भी इन लोगों के सम्बन्धों में मानसिक दृष्टि से निकटता नहीं पाई जाती। **शारीरिक निकटता प्राथमिक समूहों के निर्माण का अवसर प्रदान करती है, लेकिन अवसर का लाभ उठाना सम्भव हो सकेगा या नहीं, यह परिस्थिति पर निर्भर करता है।** यह परिस्थिति संस्कृति के द्वारा परिभाषित होती है।
2. **समूह का लघु आकार**—समूह जितना छोटा होगा सदस्यों में उतनी ही अधिक मात्रा में निकटता और घनिष्ठता होगी। यदि समूह का आकार बड़ा है तो उसके सभी सदस्य एक-दूसरे से नहीं मिल पाएँगे, उनमें अन्त:क्रिया की मात्रा कम होगी। समूह के बड़े आकार का होने पर व्यक्ति इसकी एक इकाई मात्र बनकर रह जाता है, विशिष्ट व्यक्तित्व के रूप में उसका महत्त्व घट जाता है तथा ऐसा समूह एक औपचारिक संगठन ही रह जाता है। सदस्य संख्या का आपसी सम्बन्ध, निर्णय लेने की प्रक्रिया तथा सामाजिक नियन्त्रण पर काफी प्रभाव पड़ता है। **जॉर्ज सिमेल** ने प्रयोगों के आधार पर यह ज्ञात करने का प्रयत्न किया कि समूह में सदस्यों की संख्या के घटने-बढ़ने का सम्बन्धों में परिवर्तन लाने की दृष्टि से क्या प्रभाव पड़ता है। दो, तीन या चार व्यक्तियों के किसी समूह में एक भी व्यक्ति के बढ़ जाने से समूह की प्रकृति में अन्तर आ जाता है।

   प्राथमिक समूह की सदस्य संख्या के सम्बन्ध में **फेयरचाइल्ड** ने लिखा है कि सामान्यत: 3-4 व्यक्तियों से लेकर 50-60 व्यक्ति तक ऐसे समूह में पाए जाते हैं, ऐसे समूह में विचारों का आदान-प्रदान प्रत्यक्ष रूप से होता है किसी अन्य माध्यम

के द्वारा नहीं। समूह का छोटा आकार होने से ही सदस्य एक-दूसरे को व्यक्तिगत रूप से जान सकते हैं, समूह की गतिविधियों में सक्रिय रूप से सम्मिलित हो सकते हैं और सदस्यों में घनिष्ठता विकसित हो सकती है।

3. **सम्बन्धों की अवधि**—सम्बन्धों की अवधि का घनिष्ठता के साथ सीधा सम्बन्ध पाया जाता है। सम्बन्धों का काल जितना लम्बा होगा, साधारणत: उतनी ही अधिक मात्रा में घनिष्ठता के बढ़ने की सम्भावना रहती है। सम्बन्धों में घनिष्ठता का होना प्राथमिक सम्बन्धों की स्थापना के लिए आवश्यक है। निरन्तर व्यवहार से ही सदस्यों में एक-दूसरे के प्रति विश्वास और आत्मीयता के भाव पैदा होते हैं जो सम्बन्धों की घनिष्ठता के लिए जरूरी है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि **प्राथमिक समूह के लिए शारीरिक समीपता, समूह का छोटा आकार तथा सम्बन्धों की लम्बी अवधि का होना आवश्यक है।** इन तीनों विशेषताओं के एक साथ होने पर प्राथमिक समूह का विकास सरलता से हो पाता है। इस सम्बन्ध में **प्रो० डेविस ने लिखा है कि भौतिक निकटता, छोटा आकार और लम्बी अवधि घनिष्ठ सम्बन्ध के विकास के लिए अत्यधिक अनुकूल स्थितियाँ हैं।**

प्र.8. प्राथमिक समूह की विशेषताएँ बताइए।

उत्तर

प्राथमिक समूह की विशेषताएँ
(Characteristics of Primary Group)

प्राथमिक समूह की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

1. **शारीरिक निकटता**—प्राथमिक समूह के सदस्य घनिष्ठ तथा प्रत्यक्ष सम्बन्धों द्वारा बँधे रहते हैं। इन सदस्यों में शारीरिक समीपता के कारण ही अपनेपन की भावना का विकास होता है, जिसके फलस्वरूप समूह अधिक स्थायी रूप ले लेता है।
2. **छोटा आकार**—प्राथमिक समूह आकार अथवा सदस्य-संख्या में बहुत सीमित एवं सूक्ष्म होते हैं। प्राथमिक समूह में सदस्यों का एक-दूसरे को व्यक्तिगत रूप से जानना और उनके समीप रहना आवश्यक है। **किंग्सले डेविस** ने छोटे आकार को प्राथमिक समूह की सबसे प्रमुख विशेषता माना है।
3. **तुलनात्मक स्थायित्व**—अन्य समूहों की अपेक्षा प्राथमिक समूह अधिक स्थायी होते हैं। वास्तव में प्राथमिक समूह के सदस्यों के मध्य घनिष्ठ और व्यक्तिगत सम्बन्ध होने के कारण किसी भी सदस्य के लिए इन समूहों की सदस्यता को त्यागना बहुत कठिन होता है। इस विशेषता के कारण ही ये समूह स्थायी प्रकृति वाले होते हैं।
4. **उद्देश्यों की समानता**—प्राथमिक समूह के सदस्यों में एक-दूसरे के साथ विचार-विमर्श होते रहने से उनका दृष्टिकोण समान बना रहता है और इस प्रकार वे समान उद्देश्यों के द्वारा अपने कार्यों को पूर्ण करते हैं। अत: प्राथमिक समूहों में पारस्परिक मतभेद एवं संघर्ष की घटनाएँ बहुत कम दृष्टिगोचर होती हैं।
5. **वैयक्तिक सम्बन्ध**—प्राथमिक समूह में एक सदस्य का दूसरे से सम्बन्ध वैयक्तिक रूप में होता है। **उदाहरण के लिए,** परिवार में हम किसी व्यक्ति का आदर उसकी आयु, नातेदारी अथवा अनुभव में बड़ा होने के कारण करते हैं न कि उसके धनी होने अथवा किसी ऊँचे पद पर आसीन होने के कारण करते हैं।
6. **सम्बन्धों की पूर्णता**—प्राथमिक समूहों के सम्बन्ध किसी विशेष लक्ष्य से स्थापित नहीं किए जाते। प्राथमिक समूह में व्यक्ति जो सम्बन्ध स्थापित करता है, उनका उद्देश्य किन्हीं एक या दो हितों को पूर्ण करना नहीं होता, बल्कि इनके द्वारा व्यक्ति को जो कुछ भी प्राप्त हो जाता है, वह उसी में सन्तुष्ट रहता है।
7. **प्राथमिक नियन्त्रण**—इन समूहों में सभी सदस्यों का एक-दूसरे पर प्राथमिक और प्रभावशाली नियन्त्रण होता है। अनुभव बताता है कि मनुष्य के जिन व्यवहारों को कानून के माध्यम से नियन्त्रित नहीं किया जा सकता परिवार एवं क्रीड़ा-समूह के सदस्य उनको पूरी तरह से नियन्त्रण में रखते हैं। इसका कारण प्राथमिक समूह के सदस्यों में पारस्परिक प्रेम, सहानुभूति और त्याग के गुणों का होना है। व्यक्ति अचेतन रूप में प्राथमिक समूह के सदस्यों के आदेशों का पालन करता रहता है।
8. **स्वाभाविक रूप से विकसित सम्बन्ध**—प्राथमिक समूह की स्थापना किसी प्रलोभन अथवा दबाव के कारण, योजनापूर्ण रूप से नहीं की जाती, बल्कि ये समूह स्वाभाविक रूप से विकसित हो जाते हैं। **उदाहरण के लिए,** परिवार एक प्राथमिक समूह है जो हजारों वर्षों तक त्रुटि और सुधार की प्रक्रिया के पश्चात् ही वर्तमान स्वरूप धारण कर सका है।
9. **स्वयं-साध्य सम्बन्ध**—प्राथमिक समूह के सदस्यों के सम्बन्ध अपने-अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए स्थापित नहीं होते हैं। ये सम्बन्ध स्वयं-साध्य होते हैं। इससे दोनों पक्षों को मानसिक सन्तोष एवं सुख प्राप्त होता है। परिवार के सम्बन्ध ऐसे ही

होते हैं। इसी प्रकार साथ खेलने-कूदने वाले साथ-साथ पढ़ने वाले व्यक्तियों की दोस्ती किसी स्वार्थ से नहीं होती बल्कि स्वयं एक साध्य होती है।

प्र.9. प्राथमिक और द्वितीयक समूहों में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

प्राथमिक और द्वितीयक समूहों में अन्तर
(Difference between Primary and Secondary Groups)

प्राथमिक समूह और द्वितीयक समूह में अन्तर को **स्टीवर्ट** ने **कूले** के वर्गीकरण के आधार पर निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया है—

क्र०सं०	आधार	प्राथमिक समूह	द्वितीय समूह
1.	**आकार**	आकार के सन्दर्भ से प्राथमिक समूह अत्यधिक छोटे होते हैं।	द्वितीयक समूह का आकार अधिक बड़ा होता है; जैसे—शहर एक द्वितीयक समूह है इसकी सदस्य संख्या लाखों में स्पष्ट हो सकती है।
2.	**सम्बन्ध**	प्राथमिक समूह के सदस्यों में किसी प्रकार का दिखावा नहीं होता इनके मध्य आन्तरिक सम्बन्ध होते हैं।	द्वितीयक समूह के सदस्यों के बीच औपचारिकता के प्रमुख गुण स्पष्ट होते हैं।
3.	**प्रभाव**	प्राथमिक समूह का हमारे ऊपर अत्यधिक प्रभाव रहता है। इस समूह के नियमों की कभी भी आलोचना करना नहीं चाहते।	द्वितीयक समूह में व्यक्तियों के व्यवहारों पर नियन्त्रण कानून के द्वारा होता है और इसलिए इनके प्रभावों से बचने के लिए व्यक्ति सुझाव ढूँढता रहता है।
4.	**प्रमुखता**	प्राथमिक समूहों में सामूहिक हितों की प्रमुखता होती है।	द्वितीयक समूहों में व्यक्ति स्वयं के हित को महत्त्व देता है।
5.	**निश्चितता**	प्राथमिक समूहों में सदस्यों के अधिकार और कर्त्तव्य उनकी नातेदारी और आयु से निश्चित होते हैं।	द्वितीयक समूहों में कर्तव्य और अधिकार सदस्यों की शिक्षा, कुशलता और आर्थिक साधनों के आधार पर निर्धारित होते हैं।
6.	**स्थायित्व**	प्राथमिक समूह के सम्बन्धों में प्राथमिकता होने के कारण इनमें स्थिरता होती है।	द्वितीयक समूहों में स्वयं की आवश्यकताएँ पूर्ण न होने पर व्यक्ति इनको शीघ्र ही त्याग देता है।
7.	**समाजीकरण**	प्राथमिक समूह सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास को सम्भव बनाते हैं क्योंकि अत्यधिक समाजीकरण इन समूहों द्वारा होता है।	द्वितीयक समूह केवल अल्पहितों की पूर्ति के कारण व्यक्तित्व के छोटे-से अंश को प्रभावित करते हैं।
8.	**नियन्त्रण**	प्राथमिक समूहों में व्यक्तियों के व्यवहारों को काल्पनिक नियमों और परम्पराओं द्वारा नियन्त्रित किया जाता है।	इस समूह में व्यवहार पर नियन्त्रण कानून के द्वारा किया जाता है।
9.	**उदाहरण :**	परिवार, पड़ोस, क्रीड़ा-समूह, मित्र-मण्डली, गप-शप समूह, साझेदारी, गेंग, जनजाति-परिषद्, लघु समुदाय।	सेना, राजनीतिक दल, बड़े व्यापारिक संगठन, मजदूर संघ, विश्वविद्यालय, कॉलेज, राष्ट्र आदि।
10.	**विशेषताएँ :** (I) **भौतिक विशेषताएँ :** शारीरिक समीपता, लघु आकार, सम्बन्धों की निरन्तरता। (II) **मानसिक विशेषताएँ :** उद्देश्यों की समानता, सम्बन्ध स्वयं-साध्य, वैयक्तिक सम्बन्ध, सम्बन्धों की सम्पूर्णता, सम्बन्ध स्वतः विकसित, अत्यधिक नियन्त्रण शक्ति, भावनात्मक लगाव, घनिष्ठता, सहयोग, आमने-सामने के सम्बन्ध, मानसिक सुरक्षा।		बड़ा आकार, शारीरिक निकटता का अभाव, सीमित उत्तरदायित्व, समझौते पर आधारित सम्बन्ध, औपचारिकता, घनिष्ठता का अभाव, विशिष्ट उद्देश्यों से निर्मित, भावात्मक लगाव नहीं, प्रतिस्पर्द्धा, जान-बूझकर निर्मित, आमने-सामने के सम्बन्धों का अभाव।

TOUCH 'n PASS

प्र.10. मानव एवं पशु समाज में अन्तर बताइए।

उत्तर

मानव समाज और पशु समाज में अन्तर
(Distinction between Human Society and Animal Society)

समाज केवल मनुष्यों में ही नहीं पाया जाता वरन् पशुओं में भी समाज होता है, किन्तु दोनों समाजों में अनेक अन्तर हैं जो निम्नलिखित हैं—

क्र०सं०	मानव समाज	पशु समाज
1.	मानव का मस्तिष्क विकसित एवं जटिल है।	पशुओं का मस्तिष्क मानव जितना विकसित नहीं है।
2.	मानव में बोलने की क्षमता है।	पशुओं में नहीं।
3.	मानव के हाथ, अंगुलियों व अंगूठे की रचना विशेष प्रकार की है जिससे वह कई कार्य कर सकता है।	पशुओं के हाथ की रचना इस प्रकार की नहीं है।
4.	मानव समाज में सामूहिक जागरूकता पाई जाती है।	पशु समाज में नहीं पाई जाती है।
5.	मानव की स्मरण शक्ति तेज है।	पशुओं की कम है।
6.	मानव समाज में नियन्त्रण के लिए कानून, प्रथाएँ, धर्म, नैतिकता आदि पाए जाते हैं।	पशु समाज में ये सब नहीं हैं।
7.	मानव समाज के सदस्यों में परस्पर संगठन और सहयोग पाया जाता है।	पशु समाज में यह नहीं के बराबर पाया जाता है।
8.	मानव समाज के पास संस्कृति है।	पशु समाज के पास नहीं है।
9.	मानव समाज के पास भाषा है।	पशु समाज के पास नहीं है।
10.	मानव समाज में श्रम-विभाजन और विशेषीकरण पाया जाता है।	पशु समाज में नहीं पाया जाता है।
11.	मानव सामूहिक निर्णय ले सकते हैं।	पशु इस प्रकार के निर्णय नहीं ले सकते।
12.	मानव समाज में सामाजिक प्रतिमान पाए जाते हैं।	पशु समाज में सामाजिक प्रतिमान नहीं पाए जाते हैं।
13.	मानव में सीखने की अपार क्षमता है।	पशुओं में यह क्षमता बहुत कम है।
14.	मानव में अनुकूलन की बहुत क्षमता है।	पशुओं में यह क्षमता अपेक्षाकृत कम है।

खण्ड-स विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. समाज का अर्थ एवं परिभाषा स्पष्ट कीजिए तथा मैकाइवर एवं पेज द्वारा प्रस्तुत समाज की विस्तृत व्याख्या का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

'समाज' का सामान्य अर्थ
(General Meaning of 'Society')

बोलचाल की भाषा में साधारण अर्थ में 'समाज' शब्द का प्रयोग व्यक्ति के समूह के लिए किया जाता है। किसी भी संगठित या असंगठित समूह को समाज कह दिया जाता है; जैसे—आर्य समाज, ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, हिन्दू समाज, जैन समाज, विद्यार्थी समाज, महिला समाज आदि। यह 'समाज' शब्द का साधारण अर्थ है जिसका प्रयोग विभिन्न लोगों ने अपने-अपने ढंग से किया है। किसी ने इसका प्रयोग व्यक्तियों के समूह के रूप में, किसी ने समिति के रूप में, तो किसी ने संस्था के रूप में किया है। किसी ने इसका प्रयोग व्यक्तियों के समूह के रूप में, किसी ने समिति के रूप में, तो किसी ने संस्था के रूप में किया है। इसी वजह से समाज के अर्थ के सम्बन्ध में निश्चितता का अभाव पाया जाता है। विभिन्न समाज-वैज्ञानिकों तक ने 'समाज' शब्द का अपने-अपने ढंग से अर्थ लगाया है।

'समाज' शब्द का समाजशास्त्रीय अर्थ (Sociological Meaning of the word 'Society')

समाजशास्त्र में 'समाज' शब्द का प्रयोग व्यक्तियों के समूह के लिए नहीं किया गया है। यहाँ व्यक्तियों के बीच पाए जाने वाले सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर निर्मित व्यवस्था को समाज माना गया है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए **मैकाइवर** तथा **पेज** ने लिखा है, "समाज सामाजिक सम्बन्धों का जाल है।" (Society is the web of social relationships)। स्पष्ट है कि

समाजशास्त्र में व्यक्तियों के समूह को समाज नहीं मानकर उनके बीच पनपने वाले सामाजिक सम्बन्धों के ताने-बाने या व्यवस्था को समाज माना गया है।

समाज की परिभाषा
(Definition of Society)

समाज की वास्तविक प्रकृति को समझने के लिए आवश्यक है कि विद्वानों द्वारा दी गई इसकी कुछ परिभाषाओं को समझ लिया जाए। **गिर्डिंग्स** के अनुसार, "समाज स्वयं एक संघ है, एक संगठन है, औपचारिक सम्बन्धों का योग है, जिसमें परस्पर सम्बन्ध रखने वाले लोग एक साथ संगठित होते हैं।" इस परिभाषा की कमी यह है कि इसमें समाज के निर्माण में अनौपचारिक सम्बन्धों के महत्त्व को स्वीकार नहीं किया गया है।

मोरिस गिन्सबर्ग के अनुसार, "एक समाज व्यक्तियों का वह समूह या संग्रह है जो कुछ सम्बन्धों या व्यवहार के कुछ ढंगों द्वारा संगठित है, जो उन्हें उन अन्यों से पृथक् करते हैं जो इन सम्बन्धों में सम्मिलित नहीं हैं या जो व्यवहार में उनसे भिन्न हैं।" इस परिभाषा से स्पष्ट है कि सम्बन्धों की भिन्नता के कारण एक समाज और दूसरे समाज में अन्तर पाया जाता है।

रयूटर ने लिखा है, "समाज एक अमूर्त धारणा है जो एक समूह के सदस्यों के बीच पाए जाने वाले पारस्परिक सम्बन्धों की सम्पूर्णता का बोध कराती है।"

राइट के अनुसार, "समाज व्यक्तियों का समूह नहीं है, यह समाज में रहने वाले व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था है।"

मैकाइवर एवं पेज ने लिखा है, "समाज रीतियों एवं कार्य-प्रणालियों की, अधिकार एवं पारस्परिक सहायता की, अनेक समूहों एवं विभागों की, मानव व्यवहार के नियन्त्रणों तथा स्वतन्त्रताओं की एक व्यवस्था है। इस सदैव परिवर्तनशील जटिल व्यवस्था को हम समाज कहते हैं। यह सामाजिक सम्बन्धों का जाल है और यह सदैव परिवर्तित होता रहता है।"

मैकाइवर और पेज की परिभाषा के अनुसार समाज की व्याख्या
(Explanation of Society according to the Definition of MacIver and Page)

मैकाइवर एवं पेज ने अपनी उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर समाज के निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण तत्वों का उल्लेख किया है—

1. **रीतियाँ**—रीतियाँ या प्रथाएँ सामाजिक प्रतिमान का एक प्रमुख प्रकार हैं। ये समाज के निर्माण में आधार के रूप में कार्य करती हैं। समाज में व्यवस्था बनाए रखने में ये महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित अनेक रीतियाँ पाई जाती हैं; जैसे—खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा, विवाह, धर्म, जाति, शिक्षा आदि से सम्बन्धित रीतियाँ। ये रीतियाँ व्यक्ति को विशेष तरीके से व्यवहार करने को प्रेरित करती हैं।
2. **कार्य प्रणालियाँ**—कार्य-प्रणालियों को भी समाज का एक प्रमुख आधार माना गया है। मैकाइवर एवं पेज ने सामूहिक रूप से कार्य करने की प्रणालियों को ही संस्थाओं के नाम से पुकारा है। इन्हीं के माध्यम से एक समाज विशेष के लोग अपनी विभिन्न आवश्यकताओं या उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं। एक समाज में व्यक्तियों की सभी क्रियाएँ सामान्यत: इन कार्य-प्रणालियों के अनुरूप ही होती हैं।
3. **अधिकार**—अधिकार को सत्ता या प्रभुत्व के नाम से भी जाना जाता है। यह भी समाज का एक प्रमुख आधार है। समाज में अनेक संगठन, समूह, समितियाँ आदि होते हैं जिनके कार्य-संचालन और सदस्यों के व्यवहार पर नियन्त्रण बनाए रखने के लिए किसी व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के पास अधिकार या सत्ता का होना आवश्यक है। इसके अभाव में व्यवस्था और शान्ति बनाए रखना सम्भव नहीं है। परिवार में यह अधिकार या शक्ति कर्त्ता के पास, जाति में पंच के पास, गाँव में मुखिया, पटेल या प्रधान के पास, राज्य में राजा या सरकार के पास केन्द्रित होती है।
4. **पारस्परिक सहयोग**—यह समाज का एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण आधार है। जब तक कुछ व्यक्ति अपने-अपने उद्देश्यों या आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक दूसरे के साथ सहयोग नहीं करें, तब तक समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकती। समाज के लिए सहयोगी सम्बन्धों का होना अत्यन्त आवश्यक है।
5. **समूह एवं विभाग**—समाज अनेक समूहों एवं विभागों (विभाजनों) या उप-समूहों से मिलकर बना होता है। अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि प्रत्येक समाज में अनेक समूह, समितियाँ, संगठन आदि पाए जाते हैं जिनकी सहायता से व्यक्तियों की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। परिवार क्रीडा-समूह, पड़ोस, जाति, गाँव, कस्बा, नगर, समुदाय, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक संगठन, स्कूल, महाविद्यालय आदि अनेक समूह एवं विभाग ही हैं जिनसे समाज बनता

है और जो व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति में योग देते हैं। आयु, लिंग, जाति, प्रजाति, वर्ग आदि के आधार पर समाज में अनेक विभाजन देखने को मिलते हैं। ये सभी समूह एवं विभाग आपस में एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं।

6. **मानव व्यवहार के नियन्त्रण**—समाज को ठीक से संचालित करने के लिए आवश्यक है कि मानव व्यवहार पर नियन्त्रण रखा जाए। अत: मानव व्यवहार के नियन्त्रण हेतु समाज में सामाजिक नियन्त्रण के औपचारिक एवं अनौपचारिक साधनों को अपनाया जाना आवश्यक है। सामाजिक नियन्त्रण के औपचारिक साधनों में कानून, न्याय-व्यवस्था, पुलिस, प्रशासन, आदि और अनौपचारिक साधनों में जनरीतियाँ, प्रथाएँ, रूढ़ियाँ, संस्थाएँ, धर्म, नैतिकता आदि आते हैं।
7. **स्वतन्त्रता**—समाज के एक आवश्यक तत्त्व के रूप में स्वतन्त्रता का विशेष महत्त्व है। स्वतन्त्रता का अर्थ मनमाने ढंग से कार्य, व्यवहार या आचरण करने से नहीं है। यहाँ इसका तात्पर्य सभी व्यक्तियों को अपने विकास हेतु उचित वातावरण प्रदान करने से है। स्वतन्त्र वातावरण में ही व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का समुचित विकास कर समाज की प्रगति में योग दे सकता है। इन सभी आधारों को संलग्न चित्र में दर्शाया गया है।

मैकाइवर एवं पेज की उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि समाज के सात प्रमुख आधार हैं। समाज की सभी परिभाषाओं पर गहन विचार करने पर ज्ञात होता है कि **सभी समाजशास्त्री समाज के लिए सामाजिक सम्बन्धों को आवश्यक मानते हैं और वे ऐसे सम्बन्धों की जटिल व्यवस्था को ही 'समाज' कहते हैं।**

प्र.2. समाज की अवधारणा स्पष्ट कीजिए। "समाज सामाजिक सम्बन्धों का जाल है।" इस कथन को समझाइए।

उत्तर

समाज की अवधारणा
(Concept of Society)

समाजशास्त्र में 'समाज' (Society) एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवधारणा है। इसे भली-भाँति समझकर ही समाजशास्त्र को ठीक से समझा जा सकता है। जब समाजशास्त्र को 'समाज के विज्ञान' (Science of Society) के रूप में परिभाषित किया जाता है तो ऐसी दशा में इस विज्ञान को सही रूप में समझने की दृष्टि से समाज के निश्चित अर्थ को समझना आवश्यक है। समाज न केवल व्यक्ति के बल्कि पशु-पक्षियों और कीड़े-मकोड़ों तक के जीवन में एक वास्तविकता है। यह कहना पूर्णतया सही है कि जहाँ जीवन है, वहाँ समाज भी है। व्यक्ति और समाज में पारस्परिक निर्भरता काफी मात्रा में पाई जाती है। जहाँ व्यक्ति ने एक-दूसरे के साथ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित कर समाज के निर्माण और विकास में सहायता प्रदान की, वहाँ समाज ने व्यक्ति का समाजीकरण कर उसके व्यक्तित्व के विकास में योग दिया। व्यक्ति को संस्कृति से परिचित कराने में समाज ने सदैव महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। जहाँ व्यक्ति को अपने विकास के लिए समाज के सहयोग की आवश्यकता है, वहाँ समाज को व्यक्ति-व्यक्ति के बीच पनपने वाले सामाजिक सम्बन्धों की। एक के अभाव में दूसरे की कल्पना तक नहीं की जा सकती है।

समाज सामाजिक सम्बन्धों का जाल है : व्याख्यात्मक अध्ययन
(Society is web of relationships : Explanatory Study)

समाजशास्त्र में सामाजिक सम्बन्ध केन्द्रीय अध्ययन-वस्तु है। जब असंख्य सामाजिक सम्बन्धों का जाल अनेक रीतियों एवं सामाजिक मूल्यों द्वारा व्यवस्था में बदल जाता है तो उसे समाज कहते हैं। जब समाज सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था है तो यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि सामाजिक सम्बन्ध क्या हैं, ये कैसे निर्मित होते हैं, क्यों निर्मित होते हैं तथा इनके आधार पर व्यवस्था कैसे पनपती है। इसका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है—

1. **सामाजिक सम्बन्धों का अर्थ**—सामाजिक सम्बन्धों का अर्थ स्पष्ट करते हुए **मैक्स वेबर** ने लिखा है, "सामाजिक सम्बन्ध शब्द का प्रयोग अनेक कर्त्ताओं के ऐसे व्यवहार को स्पष्ट करने के लिए किया जाता है जो अर्थपूर्ण हो तथा एक-दूसरे की क्रियाओं से प्रभावित होता हो।" इस परिभाषा से स्पष्ट है कि सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण करने के लिए (a) अनेक कर्त्ता अर्थात् व्यक्ति हों, (b) ये कर्त्ता परस्पर अर्थपूर्ण व्यवहार करें, तथा (c) एक-दूसरे की क्रियाओं से प्रभावित हों, तथा एक-दूसरे को प्रभावित करें। इस प्रकार जब एक व्यक्ति क्रिया करता है तो वह दूसरे व्यक्ति से प्रत्युत्तर की अपेक्षा भी करता है। इससे क्रिया अर्थपूर्ण हो जाती है जो सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण में योग देती है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जब दो या दो से अधिक व्यक्ति अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं, परस्पर अन्त:क्रिया करते हैं, एक-दूसरे को अर्थपूर्ण ढंग से प्रभावित करते हैं एवं एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं तो सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण करते हैं।

2. **सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण की आवश्यक दशाएँ**—वे आवश्यक तत्त्व या दशाएँ जो सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण के लिए अनिवार्य हैं, इस प्रकार हैं—
   (i) **जीवित व्यक्ति**—सामाजिक सम्बन्ध केवल जीवित व्यक्तियों के साथ ही स्थापित किए जा सकते हैं क्योंकि उनमें ही जागरूकता एवं चेतना होती है और वे ही अर्थपूर्ण सम्बन्ध कायम कर सकते हैं।
   (ii) **सम्पर्क एवं संचार**—सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण के लिए दो या दो से अधिक व्यक्तियों का होना ही पर्याप्त नहीं है वरन् उनके बीच सम्पर्क एवं संचार की व्यवस्था होना भी आवश्यक है।
   (iii) **पारस्परिक जागरूकता**—सामाजिक सम्बन्ध उसी समय बन सकते हैं जब व्यक्तियों के बीच मानसिक अनुभूति या पारस्परिक जागरूकता हो, जब वे परस्पर एक-दूसरे के व्यवहार का कोई अर्थ लगाते हों। जागरूकता एक विशिष्ट प्रकार की मानसिक स्थिति होती है जिसके अभाव में सामाजिक सम्बन्ध कायम नहीं रख सकते।
   (iv) **सामाजिक अन्त:क्रिया**—सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण के लिए व्यक्तियों या समूहों के बीच अन्त:क्रिया का होना भी आवश्यक है। व्यक्ति या समूह जब परस्पर सम्पर्क में आते हैं तो एक-दूसरे को प्रभावित करते एवं एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं। इसी दशा को अन्त:क्रिया कहा जाता है। जब ये सामाजिक अन्त:क्रियाएँ बार-बार होती हैं तो वे स्थिर व प्रतिमानित सामाजिक सम्बन्धों को जन्म देती हैं।
3. **सामाजिक सम्बन्धों की विशेषताएँ**—सामाजिक सम्बन्धों की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—
   (i) **अमूर्त**—सामाजिक सम्बन्ध अमूर्त होते हैं। उनका कोई भौतिक आकार नहीं होता है, जैसा कि टेबिल-कुर्सी, पंखा, घड़ी, पेन आदि का होता है। चूँकि सम्बन्ध मानसिक तथ्य हैं, अत: उन्हें महसूस किया जाता है, वस्तुओं की भाँति नापा-तौला नहीं जा सकता।
   (ii) **जटिल प्रकृति**—सामाजिक सम्बन्धों की प्रकृति बड़ी जटिल होता है। यही कारण है कि कई बार इनके बारे में भविष्यवाणी करना बड़ा कठिन हो जाता है। सामाजिक सम्बन्धों की संख्या भी असंख्य है। इन असंख्य सम्बन्धों के ताने-बाने से ही समाज का निर्माण होता है।
   (iii) **अर्थपूर्ण**—सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाता है। ये व्यक्ति एवं समूह के लिए अर्थपूर्ण होते हैं।
   (iv) **अनिश्चित स्वरूप**—सामाजिक सम्बन्धों का कोई निश्चित रूप नहीं होता है। विभिन्न व्यक्तियों के उद्देश्य, कार्यों, पद एवं भूमिकाओं के अनुसार सामाजिक सम्बन्ध भी अनेक प्रकार के होते हैं। ये आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, शैक्षणिक, मित्रतापूर्ण, विरोधात्मक आदि अनेक प्रकार के हो सकते हैं।
   (v) **स्थायी एवं अस्थायी प्रकृति**—सामाजिक सम्बन्ध स्थायी भी हो सकते हैं, जैसे परिवार के सदस्यों के बीच होते हैं और अस्थायी भी हो सकते हैं, जैसे डॉक्टर व मरीज या दुकानदार व ग्राहक के बीच होते हैं। अस्थायी सम्बन्ध थोड़े समय के लिए होते हैं और उद्देश्यों की प्राप्ति के बाद समाप्त हो जाते हैं।
   (vi) **सहयोगी एवं असहयोगी प्रकृति**—सामाजिक सम्बन्ध दो व्यक्तियों या समूहों के बीच सहयोग के आधार पर भी निर्मित हो सकते हैं और विरोध एवं संघर्ष के आधार पर भी। सम्बन्ध प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष भी हो सकते हैं।

सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण की आवश्यक दशाओं एवं विशेषताओं के विवेचन से स्पष्ट है कि व्यक्ति अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य व्यक्तियों के साथ अन्त:क्रिया करते और सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। ये व्यक्ति विभिन्न प्रकार के सम्बन्धों के आधार पर एक-दूसरे के साथ व्यवहार करते हैं, कुछ क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ करते हैं। उदाहरण के रूप में, पति और पत्नी, पुत्र और माता, अध्यापक और शिष्य, स्वामी और सेवक, अधिकारी और कर्मचारी तथा डॉक्टर एवं मरीज एक-दूसरे के प्रति सामान्यत: एक निश्चित प्रकार का व्यवहार करते हैं जो पारस्परिक अपेक्षाओं या मानवीय अन्त:क्रिया के प्रतिमान पर आधारित होता है। सम्बन्धों के ये विभिन्न प्रकार सामाजिक सम्बन्धों के अन्तर्गत ही आते हैं। आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि विभिन्न क्षेत्रों में व्यक्ति-व्यक्ति के बीच पनपने वाले सभी सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्ध ही हैं। इस प्रकार हजारों या असंख्य सम्बन्धों में व्यक्ति बँधे होते हैं और एक-दूसरे की अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए व्यवहार करते हैं। परिणामस्वरूप सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर जटिल व्यवस्था निर्मित होती है जिसे 'समाज' नाम दिया गया है।

प्र.3. समाज की प्रमुख विशेषताओं एवं तत्त्वों (प्रकृति) का वर्णन कीजिए।

उत्तर

समाज की प्रमुख विशेषताएँ एवं तत्त्व (प्रकृति)
[Main Characteristics and Elements of Society (Nature)]

समाज और उसकी प्रकृति को स्पष्टत: समझने के लिए यहाँ हम उसकी कुछ प्रमुख विशेषताओं पर विचार करेंगे जो निम्नलिखित हैं—

1. **पारस्परिक जागरूकता**—पारस्परिक जागरूकता के अभाव में न तो सामाजिक सम्बन्ध बन सकते हैं और न ही समाज। सम्बन्ध दो प्रकार के होते हैं—सामाजिक एवं भौतिक। इन दोनों प्रकार के सम्बन्धों के बीच प्रमुख अन्तर पारस्परिक जागरूकता का ही है। जहाँ सामाजिक सम्बन्धों का प्रमुख आधार जागरूकता है, वहाँ भौतिक सम्बन्धों में इसका अभाव पाया जाता है। एक टेबिल पर किताबें, डायरी, पेन, पेंसिल आदि रखे हुए हैं। इन सबका टेबिल के साथ एक सम्बन्ध अवश्य है। इसी प्रकार आग और धुएँ का तथा सूर्य व पृथ्वी का सम्बन्ध है, परन्तु ये सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्ध नहीं होकर भौतिक सम्बन्ध हैं क्योंकि इनमें मानसिक दशा अर्थात् पारस्परिक जागरूकता का अभाव है। इसका तात्पर्य यह है कि टेबिल उस पर रखी हुई वस्तुओं और वस्तुएँ टेबिल की उपस्थिति से अपरिचित है। इन सबमें पारस्परिक जागरूकता का अभाव पाया जाता है। जहाँ व्यक्ति पारस्परिक जागरूकता के आधार पर एक-दूसरे के साथ क्रिया-अन्त:क्रिया करते हैं, वहीं सामाजिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं और **सामाजिक सम्बन्धों से ही समाज निर्मित होता है।**
   उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सामाजिक सम्बन्धों के लिए परस्परिक जागरूकता का होना अत्यन्त आवश्यक है।
2. **समाज अमूर्त है**—समाज व्यक्तियों का समूह नहीं होकर उनमें पनपने वाले सामाजिक सम्बन्धों का जाल है। सामाजिक सम्बन्ध अमूर्त हैं। इन्हें न तो देखा जा सकता है और न ही छुआ जा सकता है। इन्हें तो केवल अनुभव किया जा सकता है। अत: सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर निर्मित समाज भी अमूर्त है। यह तो अमूर्त सामाजिक सम्बन्धों की जटिल व्यवस्था है।
3. **समाज में समानता एवं भिन्नता**—समाज में समानता एवं भिन्नता दोनों ही देखने को मिलती हैं। किसी ऐसे समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है, जिसमें पूर्णत: समानता या पूर्ण भिन्नता हो। प्रत्येक समाज में ये दोनों ही बातें अनिवार्यत: पाई जाती हैं। यहाँ हम इन पर पृथक्-पृथक् रूप से विचार करेंगे।
   (i) **समाज में समानता**—जब तक लोगों में किसी-न-किसी मात्रा में समानता की भावना नहीं होगी, तब तक उनका एक-दूसरे से सम्बन्धित होने या इकट्ठा रहने का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी स्थिति में समाज का निर्माण भी नहीं हो सकता। यहाँ समानता का तात्पर्य यह है कि एक समाज के अधिकांश सदस्यों का प्रमुख सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में समान दृष्टिकोण पाया जाता है। साथ ही वे समाज द्वारा स्वीकृत लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु मिल-जुलकर कार्य करते हैं। जो लोग कुछ मात्रा में शरीर और मस्तिष्क की दृष्टि से समान हैं तथा जो एक-दूसरे के निकट हैं, उन्हीं में समाज पाया जाता है। **गिडिंग्स** ने 'समानता (सजातीयता) की चेतना' (Consciousness of Equality) को समाज का आधार माना है। आदिम या प्रारम्भिक छोटे व सरल समाजों में समानता का आधार नातेदारी या रक्त-सम्बन्ध था। अब यह आधार काफी विस्तृत हो गया है। अब राष्ट्रीयता समानता का एक मुख्य आधार है।
   (ii) **समाज में भिन्नता (असमानता)**—समाज में समानता के साथ-साथ भिन्नता भी पाई जाती है। **मैकाइवर** तथा **पेज** के अनुसार, यदि सभी लोग पूर्णत: समान होते, तो उनके सामाजिक सम्बन्ध चींटियों या मधुमक्खियों के जैसे काफी सीमित होते। ऐसी दशा में उनमें आपसी लेन-देन या पारस्परिक आदान-प्रदन बहुत कम होता। लिंग-भेद असमानता का एक उदाहरण है और इसी भेद के कारण सन्तानोत्पत्ति सम्भव हो पाई। समाज में असमानताओं के पाए जाने के कारण ही प्रत्येक एक-दूसरे से कुछ-न-कुछ लेता और बदले में कुछ देता है। यह बात परिवार, मित्रमण्डली, समूह, समिति, समुदाय सभी में पाई जाती है। सभी प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों में भिन्नता या असमानता की महत्त्वपूर्ण भूमिका देखने को मिलती है।
   (iii) **समाज में भिन्नता (असमानता) समानता के अधीन है**—समाज में श्रम-विभाजन पहले सहयोग है और फिर विभाजन। इसका तात्पर्य यह है कि समान उद्देश्यों (समानता) की पूर्ति के लिए लोग एक-दूसरे के साथ सहयोग करते हैं, परन्तु उद्देश्यों को प्रभावपूर्ण ढंग से प्राप्त करने के लिए वे आपस में कार्यों को बाँट लेते (विभाजन) हैं। समान आवश्यकताओं के कारण ही असमान कार्यों को पूरा करने के लिए लोग एकत्र होकर एक-दूसरे के साथ

सहयोग करते हैं। उदाहरण के रूप में, कुछ व्यापारी लाभ कमाने के उद्देश्य से साझेदारी के सम्बन्धों में बँध जाते हैं और मिलकर व्यापार करते हैं।

4. **समाज में सहयोग एवं संघर्ष**—प्रत्येक समाज में सहयोग और संघर्ष सार्वभौमिक प्रक्रियाओं के रूप में पाए जाते हैं। सरल या आदिम समाज से लेकर आधुनिक जटिल समाज तक में सहयोग और संघर्ष पाया जाता रहा है। मनुष्यों और समूहों को अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक-दूसरे के साथ सहयोग करना पड़ता है, लेकिन जहाँ वे सहयोग से ऐसा नहीं कर पाते, वहाँ संघर्ष का सहारा भी लेते हैं। इन दोनों का पृथक्-पृथक् रूप में अध्ययन निम्न प्रकार है—
   (i) **सहयोग**—प्रत्येक कार्य या उद्देश्य में सफलता का आधार सहयोग ही है। पारिवारिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, आदि क्षेत्रों में हर समय सहयोग देखने को मिलता है। सहयोग के अभाव में न कोई परिवार अपने इच्छित लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है और न ही कोई राजनीतिक दल। चुनावों में कई राजनीतिक दलों की हार का एक प्रमुख कारण उनके सदस्यों में सहयोग का अभाव ही है। किसी भी कार्य में सफलता सहयोग पर ही निर्भर करती है।
   (ii) **संघर्ष**—समाज में सहयोग के साथ-साथ संघर्ष भी देखने को मिलता है। संघर्ष का प्रमुख कारण शारीरिक या वैयक्तिक भिन्नताएँ, सांस्कृतिक भिन्नताएँ, विरोधी स्वार्थ या स्वार्थों का टकराना एवं तीव्र गति से होने वाले सामाजिक परिवर्तन हैं। लोगों में रुचि, स्वभाव, चरित्र, व्यक्तित्व, रहन-सहन, वेश-भूषा, आचार-विचार सम्बन्धी भेद पाए जाते हैं। इसी प्रकार लोग अलग-अलग धर्मों, सम्प्रदायों या मत-मतान्तरों से सम्बन्धित होते हैं। एक समाज और दूसरे समाज की संस्कृति में भी अन्तर पाया जाता है। साथ ही लोगों या समूहों के एक-दूसरे के विपरीत स्वार्थ भी होते हैं, अर्थात् कई बार उनके स्वार्थ आपस में टकराते हैं। सामाजिक परिवर्तन की तेज गति के कारण भी व्यक्ति और समूह कई बार बदलती हुई नवीन परिस्थितियों के साथ अनुकूलन नहीं कर पातें। ये विभिन्न प्रकार की भिन्नताएँ, स्वार्थ एवं सामाजिक परिवर्तन संघर्ष के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी हैं। मानव समाज में सहयोग के समान संघर्ष भी मानव सभ्यता के विकास के प्रत्येक स्तर पर देखने को मिलता है।
5. **समाज अन्योन्याश्रितता पर आधारित**—अन्योन्याश्रितता समाज की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता है। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अन्योन्याश्रितता समाज की उत्पत्ति एवं विकास में एक आधारभूत तत्त्व है। वास्तव में यह मानव जीवन, सभ्यता एवं उन्नति का प्रमुख आधार है। मनुष्य को अपनी प्राणिशास्त्रीय या शारीरिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए दूसरों के साथ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करना और उन पर निर्भर रहना पड़ता है। एक समाज के विभिन्न सदस्यों को अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक-दूसरे पर निर्भर रहना पड़ता है। आदिम से आदिम और छोटे एवं सरल से सरल प्रकार के समाजों में भी व्यक्ति को यौन-सन्तुष्टि, शिकार एवं जीवन-रक्षा के लिए दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। आधुनिक जटिल समाजों में तो श्रम-विभाजन के बढ़ने से मनुष्य और साथ ही समाज के विभिन्न अंगों की एक-दूसरे पर निर्भरता और भी बढ़ गई है।
6. **समाज सदैव परिवर्तनशील एवं जटिल व्यवस्था है**—समाज की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता इसकी सदैव परिवर्तनशील प्रकृति है। सामाजिक परिवर्तन एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। विभिन्न कारणों से सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन आता रहता है, व्यक्तियों की प्रस्थितियाँ एवं भूमिकाएँ बदलती रहती हैं, पारस्परिक अपेक्षाओं में भी समय के साथ-साथ बदलाव आता रहता है। इन सबके परिणामस्वरूप समाज बदलता है, समाज की सामाजिक संरचना में परिवर्तन आता है। कोई भी समाज आज ठीक वैसा समाज नहीं है जैसा वह एक हजार वर्ष पहले था या एक हजार वर्ष पश्चात् होगा। साथ ही समाज एक जटिल व्यवस्था है जो अनेक प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों से निर्मित है।
7. **समाज मनुष्यों तक ही सीमित नहीं है**—समाज केवल मनुष्यों तक ही सीमित नहीं होकर पशुओं में भी पाए जाते हैं। **मैकाइवर** एवं **पेज** ने ठीक ही कहा है कि "जहाँ कहीं जीवन है, वहीं समाज है।" इसका तात्पर्य यही है कि सभी जीवधारियों के अपने-अपने समाज होते हैं। चींटियों तथा मधुमक्खियों के भी समाज होते हैं। इनमें एवं अनेक अन्य पशु-पक्षियों में सामाजिक जीवन की अनेक विशेषताएँ देखने को मिलती हैं। इतना आवश्यक है कि मनुष्य के अतिरिक्त अन्य जीवधारियों में सामाजिक जागरूकता बहुत ही कम और सामाजिक सम्पर्क बहुत ही अल्पकालीन होता है। जहाँ सामाजिक या पारस्परिक जागरूकता का अभाव है, वहाँ समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उच्च स्तर के पशुओं; जैसे— हाथी, गाय तथा नर-वानरों के निश्चित समाज होते हैं। इनके जीवन में पारस्परिकता और सहयोग के तत्त्व पाए

जाते हैं। लेकिन चेतन रूप में पारस्परिक जागरूकता के आधार पर सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना केवल मनुष्य ही कर पाता है। यही कारण है कि **समाजशास्त्र के अन्तर्गत हम केवल मानव-समाज का ही अध्ययन करते हैं।**

प्र.4. समुदाय का अर्थ एवं परिभाषा स्पष्ट कीजिए तथा समुदाय की विशेषताएँ बताइए।

उत्तर

समुदाय का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Community)

शाब्दिक दृष्टि से समुदाय के अर्थ पर विचार करने पर हम पाते हैं कि अंग्रेजी का 'Community' (समुदाय) शब्द दो लैटिन शब्दों—'Com' तथा 'Munis' से बना है। 'Com' शब्द का अर्थ 'together' अर्थात् 'एक साथ से' और 'Munis' का अर्थ 'serving' अर्थात् 'सेवा' करने से है। इन शब्दों के आधार पर समुदाय का तात्पर्य "साथ-साथ मिलकर सेवा करने से है।" अन्य शब्दों में, समुदाय का अर्थ व्यक्तियों के ऐसे समूह से है जो निश्चित भू-भाग पर साथ-साथ रहते हैं और किसी एक उद्देश्य के लिए नहीं बल्कि सामान्य उद्देश्यों के लिए इकट्ठे रहते हैं, उनका सम्पूर्ण जीवन सामान्यत: यहीं व्यतीत होता है। **मैकाइवर एवं पेज** के शब्दों में, **"समुदाय सामान्य जीवन का क्षेत्र है।"**

समुदाय को परिभाषित करते हुए **बोगार्डस** ने लिखा है, "एक समुदाय एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसमें कुछ अंशों में 'हम की भावना' पाई जाती है तथा जो एक निश्चित क्षेत्र में रहता है।"

जार्ज लुण्डबर्ग तथा अन्य ने समुदाय को परिभाषित करते हुए लिखा है, "एक मानव जनसंख्या को एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करती है और जो सामान्य एवं अन्योन्याश्रित जीवन व्यतीत करती है।"

मैकाइवर तथा **पेज** के अनुसार, "जब किसी छोटे या बड़े समूह के सदस्य साथ-साथ इस प्रकार रहते हैं कि वे किसी विशेष हित में ही भागीदार नहीं होकर सामान्य जीवन की मूलभूत दशाओं या स्थितियों में भाग लेते हों तो ऐसे समूह को समुदाय कहा जाता है।" स्पष्ट है कि आपने समुदाय को एक ऐसा क्षेत्रीय समूह माना है जो एक सामान्य जीवन जीता है।

ऑगबर्न तथा **निमकॉफ** के अनुसार, "एक सीमित क्षेत्र में सामाजिक जीवन के सम्पूर्ण संगठन को समुदाय कहा जाता है।"

डेविस के अनुसार, "समुदाय सबसे छोटा ऐसा क्षेत्रीय समूह है जिसमें सामाजिक जीवन के समस्त पहलू आ जाते हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि **समुदाय सामान्य सामाजिक जीवन में भागीदार लोगों का एक ऐसा समूह है जो किसी निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करता है और जिसमें हम की भावना या सामुदायिक भावना पाई जाती है।**

समुदाय के आधार (आवश्यक तत्त्व) एवं विशेषताएँ
[Basies (Essential Elements) and Characteristics of Community]

विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर समुदाय की निम्नांकित विशेषताएँ (आधार या तत्व) प्रकट होती हैं—

1. **व्यक्तियों का समूह**—किसी समुदाय के लिए व्यक्तियों का समूह प्रथम आवश्यक है। व्यक्तियों के बिना न तो सामान्य सामाजिक जीवन की कल्पना की जा सकती है और न ही सामुदायिक भावना की। अत: व्यक्तियों का समूह समुदाय के निर्माण के लिए प्रथम प्रमुख आधार है। तुलनात्मक दृष्टि से यह एक बड़ा सामाजिक समूह है।
2. **निश्चित भौगोलिक क्षेत्र**—प्रत्येक समुदाय के लिए एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र का होना भी आवश्यक है। जब तक कोई समूह निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास नहीं करता, तब तक उसे समुदाय नहीं कहा जा सकता। किसी गाँव, नगर या राष्ट्र को इसलिए समुदाय कहा जाता है कि इनमें से प्रत्येक का अलग-अलग निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है। एक क्षेत्र विशेष में लम्बे समय तक साथ-साथ रहने और जीवन की सामान्य गतिविधियों में भाग लेने से लोगों में अपनत्व की भावना पनपती है। वे इस समूह विशेष को अपना समूह समझते हैं। निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में एक-दूसरे के निकट रहने के कारण ही लोगों में अन्त:क्रिया की मात्रा बढ़ती है जो सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण की दृष्टि से आवश्यक है।
3. **सामुदायिक भावना**—इसे 'हम की भावना' (We-feeling) के नाम से पुकारते हैं। समुदाय के निर्माण के लिए सामुदायिक भावना का होना भी अत्यन्त आवश्यक है। सामुदायिक भावना का तात्पर्य 'हम सब एक हैं', 'यह समुदाय हमारा है', 'यह अन्य समुदायों से भिन्न है', 'इसके सुख-दुख में हम सभी समान रूप से भागीदार हैं', 'हम सब दृढ़ता के सूत्र में बँधे हुए हैं' आदि से है। सामान्यत: प्रत्येक समुदाय अन्य समुदायों के सन्दर्भ में एक संगठित इकाई के रूप में कार्य करता है। जब तक किसी निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करने वाले लोगों में यह सामुदायिक भावना नहीं पनपती तब

तक उसे समुदाय नहीं कहा जा सकता। **सामुदायिक भावना के अन्तर्गत प्रमुखत: तीन बातें पाई जाती हैं**—(i) **हम की भावना की अभिव्यक्ति,** (ii) **योगदान या दायित्व निर्वाह की भावना,** (iii) **निर्भरता की भावना।**

वर्तमान समय में औद्योगीकरण, श्रम-विभाजन, विशेषीकरण, नगरीकरण, यातायात और संचार के साधनों के विकास, भौगोलिक दूरी में कमी, एक ही विश्व का दृष्टिकोण, जनसंख्या की तीव्र वृद्धि एवं जनसंख्या में विविधता, व्यक्तिगत स्वार्थ का बढ़ना तथा द्वैतीयक सम्बन्धों की प्रधानता आदि कारणों से सामुदायिक भावना में कमी आती जा रही है, विशेषत: नगरीय समुदायों में।

4. **स्वत: विकास**—समुदाय का निर्माण कुछ लोगों के द्वारा जान-बूझकर या नियोजित प्रयत्नों द्वारा नहीं किया जाता। इसका तो समय के बीतने के साथ-साथ स्वत: ही विकास होता है। जब कुछ लोग किसी स्थान विशेष पर रहने लगते हैं तो धीरे-धीरे उनमें हम की भावना पनपती है और वे वहाँ रहने वाले सभी लोगों के समूह को अपना समूह समझने लगते हैं। इस प्रकार की भावना के विकसित होने पर वह समूह समुदाय का रूप ग्रहण कर लेता है।
5. **स्थायीपन**—इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक समुदाय एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में स्थायी रूप से रहता है। किसी भी अस्थायी समूह; जैसे—भीड़, श्रोता समूह या खानाबदोश झुण्ड को समुदाय नहीं माना जाता क्योंकि इनके साथ भौगोलिक क्षेत्र स्थायी रूप से जुड़ा नहीं होता।
6. **विशिष्ट नाम**—प्रत्येक समुदाय का अपना एक विशिष्ट नाम होता है जो उस समुदाय के लोगों में 'हम की भावना' जाग्रत करने और उसे बनाये रखने में योग देता है। प्रत्येक समुदाय के नाम के साथ एक विशिष्ट इतिहास जुड़ा होता है जो उसे एक व्यक्तित्व प्रदान करता है।
7. **मूर्तता**—समुदाय एक मूर्त समूह है। इसका कारण यह है कि एक निश्चित भू-भाग पर बसे मनुष्यों के एक समूह के रूप में हम इसे देख सकते हैं। यद्यपि समुदाय से सम्बन्धित विभिन्न नियमों को तो नहीं देखा जा सकता, परन्तु मनुष्यों के समूह के रूप में इसे अवश्य देखा जा सकता है।
8. **व्यापक उद्देश्य**—समुदाय का विकास किसी एक या कुछ विशिष्ट उद्देश्यों के लिए नहीं होता। यह तो व्यक्तियों के जीवन की विभिन्न गतिविधियों का केन्द्र-स्थल है। समुदाय के उद्देश्य इस दृष्टि से भी व्यापक हैं कि यह किसी व्यक्ति विशेष, समूह विशेष या वर्ग विशेष के हित या लक्ष्यों की पूर्ति के लिए कार्य नहीं करके सभी व्यक्तियों एवं समूहों के सभी प्रकार के लक्ष्यों की पूर्ति हेतु कार्य करता है।
9. **सामान्य जीवन**—प्रत्येक समुदाय के कुछ सामान्य रीति-रिवाज, परम्पराएँ, विश्वास, उत्सव, त्योहार एवं संस्कार आदि होते हैं जो उस समुदाय के लोगों के जीवन में एकता उत्पन्न करने में योग देते हैं। समुदाय में ही व्यक्ति की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। यहीं उसका सम्पूर्ण जीवन व्यतीत होता है। इस दृष्टि से समुदाय सामान्यताओं का एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ व्यक्ति इस या उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए नहीं बल्कि अपना सारा जीवन बिताने के लिए रहता है।
10. **सामान्य नियम-व्यवस्था**—**गिन्सबर्ग** ने नियमों की सामान्य व्यवस्था को समुदाय की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता माना है। सामान्य नियमों के माध्यम से लोगों के व्यवहार को निर्देशित किया जाता है, उन पर नियन्त्रण रखा जाता है। सामान्य नियमों से निर्देशित होने के कारण ही एक समुदाय विशेष के लोगों के व्यवहारों में बहुत कुछ समानता देखने को मिलती है।
11. **आत्म-निर्भरता**—समुदाय को एक आत्म-निर्भर समूह माना गया है जो अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं ही कर लेता है। इसका तात्पर्य यह है कि उसे किसी अन्य समुदाय पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं पड़ती। समुदाय की यह विशेषता आदिम समुदायों, जनजातीय समुदायों या छोटे समुदायों में पाई जा सकती है, वर्तमान समय के बड़े समुदायों में नहीं।
12. **अनिवार्य सदस्यता**—प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी समुदाय का सदस्य अवश्य होता है। वह किसी-न-किसी क्षेत्र विशेष में अन्य लोगों के निकट रहता है, उनके साथ अन्त:क्रिया करता है। उसे अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किसी-न-किसी क्षेत्रीय-समूह अर्थात् समुदाय में रहना पड़ता है। एक क्षेत्र विशेष में लम्बी अवधि तक लोगों के साथ रहने से उसमें अपने समुदाय के प्रति एक लगाव या अपनत्व का भाव पैदा हो जाता है।

TOUCH 'n' PASS

प्र.5. समुदाय की अवधारणा स्पष्ट कीजिए तथा सीमावर्ती समुदायों के उदाहरण दीजिए।

उत्तर

समुदाय की अवधारणा
(Concept of Community)

यह सामान्य भाषा में प्रचलित शब्द है जिसका प्रयोग कई बार जाति विशेष, धर्म विशेष या सम्प्रदाय विशेष के लोगों के समूह के लिए किया जाता है, जैसे ब्राह्मण समुदाय, ईसाई समुदाय, हिन्दू समुदाय, सिख समुदाय, जैन समुदाय आदि। परन्तु समाजशास्त्र में 'समुदाय' शब्द का प्रयोग इन अर्थों में नहीं किया गया है। समाजशास्त्र में किसी गाँव, कस्बे, नगर, महानगर तथा देश को समुदाय माना जाता है। इन सभी समूहों के साथ एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र जुड़ा हुआ है। जयपुर, दिल्ली, लखनऊ, कानपुर, इन्दौर, भोपाल, उज्जैन, ग्वालियर आदि नगरों के अपने-अपने निश्चित भौगोलिक प्रदेश हैं, निश्चित क्षेत्र हैं, जहाँ व्यक्तियों का एक समूह सामान्यत: स्थायी रूप में निवास करता है। कोई भी गाँव, प्रान्त और देश अपने आप में एक समुदाय है। समुदाय एक क्षेत्रीय अवधारणा है। प्रत्येक समुदाय में कुछ लोग निवास करते हैं, अपना सम्पूर्ण जीवन जीते हैं, किसी एक या कुछ उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नहीं बल्कि जीवन के सभी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए। अपनी सब प्रकार की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए समुदाय सामान्यत: अपने आप में आत्म-निर्भर होता है, अपने सदस्यों की विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ होता है। समुदाय में व्यक्ति अपने विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए रहता है। व्यक्ति के जीवन के सभी क्रिया-कलाप समुदाय में ही होते हैं। इसलिए समुदाय को सम्पूर्णता का क्षेत्र कहा गया है।

सीमावर्ती समुदायों के कुछ उदाहरण
[Borderline Communities : Some Examples]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ग्राम, **जनजातीय समूह (जो एक क्षेत्र विशेष में बसा हो), कस्बा, नगर, राष्ट्र आदि समुदाय के उदाहरण हैं।** इनमें समुदाय के प्रमुख आधार और अनेक विशेषताएँ मौजूद हैं। इनके अतिरिक्त, कुछ समूह अथवा संगठन ऐसे हैं जिनके सम्बन्ध में भ्रम पाया जाता है कि वे समुदाय हैं अथवा नहीं। इसका कारण यह है कि उनमें समुदाय की कुछ विशेषताएँ तो पाई जाती हैं और कुछ नहीं। ऐसे समूह जिनके समुदाय होने के सम्बन्ध में कुछ भ्रम हैं, परन्तु जिनमें समुदाय की कुछ विशेषताएँ मौजूद हैं, सीमावर्ती समुदायों के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार के समुदायों के उदाहरण निम्न प्रकार हैं—

1. **क्या जाति एक समुदाय है**—जाति को हम समुदाय के अन्तर्गत नहीं रख सकते क्योंकि इसमें समुदाय की कुछ विशेषताओं का अभाव पाया जाता है, जैसे—(i) जाति का कोई निश्चित भू-भाग नहीं होता, (ii) इसमें सामुदायिक भावना का सामान्यत: अभाव पाया जाता है।
2. **क्या जेल (बन्दीगृह) एक समुदाय है**—जेल व्यक्तियों का एक समूह है और साथ ही इसका एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र भी होता है। जेल में निवास करने वाले लोगों में कुछ मात्रा में सामुदायिक भावना भी पाई जाती है। इन आधारों पर **मैकाइवर एवं पेज ने जेल को समुदाय माना है।** परन्तु हम मैकाइवर और पेज के जेल को समुदाय मानने के मत से पूर्णत: असहमत हैं। जेल में जब समुदाय की अनेक विशेषताएँ नहीं पाई जातीं तो इसे समुरदाय कैसे माना जा सकता है। इसे समुदाय नहीं मानने के निम्नलिखित कारण हैं : (i) जेल के कैदियों में हम की भावना का अभाव पाया जाता है। (ii) जेल के सभी लोग सामान्य जीवन में भागीदार नहीं होते। (iii) व्यक्ति के जीवन के सभी पक्ष जेल में अभिव्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकते हैं। (iv) जेल का स्वत: विकास नहीं होता है। (v) जेल में समुदाय के समान स्थायित्व का भी अभाव पाया जाता है।
3. **क्या पड़ोस एक समुदाय है**—आदिम समाजों में पड़ोस में समुदाय की विशेषताएँ पाई जाती थीं। कुछ गाँवों में पड़ोस आज भी समुदाय के रूप में महत्त्वपूर्ण है परन्तु अब ऐसे समुदायों की संख्या नहीं के बराबर है। पहले पड़ोस एक निश्चित क्षेत्र में पीढ़ी-दर-पीढ़ी निवास करने वाले परिवारों को एक समूह था जिसमें सामुदायिक भावना थी। परन्तु आज के आधुनिक जटिल नगरीकृत समाजों में पड़ोस को निम्न कारणों से समुदाय नहीं माना जा सकता क्योंकि : (i) पड़ोस सामान्यताओं का क्षेत्र नहीं है। (ii) पड़ोस में हम की भावना का अभाव पाया जाता है। (iii) पड़ोस का स्वत: विकास भी नहीं होता। (iv) पड़ोस में नियमों की सामान्य व्यवस्था नहीं पाई जाती है।

किसी राजनीतिक दल, आर्थिक संगठन, धार्मिक संघ, विद्यार्थी समूह, कर्मचारी संघ, क्लब, परिवार आदि को समुदाय नहीं माना जा सकता क्योंकि इनमें समुदाय के आवश्यक आधारों एवं विशेषताओं का अभाव पाया जाता है।

प्र.6. संस्था से आप क्या समझते हैं? संस्था की विशेषताओं एवं कार्यों की विवेचना कीजिए।

उत्तर

संस्था
(Institution)

समिति और संस्था दोनों ही एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं और दोनों को ही एक-दूसरे के सन्दर्भ में ही ठीक प्रकार से समझा जा सकता है। समिति व्यक्तियों का एक समूह है जो एक या कुछ उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बनाया जाता है जबकि संस्था इन्हीं उद्देश्यों को पूरा करने हेतु नियमों एवं कार्य-प्रणाली की एक व्यवस्था है। संस्था को कार्य करने का समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त एक निश्चित ढंग भी कहा जा सकता है। जिन उद्देश्यों को लेकर समिति बनाई जाती है, उन्हीं की पूर्ति के लिए अपनाई जाने वाली कार्य-प्रणाली को संस्था कहा जाता है। उदाहरण के रूप में, परिवार एक समिति है जिसका मुख्य लक्ष्य यौन इच्छाओं की पूर्ति, सन्तानोत्पत्ति, बालकों का पालन-पोषण और सदस्यों की विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करना है। इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए विवाह नामक संस्था पाई जाती है।

संस्था की परिभाषा एवं अर्थ (Definition and Meaning of Institution)

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, "संस्थाएँ सामूहिक क्रिया की विशेषता व्यक्त करने वाली कार्य-प्रणाली के स्थापित स्वरूप अथवा अवस्था को कहते हैं।"

आगबर्न एवं निमकॉफ के अनुसार, "कुछ आधारभूत मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि हेतु संगठित एवं स्थापित प्रणालियाँ सामाजिक संस्थाएँ हैं।"

बोगार्डस के अनुसार, "एक सामाजिक संस्था समाज की ऐसी संरचना है जिसे मुख्यत: सुस्थापित प्रणालियों के द्वारा लोगों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए संगठित किया गया हो।"

गिलिन एवं गिलिन के अनुसार, "सामाजिक संस्था कुछ सांस्कृतिक विशेषताओं को प्रकट करने वाले वे नियम हैं जिनमें काफी स्थायित्व होता है और जिनका कार्य सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है।"

रॉस के अनुसार, "सामाजिक संस्थाएँ सर्वमान्य इच्छा द्वारा सुस्थापित या स्वीकृत संगठित मानव सम्बन्धों का समूह हैं"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि **सामाजिक संस्थाएँ मनुष्यों की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप में विकसित नियमों, विधि-विधानों एवं कार्य-प्रणालियों का वह संगठित रूप है जो समाज द्वारा मान्य है।**

संस्था का उद्विकास (Evolution of Institution)—

संस्था के उद्विकास (Evolution) **को हम तालिका के रूप में निम्न प्रकार समझा सकते हैं—**

1.	विचार	व्यक्तिगत
2.	विचार + विचार अनुसार आचरण एवं पुनरावृत्ति	आदत
3.	आदत + समूह द्वारा पुनरावृत्ति	जनरीति
4.	जनरीति + भूतकालीन अनुभव	प्रथा
5.	प्रथा + समूह की स्वीकृति + सामूहिक कल्याण + उपयोगिता	रूढ़ि (लोकाचार)
6.	रूढ़ि + एक निश्चित संरचना (ढाँचा)	संस्था

संस्था की विशेषताएँ (Characteristics of Institution)

गिलिन एवं गिलिन ने संस्था की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है—

1. **सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था में संस्था का एक इकाई के रूप में कार्य**—हैमिल्टन ने संस्था को सामाजिक रीति-रिवाजों का एक गुच्छा कहा है। जब जनरीतियाँ, प्रथाएँ और रूढ़ियाँ अधिक विकसित हो जाती हैं, जब इन्हें समाज स्वीकृति प्रदान कर देता है और इनसे सम्बन्धित कई नियम बन जाते हैं तो ये ही कालान्तर में संस्था का रूप ग्रहण कर लेते हैं।
2. **नियमों व कार्य-प्रणालियों की व्यवस्था**—संस्था व्यक्तियों का समूह नहीं होकर नियमों एवं कार्य-प्रणालियों की एक व्यवस्था है। नियमों तथा कार्य-प्रणालियों को विचारों, जनरीतियों, प्रथाओं, रूढ़ियों, लिखित व अलिखित कानूनों आदि के रूप में देखा जा सकता है।
3. **अमूर्त प्रकृति**—चूँकि संस्था व्यक्तियों का समूह नहीं होकर नियमों व कार्य-प्रणालियों की एक व्यवस्था है, अत: इसे मूर्त रूप में नहीं देखा जा सकता। इसकी प्रकृति अमूर्त है और यह व्यक्तियों को अनेक रूपों में प्रभावित करती है।

4. **अधिक स्थायित्व**—संस्थाओं का विकास एक लम्बी अवधि के बाद होता है और वह भी उस समय जब कार्य के विशिष्ट तरीके अपनी उपयोगिता प्रमाणित कर देते हैं। इसी कारण संस्थाएँ काफी लम्बे समय तक चलती हैं, इनका शीघ्रता से विनाश नहीं होता। उदाहरण के रूप में, सैकड़ों वर्षों से चली आ रही जाति-व्यवस्था का अस्तित्व भारतीय समाज में आज भी बना हुआ है।
5. **एक या अनेक सुस्पष्ट उद्देश्य**—प्रत्येक संस्था के एक या कुछ निश्चित उद्देश्य होते हैं। ये उद्देश्य प्रमुख मानवीय आवश्यकताओं से सम्बन्धित होते हैं। उदाहरण के रूप में, विवाह की संस्था के कुछ सुस्पष्ट उद्देश्य हैं, यद्यपि विभिन्न समाजों में इनमें कुछ अन्तर पाए जाते हैं।
6. **सांस्कृतिक उपकरण**—प्रत्येक संस्था से सम्बन्धित कुछ भौतिक एवं अभौतिक उपकरण होते हैं जो संस्था के उद्देश्यों की दृष्टि से उपयोगी होते हैं। उदाहरण के रूप में, भवन, फर्नीचर, औजार, मशीन आदि संस्था के भौतिक तथा विचार, आदर्श, मूल्य तथा कार्यप्रणाली आदि अभौतिक उपकरण हैं। हिन्दू-समाज में होम-वेदी, मण्डप, कलश, धूप, नैवेद्य, चावल, जप तथा मन्त्र आदि विवाह-संस्था से सम्बन्धित भौतिक एवं अभौतिक तत्व हैं।
7. **प्रतीक**—प्रत्येक संस्था का अपना एक प्रतीक होता है जो कि भौतिक अथवा अभौतिक हो सकता है। उदाहरण के रूप में, 'क्रॉस' चर्च का और 'ओ३म्' आर्यसमाज का प्रतीक है।

संस्था के कार्य, महत्त्व व उदाहरण
(Functions, Importance and Examples of Institutions)

संस्थाएँ निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण कार्य करती हैं—

1. **मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति एवं कार्य की दिशा**—प्रत्येक संस्था का विकास किसी-न-किसी मानवीय आवश्यकता को लेकर होता है। इसी कारण संस्थाओं को मानवीय आवश्यकता की पूर्ति के साधन के रूप में देखा जाता है। **शिक्षण-संस्था, विवाह-संस्था एवं परिवार नामक संस्थाएँ मनुष्यों की कुछ प्रमुख आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं।**
2. **व्यक्तियों के कार्य को सरल बनाती हैं**—संस्था मानव व्यवहार के सभी आचरणों को एक सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करके यह स्पष्ट करती है कि व्यक्तियों को क्या कार्य करना है अथवा उनके कार्यों की दिशा क्या होनी चाहिए। इस प्रकार संस्था कार्य करने की एक निश्चित विधि या प्रणाली का निर्धारण कर देती है।
3. **व्यवहारों में अनुरूपता**—संस्था से सम्बन्धित एक निश्चित कार्यप्रणाली, कुछ नियम एवं परम्पराएँ होती हैं। व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इन्हीं का सहारा लेता है। जब एक समूह के लोग अपनी कुछ विशिष्ट संस्थाओं के नियमों एवं परम्पराओं को ध्यान में रखते हुए व्यवहार करते हैं तो उनके व्यवहारों में अनुरूपता या समानता होना स्वाभाविक ही है।
4. **व्यवहारों पर नियन्त्रण**—संस्थाएँ सामाजिक नियन्त्रण का प्रमुख साधन हैं। प्रत्येक संस्था व्यक्तियों के कार्य की दिशा अथवा व्यवहार का एक तरीका निश्चित कर उन्हें उसी के अनुरूप कार्य करने का आदेश देती है। **परिवार और जाति नामक संस्थाएँ हजारों वर्षों से अनेक रूपों में अपने सदस्यों के व्यवहारों को नियन्त्रित करती रही हैं।**
5. **संस्कृति की वाहक**—संस्था संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। संस्थाओं के माध्यम से ही संस्कृति की रक्षा होती है, उसे स्थायित्व प्राप्त होता है। **परिवार संस्कृति के हस्तान्तरण का एक प्रमुख साधन है।**
6. **स्थिति एवं कार्य का निर्धारण**—संस्था व्यक्ति को स्थिति (पद) प्रदान करने और उससे सम्बन्धित कार्य (भूमिका) का निर्धारण करने का महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। **विवाह-संस्था के द्वारा एक पुरुष को पति की और स्त्री को पत्नी की प्रस्थिति प्राप्त होती है तथा साथ ही इनसे सम्बन्धित कार्य भी निर्धारित होते हैं।**
7. **सामाजिक परिवर्तन में सहायक**—संस्थाएँ प्रकृति से ही रूढ़िवादी होती हैं और इनमें शीघ्रता से कोई परिवर्तन नहीं आ पाता है, परन्तु परिस्थितियों के बदल जाने पर परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार संस्थाओं में बदलाव आना आवश्यक हो जाता है। ऐसी दशा में संस्थाएँ बदलती हैं। समय के साथ-साथ संस्थाओं को बदलने का प्रयत्न भी किया जाता है, जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक परिवर्तन सम्भव हो पाता है।

प्र.7. समिति से क्या आशय है? समिति की परिभाषा, अर्थ एवं विशेषताओं (लक्षण) का वर्णन कीजिए।

उत्तर

समिति
(Association)

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और इस रूप में उसकी असंख्य आवश्यकताएँ हैं। अपने अस्तित्व को बनाए रखने और समुदाय में अपने जीवन को ठीक प्रकार से चलाने के लिए इन आवश्यकताओं की पूर्ति आवश्यक है। अपनी इन विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति कई तरीके अपना सकता है। अपने कुछ लक्ष्यों की पूर्ति के लिए अन्य लोगों के साथ मिलकर उनके साथ सहयोग करके किसी संगठन की स्थापना करके कार्य करना ही समिति को जन्म देना है। इस प्रकार स्पष्ट है कि **जब कुछ लोग मिलकर अपनी आवश्यकताओं या उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सहयोग करते हैं, संगठन बनाकर प्रयत्न करते हैं तो ऐसे संगठन को ही समिति कहा जाता है।**

समिति की परिभाषा एवं अर्थ (Definition and Meaning of Association)

''**मैकाइवर** एवं **पेज** के अनुसार, ''समिति मनुष्यों का एक समूह है जिसे किसी सामान्य उद्देश्य या उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए संगठित किया गया है।''

फेयरचाइल्ड के अनुसार, ''समिति एक ऐसा संगठनात्मक समूह है जिसका निर्माण सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया गया है जिसका अपना आत्मनिर्भर प्रशासकीय ढाँचा तथा कार्यकर्ता होते हैं।''

गिन्सबर्ग के अनुसार, ''समिति एक-दूसरे से सम्बद्ध सामाजिक प्राणियों का समूह है जो इस सत्य पर आधारित है कि उन्होंने किसी निश्चित हित या हितों को पूरा करने के लिए एक सामान्य संगठन बनाया है।''

ऑगबर्न एवं **निमकॉफ** के अनुसार, ''समिति एक ऐसा संगठन है, जो प्राय: विशेष स्वार्थों की पूर्ति के लिए बनाया जाता है। इसका उद्देश्य अपने सदस्यों की विशेष या सामान्य इच्छाओं की सन्तुष्टि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।''

संक्षेप में, समिति को मनुष्यों के विचारपूर्वक बनाए गए एक ऐसे संगठन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसके एक या कुछ उद्देश्य होते हैं और साथ ही जिसकी अपनी एक कार्यकारिणी भी होती है।

समिति की विशेषताएँ (लक्षण) (Characteristics of Association)

समिति की उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर इसकी प्रमुख विशेषताओं या लक्षणों को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—

1. **व्यक्तियों का समूह**—समिति का निर्माण कुछ व्यक्ति मिलकर करते हैं क्योंकि व्यक्ति मूर्त प्राणी है, अत: समिति एक मूर्त संगठन है।
2. **निश्चित उद्देश्य**—समिति के एक या कुछ निश्चित उद्देश्य होते हैं। कुछ व्यक्ति अपने सामान्य हितों को लेकर ही एक समिति का गठन करते हैं। किसी उद्देश्यहीन समूह को समिति नहीं कहा जा सकता।
3. **विचारपूर्वक स्थापना**—समिति एक विचारपूर्वक स्थापित किया हुआ संगठन माना जाता है। जब कुछ लोग सामूहिक रूप से मिलकर अपने किसी उद्देश्य या कुछ उद्देश्यों को पूरा करना चाहते हैं तो वे एक संगठन का निर्माण करते हैं जिसे समिति कहा जाता है।
4. **एक निश्चित संगठन**—प्रत्येक समिति का एक निश्चित संगठन होता है। संगठन के अभाव में कोई भी समिति अपने उद्देश्यों को ठीक से प्राप्त नहीं कर सकती। किसी भी भीड़ को संगठन के अभाव में समिति नहीं कहा जा सकता।
5. **नियमों पर आधारित**—प्रत्येक समिति के अपने कुछ नियम, उपनियम आदि होते हैं, जिनके माध्यम से सदस्यों के आचरण को नियमित किया जाता है। ऐसे नियमों में सदस्यता सम्बन्धी योग्यता, सदस्यता-शुल्क, कार्य-प्रणाली आदि आते हैं।
6. **ऐच्छिक सदस्यता**—किसी भी समिति का सदस्य बनना या नहीं बनना पूर्णत: व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करता है। वह अपने हित या रुचि के अनुसार किसी भी समिति का सदस्य बन सकता है और जब चाहे तब सदस्यता से त्यागपत्र भी दे सकता है।
7. **अस्थायी प्रकृति**—समिति साधारणत: कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विचारपूर्वक बनाई जाती है और उन उद्देश्यों के पूरा होने पर उस समिति को समाप्त कर दिया जाता है। उदाहरण के रूप में, शिक्षण-संस्थाओं में छात्र कुछ माँगों को

लेकर विद्यार्थी संघर्ष समिति का गठन करते हैं और अपना आन्दोलन चलाते हैं। उन माँगों के पूरा हो जाने पर संघर्ष-समिति भंग कर दी जाती है।

8. **औपचारिक सम्बन्ध**—समिति के सदस्यों के बीच पाए जाने वाले सम्बन्धों की प्रकृति औपचारिक होती है। व्यक्ति अपने विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न समितियों की सदस्यता ग्रहण करता है और इन समितियों के सभी सदस्यों के साथ वह सामान्यत: घनिष्ठता के सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाता।
9. **साध्य नहीं होकर साधन**—कोई भी समिति साधारणत: कुछ उद्देश्यों की पूर्ति का साधन मात्र होती है, अपने आप में साध्य नहीं। कोई व्यक्ति किसी क्लब का सदस्य मनोरंजन सम्बन्धी उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनता है तो क्लब उसके मनोरंजन का साधन है, न कि अपने आप में साध्य।

प्र.8. सामाजिक समूह का अर्थ, परिभाषा एवं विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर

सामाजिक समूह का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Social Group)

सामाजिक समूह ऐसे व्यक्तियों का एक संग्रह है जिनके बीच किसी-न-किसी प्रकार का सम्बन्ध पाया जाता है। समूह का अर्थ स्पष्ट करते हुए **मैकाइवर** एवं **पेज** ने लिखा है, "समूह से हमारा तात्पर्य व्यक्तियों के किसी भी ऐसे संग्रह से है जो एक-दूसरे के साथ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं।" **ऑगबर्न** एवं **निमकॉफ** ने बताया है, "जब कभी दो या दो से अधिक व्यक्ति एक-साथ मिलते और एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हैं तो वे एक समूह का निर्माण करते हैं।

हेरी एम० जॉनसन समूह के निर्माण के लिए व्यक्तियों में आपसी सहयोग को आवश्यक मानते हैं।

मर्टन के अनुसार, समूह के लिए निम्न बातों का होना आवश्यक है—

1. दो या दो से अधिक व्यक्तियों का होना।
2. इनमें सामाजिक सम्बन्ध का पाया जाना। यह सम्बन्ध व्यक्तियों में बार-बार अन्त:क्रिया से ही बनता है।
3. व्यक्ति के किसी समूह का सदस्य माना जाने के लिए यह आवश्यक है कि वह स्वयं अपने को किसी समूह विशेष का सदस्य समझे, उसके प्रति 'हम की भावना' रखे। साथ ही यह भी आवश्यक है कि समूह के अन्य सदस्य तथा दूसरे समूह भी उसे उस समूह विशेष का सदस्य समझें।

बोगार्डस के अनुसार, "एक सामाजिक समूह दो या अधिक व्यक्तियों की एक ऐसी संस्था को कहते हैं जिनका ध्यान कुछ सामान्य उद्देश्यों पर हो और जो एक-दूसरे को प्रेरणा दें, जिनमें भक्ति हो और जो सामान्य क्रियाओं में सम्मिलित हों।"

स्पष्ट है कि **जब दो या दो से अधिक व्यक्ति पारस्परिक रूप से एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं तथा किन्हीं सामान्य हितों के लिए एक-दूसरे के साथ अर्थपूर्ण अन्त:क्रियाओं के द्वारा सम्बन्ध स्थापित करते हैं तो एक समूह का निर्माण होता है।**

सामाजिक समूह की विशेषताएँ
(Characteristics of Social Group)

फिचर तथा **अन्य** विद्वानों ने सामाजिक समूह की निम्नांकित विशेषताओं का उल्लेख किया है—

1. **व्यक्तियों का समूह**—किसी भी समूह का निर्माण एक अकेले व्यक्ति द्वारा नहीं हो सकता। इसके लिए दो या दो से अधिक व्यक्तियों का होना आवश्यक है। इस सन्दर्भ में **गिलिन** एवं **गिलिन** लिखते हैं, "समूह की आधारभूत विशेषता दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्पर्क का होना है।"
2. **कार्य विभाजन**—प्रत्येक समूह का निर्माण किसी-न-किसी उद्देश्य के कारण ही होता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए समूह के सदस्यों में कार्य-विभाजन कर दिया जाता है।
3. **सामान्य रुचि**—किसी भी समूह की स्थापना उन्हीं व्यक्तियों द्वारा होती है जिनकी रुचि एवं हित सामान्य हों। विरोधी हितों वाले व्यक्ति समूह का निर्माण नहीं कर सकते।
4. **समूह में एकता**—कोई समूह, समूह के रूप में उसी समय तक कायम रह सकता है जब तक उसके सदस्यों में एकता की भावना पाई जाती हो। इसके अभाव में समूह टूट जाता है। अत: सदस्यों में एकता एवं 'हम की भावना' होना आवश्यक है।

5. **ऐच्छिक सदस्यता**—समूह की सदस्यता ऐच्छिक होती है। व्यक्ति सभी समूहों का सदस्य नहीं बनता वरन् उन्हीं समूहों की सदस्यता ग्रहण करता है जिनमें उसके हितों, आवश्यकताओं एवं रुचियों की पूर्ति होती हो।
6. **संस्तरीकरण**—समूह में सभी व्यक्ति समान पदों पर नहीं होते वरन् वे अलग-अलग प्रस्थिति एवं भूमिका निभाते हैं। अत: समूहों में पदों का उतार-चढ़ाव पाया जाता है। पदों के उच्चता एवं निम्नता के इस क्रम को ही संस्तरण कहते हैं।
7. **सामूहिक आदर्श**—प्रत्येक समूह में सामूहिक आदर्श एवं प्रतिमान पाए जाते हैं जो सदस्यों के पारस्परिक व्यवहारों को निश्चित करते हैं एवं उन्हें एक स्वरूप प्रदान करते हैं। प्रत्येक सदस्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह समूह के आदर्शों एवं प्रतिमानों; जैसे—प्रथाओं, कानूनों, लोकाचारों, जनरीतियों आदि का पालन करें।
8. **स्थायित्व**—समूह में थोड़ी-बहुत मात्रा में स्थायित्व भी पाया जाता है। यद्यपि कुछ समूह अपने उद्देश्यों की पूर्ति के बाद ही समाप्त हो जाते हैं, फिर भी वे इतने अस्थिर नहीं होते कि आज बने और कल समाप्त हो गए।
9. **समझौता**—किसी भी समूह की स्थापना तभी सम्भव है जब उसके सदस्यों में समूह के उद्देश्यों, कार्य-प्रणाली, स्वार्थ-पूर्ति, नियमों आदि को लेकर आपस में समझौता हो।
10. **ढाँचा**—प्रत्येक समूह की एक संरचना या ढाँचा होता है अर्थात् उसके नियम, कार्य-प्रणाली, अधिकार, कर्त्तव्य, पद एवं भूमिकाएँ आदि तय होते हैं और सदस्य उन्हीं के अनुसार आचरण करते हैं।
11. **सामाजिक सम्बन्ध**—समूह में केवल व्यक्तियों का होना ही पर्याप्त नहीं है वरन् उनके बीच सामाजिक सम्बन्धों का होना भी अनिवार्य है।
12. **जागरूकता**—मैकाइवर एवं पेज ने पारस्परिकता एवं जागरूकता को समूह के आवश्यक तत्व के रूप में स्वीकार किया है। एक समूह के सदस्यों में परस्पर सहानुभूति एवं सहयोग की भावना पाई जाती है।
13. **आदान-प्रदान**—एक समूह के सदस्य अपने विचारों का ही आदान-प्रदान नहीं करते वरन् एक-दूसरे के कष्ट में सहयोग एवं सहायता भी करते हैं। सहयोग एवं आदान-प्रदान से ही समूह के सदस्य अपने सामान्य हितों की पूर्ति कर पाते हैं।

प्र.9. द्वितीयक समूह का अर्थ, परिभाषा एवं विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर

द्वितीयक समूह
(Secondary Group)

चार्ल्स कूले ने केवल प्राथमिक समूह की अवधारणा का उल्लेख किया है। इसके उपरान्त द्वितीयक समूह की अवधारणा का विकास हुआ। द्वितीयक समूह सभ्य और विकसित समाज की देन है जहाँ सम्बन्धों में आत्मीयता एवं घनिष्ठता का अभाव पाया जाता है तथा जीवन औपचारिकताओं से भरा होता है। सामाजिक जटिलता में वृद्धि ने द्वितीयक समूहों को जन्म दिया है।

द्वितीयक समूह : अर्थ एवं परिभाषा (Secondary group : Meaning and Definition)

जार्ज सी० होमन्स तथा **किंग्सले डेविस** आदि विद्वानों ने द्वितीयक समूह पर प्रकाश डाला है। **प्रो० डेविस** ने द्वितीयक समूह के सम्बन्ध में लिखा है, **"द्वितीयक समूहों को स्थूल रूप से सभी प्राथमिक समूहों के विपरीत कहकर परिभाषित किया जा सकता है।"**

बीरस्टीड ने बताया है, **"वे सभी समूह द्वितीयक हैं जो प्राथमिक नहीं हैं।"**

ऑगबर्न एवं **निमकॉफ** ने लिखा है, **"द्वितीयक समूह उन्हें कहते हैं जिनमें प्राप्त अनुभवों में घनिष्ठता का अभाव होता है। आकस्मिक सम्पर्क ही द्वितीयक समूह का सारतत्व है।"**

लुण्डबर्ग उन समूहों को द्वितीयक समूह मानते हैं जिनमें सदस्यों के सम्बन्ध अवैयक्तिक, हित प्रधान एवं व्यक्तिगत योग्यता पर आधारित होते हैं।

फेयरचाइल्ड के अनुसार, **"समूह का वह रूप जो अपने सामाजिक सम्पर्क और औपचारिक संगठन की मात्रा में प्राथमिक समूहों की घनिष्ठता से भिन्न हो, द्वितीयक समूह है।"**

उपर्युक्त परिभाषाओं से ज्ञात होता है कि **द्वितीयक समूह वे समूह हैं जिनमें सदस्यों के बीच अवैयक्तिक सम्बन्ध पाए जाते हैं। व्यक्तिगत रूप में सदस्यों को जानना यहाँ आवश्यक नहीं है। ऐसे समूहों में शारीरिक निकटता भी अनिवार्य नहीं है। ये सम्बन्ध अनौपचारिक प्रकार के, जीवन के किसी एक पक्ष से सम्बन्धित, अस्थायी प्रकार के, विशेष हितों पर आधारित और**

हस्तान्तरणीय होते हैं। यहाँ एक व्यक्ति के स्थान पर दूसरे का हस्तान्तरण सुगमता से किया जा सकता है। ये समूह विशेष उद्देश्यों की पूर्ति हेतु बनाए जाते हैं, उद्देश्यों के पूर्ण होने पर ये समाप्त हो जाते हैं। इन समूहों में उच्च तथा निम्न प्रकार की परिस्थितियाँ देखने को मिलती हैं। द्वितीयक समूह के सदस्यों के सम्बन्धों में स्थायित्व तथा निरन्तरता का अभाव पाया जाता है। ऐसे समूहों के सदस्य अपने आपको दृढ़ भावनात्मक सम्बन्धों में बँधा हुआ नहीं पाते हैं, इनमें स्नेह, सहानुभूति तथा दूसरों के हित को अपना समझने की प्रवृत्ति साधारणत: नहीं पाई जाती। स्कूल, कॉलेज, राजनीतिक दल, मजदूर संघ एवं राष्ट्र आदि द्वितीयक समूहों के ही उदाहरण हैं। इनमें विशेष नियमों के आधार पर सदस्यता प्राप्त की जाती है। द्वितीयक समूहों का आकार और क्षेत्र काफी विस्तृत होता है। इन समूहों की सदस्य संख्या हजारों, लाखों तक हो सकती है। इनमें साधारणत: संचार के माध्यम द्वारा सदस्यों में सम्पर्क स्थापित होता है। द्वितीयक समूहों के सदस्यों में घनिष्ठता का अभाव पाया जाता है। इन समूहों में व्यक्ति को नहीं बल्कि उसके कार्य को महत्त्व दिया जाता है।

सभी द्वितीयक सम्पर्क समझौते की प्रकृति के होते हैं। इस प्रकार के सम्पर्क में सदस्य समझौते की शर्तों के अनुसार बँधे रहते हैं। सदस्यों के व्यवहार में औपचारिक नियम, विधियाँ एवं परम्पराएँ पाई जाती हैं। इनके माध्यम से सदस्यों के व्यवहार को नियन्त्रित किया जाता है। सदस्यों के अधिकार व कर्तव्य समझौते की शर्तों द्वारा निर्धारित होते हैं। इन समूहों का संगठन योजनाबद्ध प्रकार का होता है।

द्वितीयक समूह के सफल संचालन के लिए आवश्यक है कि सदस्यों में समूह के प्रति कुछ अपनत्व, त्याग एवं निष्ठा का भाव हो। इनके अभाव में कोई भी विश्वविद्यालय, श्रमिक संघ अथवा राजनीतिक दल पूर्ण कुशलता के साथ काम नहीं कर सकता। **प्रो० किंग्सले डेविस** ने बताया है कि समूह में निष्ठा और एकात्मकता अपने आप विकसित नहीं होती। ये संचार के परिणामस्वरूप एक व्यक्ति से दूसरे में विकसित होती हैं, विशेष रूप से ऐसे संचार के द्वारा जो निकट व्यक्तिगत सम्बन्धों में पाया जाता है। इस कारण बड़े द्वितीयक समूहों के अस्तित्व के लिए प्राथमिक समूह अनिवार्य हैं। आज अनेक अध्ययनों के आधार पर डेविस का यह कथन प्रमाणित होता जा रहा है। प्राथमिक समूहों में 'मैं' के स्थान पर व्यक्ति 'हम' की भावना से प्रेरित होता है। यहाँ व्यक्ति में अनेक मानवोचित गुणों; जैसे—प्रेम, सहानुभूति, दया, त्याग, आदि का विकास होता है जिनकी आवश्यकता द्वितीयक समूहों में भी रहती है। यदि प्राथमिक समूहों में व्यक्ति का समाजीकरण उत्तमता के साथ हुआ है, तो वह द्वितीयक समूहों के कार्य-संचालन में अधिक सफल हो सकता है, अधिक सक्रियता के साथ उनमें भाग ले सकता है। इन्हीं सब बातों को देखते हुए चार्ल्स कूले ने परिवार को समाज का आधार और क्रीड़ा समूह को भावी नागरिक का सर्वोत्तम विद्यालय माना है।

उपर्युक्त विवेचन से द्वितीयक समूह की कुछ विशेषताएँ स्वत: ही स्पष्ट हो जाती हैं। ये विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं—

द्वितीयक समूहों की विशेषताएँ (Characteristics of Secondary Groups)

1. ये समूह जान-बूझकर कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संगठित किए जाते हैं।
2. इन समूहों में सदस्यों का एक-दूसरे को व्यक्तिगत रूप से जानना आवश्यक नहीं है। यहाँ संचार के साधनों द्वारा सदस्यों के बीच सम्बन्ध स्थापित होते हैं।
3. इन समूहों में शारीरिक निकटता का अभाव पाया जाता है।
4. इनका आकार प्राथमिक समूहों की तुलना में काफी विस्तृत होता है।
5. ये समूह व्यक्ति के जीवन के किसी पहलू विशेष से सम्बन्धित होते हैं, अत: ये व्यक्तित्व के किसी एक पक्ष को ही साधारणत: प्रभावित कर पाते हैं।
6. इन समूहों में सदस्यों के उत्तरदायित्व सीमित होते हैं।
7. इनमें सम्बन्ध संविदा या समझौते की प्रकृति के होते हैं जो निश्चित नियमों एवं शर्तों के आधार पर बनते हैं।
8. सम्बन्धों में औपचारिकता पाई जाती है। यहाँ व्यक्ति के बजाय प्रस्थिति का महत्त्व ज्यादा होता है।
9. यहाँ सम्बन्धों में घनिष्ठता का अभाव पाया जाता है। यहाँ व्यक्ति के बीच 'छुओ और जाओ' (Touch and go) के सम्बन्ध होते हैं।
10. ये समूह सदस्यों की विशिष्ट आवश्यकताओं को लेकर बनते हैं। अत: इनका स्वत: विकास नहीं होता। जैसे ही आवश्यकताएँ बदलती हैं, उनके साथ ही इन समूहों की प्रकृति में भी परिवर्तन आ जाता है।

प्र.10. मानव एवं पशु समाज की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

***अथवा* मानव एवं पशु समाज से आप क्या समझते हैं? विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।**

उत्तर

मानव एवं पशु समाज की अवधारणा
(Concept of Human and Animal Society)

समाज एवं सामाजिक व्यवस्था केवल व्यक्तियों में ही नहीं होती अपितु अन्य जीवों पशु-पक्षियों आदि में भी समाज पाया जाता है। डार्विन के अनुसार मानव आज जहाँ तक पहुँचा है वह निम्न स्तर के जीवधारियों की शारीरिक संरचना में होने वाले क्रमिक परिवर्तनों के कारण ही सम्भव हो सका है। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं है कि मानव एवं पशु समाज एक ही है। दोनों में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। मानव समाज से पशु समाज को भिन्नता प्रदान करने वाला मुख्य आधार संस्कृति है। संस्कृति मानव समाज को महत्त्वपूर्ण बनाती है। पशु समाज में इसी आधार (संस्कृति) का अभाव पाया जाता है। समाज किसी का भी हो उसे अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति अनिवार्य होती है। **किंग्सले डेविस** के अनुसार यह आवश्यकताएँ निम्नलिखित हैं—

(i) जनसंख्या का प्रतिपालन, (पोषण का प्रबन्ध, क्षति के विरुद्ध संरक्षण तथा नई चीजों का पुनरुत्थान); (ii) जनसंख्या के बीच कार्य-विभाजन; (iii) समूह का संगठन (सदस्यों के बीच सम्पर्क की प्रेरणा तथा पारस्परिक सहिष्णुता की प्रेरणा); (iv) सामाजिक व्यवस्था की निरन्तरता।

समाज में मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति विभिन्न सामाजिक साधनों के प्रयोग से की जाती है। ऐसी आवश्यकताएँ दो प्रकार के निर्धारित सामाजिक प्रतिमानों से पूर्ण होती हैं—आनुवंशिकता एवं संस्कृति द्वारा। इन्हीं प्रतिमानों के ही आधार पर समाज को दो प्रमुख श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था एवं जैविक सामाजिक व्यवस्था। सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था में प्रतिमानों का निर्धारण संस्कृति के माध्यम से होता है। इसे **मानव समाज** कह सकते हैं। वहीं जैविक सामाजिक व्यवस्था में आनुवंशिकता द्वारा मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रतिमान निर्धारित होते हैं। यह **मानवविहीन** या **पशु समाज** कहलाता है।

मानव समाज (Human Society)

मनुष्य एवं पशु दोनों ही जन्मजात प्रवृत्तियों में परस्पर बँधे होते हैं। परन्तु मनुष्य स्वयं का विकास सामाजिक बन्धन एवं रीतियों के द्वारा करता है। मनुष्य अपने विकास के लिए योग्यता और संसाधनों का सदुपयोग करता है जिससे वह प्रत्येक परिस्थिति में स्वयं को समायोजित कर लेता है। **डेविस** के अनुसार मानव समाज में जैविक व्यवस्था के रूप में नर-वानर समाज की सामान्य विशेषताएँ होती हैं लेकिन सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था के कारण समाज में सांस्कृतिक स्तर पर परिवर्तन, परिवर्द्धन तथा संसोधन होता है। संस्कृति ही व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन निर्धारित करती है। मानव, संस्कृति के माध्यम से ही कानून तथा गैर कानून, विवाह तथा यौन सम्बन्ध तथा सता एवं प्रभुसत्ता में अन्तर करना सीखता है। समाजशास्त्र में संस्कृति केवल सामाजिक जीवन तक सम्बन्धित है। यह केवल सामाजिक संगठन एवं सामाजिक व्यवहार से सम्बन्धित पहलुओं का चयन करता है। समाजशास्त्री अधिकांशत: सामाजिक अन्तर्क्रियाओं, लोकरीतियों, लोकाचारों, कानून आदि से सम्बन्ध रखते हैं।

पशु समाज (Animal Society)

पशुओं में निम्न स्तर के गुण पाए जाते हैं। उनमें चेतना का भाव नहीं होता है या कम होता है। वह बौद्धिक क्षमता का पूर्ण उपयोग नहीं कर पाते हैं। पशु बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। पशुओं में आदर्शों, मनोवृत्तियों, व्यवहारों का भाव नहीं होता है। पशुओं में सीखने व अन्त:क्रिया करने की क्षमता निम्न होती है। पशु अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति आनुवंशिकता के आधार पर करते हैं। इनमें जैविक सामाजिक व्यवस्था एक समान नहीं होती है। सभी मानव विहीन समाज जैविक सामाजिक होते हैं। इनके जीवों में विभिन्नता पाई जाती है। **उदाहरण के लिए,** दीमकों में बहुत स्पष्ट रूप से श्रम-विभाजन और पारस्परिक सहयोग पाया जाता है। जबकि यही लक्षण अपेक्षाकृत दीमकों के तथा चिड़ियों के समूहों में बहुत कम स्पष्ट होते हैं। इनमें (चिड़ियों) व्यवहार एवं समय के साथ लचीलापन अधिक पाया जाता है। किंग्सले डेविस ने, पशु समाज को निम्नलिखित तीन श्रेणियों में विभक्त किया है—

1. कीड़ों/कीट पतंगों का समाज 2. स्तनधारी समाज 3. नर-वानर समाज

उपर्युक्त तीनों समाजों का संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित रूप में किया गया है—

1. **कीड़ों/कीट पतंगों का समाज**—इस समाज में टिड्डा, पतंगा, दीमक एवं चींटी आदि शामिल हैं। इनके समस्त लक्षण वंशानुक्रम द्वारा प्राप्त लक्षणों पर आधारित होते हैं। ये स्वयं के व्यवहार में कोई परिवर्तन नहीं ला सकते हैं। इस समाज में

जीवों की एकता भावना केवल खाद्यपूर्ति तक सीमित रहती है। इनमें श्रम-विभाजन भी पाया जाता है, परन्तु ये उससे अनभिज्ञ रहते हैं। स्तनपाई समाज की तुलना में इस समाज के एक ही योनि के जीवों में शारीरिक भिन्नता अपेक्षाकृत अधिक होती है। **उदाहरण के लिए,** कारबार चींटियों में श्रमिक चींटी की अपेक्षा रानी चींटी बड़ी होती है। इस समाज के जीवों की सदस्य संख्या अधिक होती है। हालाँकि जीवन अवधि बहुत कम होती है जिससे इनमें स्थायित्व कम होता है। इनमें समझ की भी कमी होती है।

2. **स्तनधारी समाज**—पशु समाज में स्तनधारी समाज की अलग ही विशेषता होती है। यह पशु स्तनपान से बड़े होते हैं। इस समाज के नर-मादा पशुओं में कोई विशेष अन्तर नहीं पाया जाता है। विशेषकर शारीरिक दृष्टि से इनमें बहुत कम अन्तर पाया जाता है; जैसे—गाय-बैल, नर-चिम्पैजी-मादा चिम्पैजी, ऊँट-ऊँटनी आदि की शारीरिक संरचना बाह्य रूप से समान होती है। कीट समाज में यह विशेषता नहीं पाई जाती है। स्तनधारी पशु प्रजनन शक्ति से युक्त होते हैं। जबकि कीट समाज में सभी प्रजनन शक्ति से युक्त नहीं होते हैं। स्तनधारी समाज में स्थायित्व रहता है क्योंकि ये एक बार में कुछ ही बच्चों को जन्म देते हैं और इससे इन पशुओं का समाज छोटा हो जाता है। यह पशु अपना अनुकूलन वातावरण के साथ स्थापित कर सकते हैं और सामाजिक सीख स्वानुभव के आधार पर कर सकते हैं।
3. **नर-वानर समाज**—यह समाज स्तनधारी समाज से उच्च स्तर की अवस्था है। डार्विन द्वारा तो नर-वानरों में मानव को भी शामिल कर लिया गया है। डेविस ने नर-वानरों में बिना पूँछ वाले लंगूर (गोरिल्ला, औरंगटान, चिम्पांजी) और बन्दर आदि को शामिल किया है। नर-वानर समाज की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—
   (i) **संचार प्रक्रिया**—संचार की प्रक्रिया नर-वानर समाज में अधिक पाई जाती है। नर-वानर समाज के पशु एक विशेष प्रकार की बोली के माध्यम से, शारीरिक क्रियाओं के माध्यम से या चेहरे के भाव-प्रदर्शन द्वारा स्वयं के विचार प्रस्तुत करते हैं।
   (ii) **शारीरिक एवं मानसिक संरचना**—ये पशु मानसिक एवं शारीरिक दृष्टि से विकसित होते हैं। इनका शैशवकाल अन्य प्रकार के पशुओं की अपेक्षा अधिक लम्बा होता है। ये प्राकृतिक परिस्थितियों से उचित ढंग से अनुकूलन कर लेते हैं। मस्तिष्क विकसित होने के कारण मौसम का प्रभाव इनके यौन व्यवहारों पर नहीं पड़ता है। ये दूसरों का अनुकरण कर यौन सम्बन्ध नहीं बनाते हैं बल्कि प्रेरित होकर बनाते हैं। प्राणियों का व्यवहार परिपक्वतापूर्ण होता है।
   (iii) **प्रभुत्व की भावना**—इस प्रकार के समाज में पशु प्रभुत्व की भावना युक्त होते हैं। जुकर मैन (Zukerman) के अनुसार नर-वानर समाज में प्रभुत्व की भावना पाई जाती है। लेकिन स्तनधारी समाज में इसका अभाव पाया जाता है। सभी नर-वानर समाज में अपने नेता के आदेशों एवं आज्ञाओं का उल्लंघन करने पर उसे समाज से निकाल दिया जाता है।
   (iv) **सीमित परिवार**—नर-वानर समाज का शैशवकाल अधिक लम्बा होने के कारण मादा पशु एवं बच्चों का सम्पर्क अधिक स्थायी होता है। प्रजनन कम होने के कारण परिवार में पशुओं की संख्या कम होने से आकार छोटा हो जाता है।

प्र.11. मानव एवं पशु समाज में पाए जाने वाले अन्तरों की विस्तृत व्याख्या कीजिए।

उत्तर

मानव और पशु समाज में अन्तर
(Distinction Between Human and Animal Society)

मानव समाज और पशु समाज को समझने के लिए इन दोनों में पाए जाने वाले अन्तरों को जानना आवश्यक है। इन अन्तरों को हम दो रूपों में प्रकट कर सकते हैं—शारीरिक या प्राणिशास्त्रीय अन्तर, तथा सामाजिक-सांस्कृतिक अन्तर।

(अ) मानव और पशु समाज में शारीरिक अथवा प्राणिशास्त्रीय अन्तर
(Physical or Biological Distinction between Human and Animal Society)

मानव और पशु समाज में शारीरिक रचना के आधार पर अनेक भिन्नताएँ पाई जाती हैं। फिर भी दोनों में कई समानताएँ भी हैं। यही कारण है कि मानव शारीरिक रचना को समझने के लिए वैज्ञानिक बन्दर, चूहे, कुत्ते, बिल्ली आदि जीवों की चीर-फाड़ और उन पर विभिन्न प्रकार के परीक्षण करते हैं। मानव और पशु दोनों ही विषमलिंगी अर्थात् नर व मादा होते हैं, दोनों में ही कामेच्छा पाई जाती है, दोनों में ही मस्तिष्क होता है, दोनों में ही मनोवैज्ञानिक गुण एवं संवेदनशीलता होती है, दोनों में ही प्रजनन क्षमता होती है।

कोहलर का मत है कि बन्दरों में भी मानव की भाँति ही प्रेम, घृणा, सहयोग, सहानुभूति, भिन्नता, ईर्ष्या, प्रसन्नता, निराशा, मृत्यु होने पर दु:ख तथा सामूहिक एकता के भाव पाए जाते हैं। दोनों ही विशेष प्रकार के संकेत के माध्यम से अपनी इन भावनाओं को अभिव्यक्त भी करते हैं। इन समानताओं को देखकर ही **प्रो० डेविस** तथा **सैम्युल कोइंग** कहते हैं कि मानव और पशु समाज में पाया जाने वाला शारीरिक अन्तर मात्रा का है न कि प्रकार का। **शारीरिक आधार पर मानव और पशु समाज में पाए जाने वाले प्रमुख अन्तर निम्न प्रकार हैं—**

1. **मस्तिष्क के विकास के आधार पर अन्तर**—अन्य जीवों की तुलना में मानव मस्तिष्क अधिक विकसित एवं जटिल है, इसमें दस अरब नाड़ियाँ होती हैं जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इसकी संरचना से सम्बन्धित हैं। मानव की खोपड़ी की क्षमता 1450 cc है जो सभी जीवों से अधिक है। यही कारण है मानव मस्तिष्क अधिक विकसित, संगठित और सन्तुलित होता है। मानवेतर प्राणियों का मस्तिष्क न तो इतना विकसित ही है और न इतना जटिल ही। चतुर-से-चतुर प्राणियों का मस्तिष्क भी मानव मस्तिष्क के एक-तिहाई भाग से अधिक विकसित नहीं होता है। विकसित मस्तिष्क के कारण ही मानव हजारों प्रकार के आविष्कार तथा संस्कृति का निर्माण करने में सक्षम हुआ है।
2. **बोलने की क्षमता के आधार पर अन्तर**—मानव ही एक ऐसा प्राणी है जो स्पष्ट रूप से शब्दों का उच्चारण कर सकता है और बोल सकता है। अन्य प्राणी केवल विशेष प्रकार की आवाजें ही निकाल सकते हैं, किन्तु अपने भावों को बोलकर भाषा द्वारा प्रकट नहीं कर सकते। मानव के पास भाषा है जिसके द्वारा वह अपनी क्रिया और व्यवहारों को व्यक्त करता है तथा अपने भावों को अभिव्यक्ति प्रदान करता और अन्य लोगों तक पहुँचाता है।
3. **खड़े होने की क्षमता के आधार पर अन्तर**—मानव ही एक ऐसा प्राणी है जो दो पाँवों पर सीधा खड़ा हो सकता है जबकि अन्य प्राणी चारों हाथ-पाँवों के सहारे खड़े होते हैं, वे मनुष्य की तरह सीधे खड़े नहीं हो सकते। दो पैरों पर खड़े होने के कारण मानव के हाथ अन्य कार्यों के लिए स्वतन्त्र होते हैं जिनके सहारे वह बोझा उठा सकता है और कई निर्माण-कार्य कर सकता है।
4. **हाथों की बनावट और क्रियाशीलता के आधार पर अन्तर**—मानव के दोनों हाथ स्वतन्त्र रूप से क्रियाशील रहते हैं और वे मस्तिष्क के निर्देशानुसार पैरों से स्वतन्त्र रूप में कार्य कर सकते हैं। मानव हाथ की रचना में अँगूठे की विशिष्ट स्थिति होती है जिससे वह किसी भी वस्तु को आसानी व मजबूती से पकड़ और किसी भी दिशा में घुमा सकता है। मनुष्य के हाथों में अधिक लचीलापन पाया जाता है जबकि पशुओं के हाथ इन्हें खड़े रखने में योग देते हैं, पंजों या पाँवों का उपयोग वे मानव के हाथ की तरह नहीं कर सकते और न ही उनके आगे के पाँव इतने लचीले व क्रियाशील होते हैं। उच्चकोटि के बन्दरों में भी हाथ में अँगूठे की स्थिति अंगुलियों की सीध में ही होती है। अत: वे भी किसी वस्तु को मानव की तरह आसानी व मजबूती से नहीं पकड़ सकते।
5. **अन्य शारीरिक विशेषताओं के आधार पर अन्तर**—उपर्युक्त शारीरिक भिन्नताओं के अतिरिक्त मानव और पशु समाज की शारीरिक विशेषताओं में कुछ और अन्तर भी पाए जाते हैं जो निम्न प्रकार हैं—
   (i) मानव के शरीर पर बाल कम होते हैं, जबकि पशुओं के शरीर पर अधिक। बालों की कमी के कारण मानव में स्फूर्ति होती है और वह सर्दी-गर्मी तथा मौसम के प्रभाव से बचने एवं अपनी सुरक्षा के लिए कृत्रिम उपाय करता है।
   (ii) **मनुष्य के होंठ छोटे व पतले तथा जबड़ा व दाँत छोटे होते हैं जबकि पशुओं के बड़े।** मनुष्य व पशुओं के नाक व ललाट की बनावट में भी अन्तर पाया जाता है। अत: वह पशुओं की अपेक्षा किसी भी कार्य को सुविधापूर्वक कर सकता है।
   (iii) मानव अपनी दृष्टि को एक स्थान पर केन्द्रित कर सकता है। इससे वह पढ़ना-लिखना व ध्यान को एक बिन्दु पर केन्द्रित कर सकता है जबकि पशुओं में यह गुण नहीं है।
   (iv) मानव की गरदन की रचना भी विशिष्ट है जिसे वह आसानी से इधर-उधर घुमा सकता है।
   (v) सभी नस्ल के मनुष्यों की शरीर रचना लगभग एक जैसी होती है जबकि प्रत्येक जाति के पशु की शरीर रचना विशिष्ट होती है। हाथी, घोड़ा, बन्दर, कुत्ता, गधा, गाय व बैल के शरीर की रचना एक-दूसरे से भिन्न होती है। इसी तरह से मानव और पशु के रंग, रूप व आकार में भी कई भेद पाए जाते हैं। स्पष्ट है कि शारीरिक दृष्टि से मानव और पशु में बहुत कुछ भिन्नताएँ हैं।

(ब) मानव और पशु समाज में सामाजिक-सांस्कृतिक अन्तर
(Socio-cultural Distinction between Human and Animal Society)

मानव और पशु समाज में शारीरिक भिन्नताएँ इतनी अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं जितनी कि सामाजिक-सांस्कृतिक भिन्नताएँ। पशु समाज की एकता व संगठन का आधार उनकी जैविक विशेषताएँ हैं जबकि मानव समाज की एकता व संगठन का आधार उनकी सामाजिक-सांस्कृतिक विशेषताएँ हैं। **प्रो० डेविस** मानव और पशु समाज में भेद के लिए शारीरिक भेद की अपेक्षा सांस्कृतिक भेद ही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। पशु समाज की अधिकांश क्रियाएँ प्राणिशास्त्रीय आवश्यकताओं और विशेषताओं पर निर्भर रहती हैं जबकि मानव समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक आवश्यकताओं और विशेषताओं पर। मानव और पशु समाज के बीच पाए जाने वाले सामाजिक-सांस्कृतिक अन्तर निम्न प्रकार हैं—

1. **सामाजिक जागरूकता में अन्तर**—मानव अपने अधिकारों, दायित्वों, कर्त्तव्यों, भूत, वर्तमान और भविष्य के प्रति जागरूक व चेतन होता है जबकि पशु समाज नहीं होता।
2. **स्मरण शक्ति में अन्तर**—मानव में स्मरण शक्ति पाई जाती है। वह भूतकाल की घटनाओं को याद रखने की क्षमता रखता है। पशुओं में मानव के समान स्मरण शक्ति नहीं पाई जाती।
3. **सोचने-विचारने के आधार पर अन्तर**—चूँकि मानव का मस्तिष्क अत्यधिक विकसित होता है, अत: उसमें बुद्धि व तर्क-वितर्क करने की क्षमता होती है जबकि पशु समाज में इसका अभाव पाया जाता है।
4. **सामाजिक जीवन में विविधता के आधार पर अन्तर**—मानव समाज में हमें अनेक विविधताएँ देखने को मिलती हैं। मानव समाज में हमें विभिन्न संस्कृतियों, धर्म, दर्शन, कलावस्त्र-शैली, जीवन जीने के ढंग, प्रथाएँ एवं परम्पराएँ देखने को मिलती हैं जबकि सभी पशु एकसमान ही जीवन जीते हैं।
5. **यौन-सम्बन्धों के आधार पर अन्तर**—यद्यपि मानव और पशु दोनों में ही कामेच्छा पाई जाती है, किन्तु उसकी पूर्ति के आधार भिन्न-भिन्न हैं। मानव समाज में यौन-इच्छाओं की पूर्ति को एक सामाजिक-सांस्कृतिक जामा पहनाया गया है। विवाह रूपी संस्था द्वारा ही मानव समाज में दो स्त्री-पुरुष यौन व्यवहार की स्वीकृति प्राप्त करते हैं। पशुओं में यौन व्यवहार सम्बन्धी कोई नियम नहीं हैं। एक जाति का पशु अपनी जाति के किसी भी विषमलिंगी पशु से सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। इसके अतिरिक्त, पशु समाज किसी भी समय रति क्रिया नहीं कर सकता, केवल मैथुन काल (Mating season) में ही वह यौन-सम्बन्ध स्थापित कर सकता है जबकि मनुष्य किसी भी समय रति क्रिया में संलग्न हो सकता है।
6. **नियन्त्रण के आधार पर अन्तर**—मानव समाज में व्यवस्था बनाए रखने के लिए औपचारिक और अनौपचारिक नियन्त्रण की व्यवस्था पाई जाती है। प्रथाओं, परम्पराओं, जनरीतियों, कानूनों, नियमों, धर्म व राज्य आदि के द्वारा मानव समाज के सदस्यों के व्यवहारों को नियन्त्रित व निर्देशित किया जाता है। कई बार मानव अपनी प्राणिशास्त्रीय इच्छाओं का दमन करके भी समाज के नियमों का पालन करता है जबकि पशु समाज में नियन्त्रण की कोई व्यवस्था नहीं पाई जाती। सभी पशु अपनी इच्छानुसार व्यवहार करने के लिए स्वतन्त्र होते हैं।
7. **परिवर्तनशीलता के आधार पर अन्तर**—मानव समाज पशु समाज की अपेक्षा अधिक गतिशील और परिवर्तनशील है। यह परिवर्तन ही मानव के विकास व प्रगति के लिए उत्तरदायी है। किन्तु, दूसरी ओर पशु समाज में हजारों, लाखों वर्षों से भी कोई उल्लेखनीय परिवर्तन घटित नहीं हुए हैं।
8. **संगठन और सहयोग के आधार पर अन्तर**—मानव समाज सहयोग एवं संगठन पर आधारित होता है जबकि पशु समाज नहीं। संगठनों का निर्माण मानव अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए करता है। संगठनों का निर्माण विभिन्न मनुष्यों के पारस्परिक सहयोग पर ही निर्भर करता है। यह सहयोग और संगठन हमें मानव जीवन के विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक क्षेत्रों में दिखाई देता है, किन्तु पशु समाज में न तो संगठन पाया जाता है और न सहयोग ही। ऐसा कभी देखने में नहीं आया कि पशुओं ने कहीं एकत्रित होकर किसी संगठन की स्थापना की हो या परस्पर सहयोग का संकल्प व्यक्त किया हो।
9. **संस्कृति के आधार पर अन्तर**—मानव समाज के पास ही संस्कृति है, पशु समाज के पास नहीं। मानव में पाई जाने वाली विशिष्ट शारीरिक विशेषताओं के कारण ही मानव संस्कृति का निर्माण कर सका है लेकिन पशु नहीं। मानव के पास ही कला, धर्म, साहित्य, प्रथाएँ, परम्पराएँ, ज्ञान, विज्ञान, आचार-विचार, दर्शन, मूल्य एवं आदर्श पाए जाते हैं। वह हजारों भौतिक वस्तुओं; जैसे—फर्नीचर, रेडियो, पंखा, टेलीविजन, टेलीफोन, मकान, वस्त्र, बर्तन, मशीन, औजार आदि का

निर्माता है जबकि पशु समाज में इन सभी का अभाव है। इसलिए ही पशु समाज को जैविक-सामाजिक और मानव समाज को सामाजिक-सांस्कृतिक समाज कहा गया है।

10. **भाषा एवं प्रतीकों के आधार पर अन्तर**—मानव समाज के पास ही भाषा और प्रतीक (symbols) हैं, पशु समाज के पास नहीं। मानव के मुँह एवं जबड़े की विशिष्ट रचना के कारण ही वह भाषा का उच्चारण कर सकता है और भाषा की रचना करने में समर्थ हो सका है। वह भाषा के मौखिक एवं लिखित प्रयोग के द्वारा ही अपने ज्ञान का संचय करने तथा संस्कृति व ज्ञान को नयी पीढ़ी में संचारित करने में समर्थ हुआ है।
11. **श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण के आधार पर अन्तर**—मानव समाज में विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कार्य का बँटवारा पाया जाता है। इससे श्रम-विभाजन और विशेषीकरण पनपता है। पशु समाज में प्रत्येक पशु अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं ही करता है। उनमें साधारणत: श्रम-विभाजन और विशेषीकरण नहीं पाया जाता है।
12. **सामूहिक-निर्णय के आधार पर अन्तर**—मानव बुद्धि एवं तर्कयुक्त प्राणी है। वह कोई भी निर्णय अकेला ही नहीं लेता वरन् समाज के अन्य लोगों से भी विचार-विमर्श करता है। मनुष्य समूह के रूप में एकत्रित होकर सामूहिक निर्णय लेने की क्षमता रखते हैं। पशु एक स्थान पर एकत्रित हो सकते हैं, किन्तु वे कोई सामूहिक निर्णय लेने की क्षमता नहीं रखते।
13. **सम्बन्धों की जटिलता के आधार पर अन्तर**—मानव समाज का निर्माण विभिन्न प्रकार के जटिल सम्बन्धों से हुआ है। विभिन्न मनुष्यों के बीच स्पष्ट और निश्चित सम्बन्ध पाए जाते हैं। इन सम्बन्धों की संख्या अगणित है और सम्पूर्ण मानव समाज सम्बन्धों के जाल में गुँथा हुआ है। एक व्यक्ति एक ही समय में अनेक पद धारण करता है और उन्हीं के अनुरूप अनेक सम्बन्धों का निर्माण भी करता है। मानव समाज में पारिवारिक, वैवाहिक, नातेदारी, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि अनेक प्रकार के सम्बन्ध पाए जाते हैं। पशु समाज में स्थायी व निश्चित सम्बन्ध नहीं होते। उनके समाज में सम्बन्ध सीमित व सरल प्रकृति के होते हैं।
14. **सामाजिक आदर्श-नियमों के आधार पर अन्तर**—मानव समाज में ही हमें सामाजिक आदर्श-नियम देखने को मिलते हैं। मानव ही नैतिक और अनैतिक, अच्छे व बुरे तथा सही व गलत में अन्तर कर सकता है। मानव अपने व्यवहार को सामाजिक आदर्शों के आधार पर ही अभिव्यक्त करता है। जनरीतियाँ, प्रथाएँ, परम्पराएँ, परिपाटियाँ, शिष्टाचार, कानून, फैशन आदि सभी सामाजिक आदर्श-नियम ही हैं जो मानव के व्यवहार को नियन्त्रित व निर्देशित करते हैं। पशु समाज में सामाजिक आदर्श-नियम व नैतिकता की धारणा नहीं पाई जाती।
15. **सीखने की क्षमता में अन्तर—सैम्युल कोइंग** का मत है कि मानव व पशु समाज में अन्तर उनमें सीखने की क्षमता में निहित है। मानव विभिन्न प्रकार की क्रियाओं, व्यवहार एवं संस्कृति को सीख एवं ग्रहण कर सकता है और नयी पीढ़ी को सिखा सकता है। इसी कारण ज्ञान व संस्कृति का संचय व हस्तान्तरण सम्भव हुआ है। पशुओं में सीखने की क्षमता बहुत कम होती है।
16. **अनुकूलन की क्षमता में अन्तर**—मानव किसी भी सामाजिक व भौगोलिक परिस्थिति से अनुकूलन कर सकता है। यही कारण है कि वह शीत एवं उष्ण प्रदेशों में भी जीवित रह सकता है, विकट सामाजिक परिस्थितियों का भी मुकाबला कर सकता है, किन्तु पशुओं में अनुकूलन की ऐसी क्षमता नहीं होती।
17. **संवेदनशीलता के आधार पर अन्तर**—मानव समाज में पशु समाज की अपेक्षा संवेदनशीलता अधिक विकसित है। वह हँसी, खुशी, सुख-दु:ख, ईर्ष्या, घृणा, प्रेम, कुण्ठा आदि को अधिक स्पष्ट रूप से महसूस और प्रकट कर सकता है, किन्तु पशु नहीं।
18. **व्यक्तित्व के आधार पर अन्तर**—प्रत्येक मनुष्य का एक व्यक्तित्व होता है जिसका निर्माण, शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक-सांस्कृतिक तत्वों के आधार पर होता है। समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा मनुष्य अपनी संस्कृति से सम्बन्धित कई बातों को सीखते हैं और अपने व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं, किन्तु पशुओं का कोई व्यक्तित्व नहीं होता है।

उपर्युक्त अन्तरों के अतिरिक्त मानव और पशु समाज में एक अन्तर यह भी है कि केवल मानव समाज में ही परिवार, विवाह तथा नातेदारी की संस्थाएँ पाई जाती हैं, पशु समाज में इन संस्थाओं का अभाव पाया जाता है। इस प्रकार मानव और पशु समाज में अनेक शारीरिक व सामाजिक-सांस्कृतिक भेद पाए जाते हैं। शारीरिक भेदों की तुलना में सामाजिक-सांस्कृतिक भेद अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

❑

UNIT-IV

सामाजिक संस्थाएँ

खण्ड-अ अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. संयुक्त परिवार से क्या आशय है?

उत्तर एक संयुक्त परिवार में तीन या तीन से अधिक पीढ़ियों के सदस्य साथ-साथ एक ही घर में निवास करते हैं, उनकी सम्पत्ति सामूहिक होती है, और परस्पर किसी-न-किसी नातेदारी व्यवस्था से सम्बन्धित होते हैं। संयुक्त परिवार के सदस्य परस्पर अधिकारों व दायित्वों को निभाते हैं।

प्र.2. पितृ-सत्तात्मक परिवार से आप क्या समझते हैं?

उत्तर ऐसे परिवारों में सत्ता एवं अधिकार पिता व पुरुषों के हाथ में होते हैं। वे ही परिवार को नियन्त्रण करते हैं। ऐसे परिवार पितृ-सत्तात्मक परिवार की श्रेणी में आते हैं।

प्र.3. मातृ-सत्तात्मक परिवार की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

उत्तर ऐसे परिवारों में पितृ-सत्तात्मकता के विपरीत माता या स्त्री में ही अधिकार तथा सत्ता निहित होती है। वही पारिवारिक नियन्त्रण बनाए रखने का कार्य करती है। भारत में नायर, खासी, गारो आदि लोगों में इस प्रकार के परिवार पाए जाते हैं।

प्र.4. परिवार के तीन मुख्य प्राणिशास्त्रीय कार्यों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर (i) यौन इच्छाओं की पूर्ति, (ii) सन्तानोत्पत्ति, (iii) प्रजाति की निरन्तरता।

प्र.5. मातुलेय पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उत्तर यह प्रथा मातृसत्तात्मक परिवारों में पाई जाती है। यहाँ मामा अपने भानजे-भानजियों के जीवन में प्रमुख स्थान रखता है, उनकी आत्मीयता का आधार होता है, पिता से अधिक मामा का दायित्व होता है। सम्पत्ति मामा से भानजे को हस्तान्तरित की जाती है। भानजे पिता की बजाय मामा के लिए कार्य करते हैं। इस प्रकार सभी पुरुष सम्बन्धियों की तुलना में मामा का भानजे व भानजियों के लिए सर्वप्रथम स्थान, हो तब उस प्रथा को मातुलेय कहा जाता है और मामा की ऐसी सत्ता को मातुल सत्तात्मकता कहते हैं।

प्र.6. नातेदारी की परिभाषा दीजिए।

उत्तर **चार्ल्स विनिक** के अनुसार, "नातेदारी (संगोत्रता) व्यवस्था में समाज द्वारा मान्यता प्राप्त वे सम्बन्ध आ सकते हैं जो कि अनुमानित और वास्तविक वंशावली सम्बन्धों पर आधारित हों।"

प्र.7. समरक्त सम्बन्ध से क्या आशय है?

उत्तर माता-पिता एवं सन्तानों के बीच भाई-बहनों के बीच बनने वाले सम्बन्धों को समरक्त सम्बन्ध कहते हैं।

प्र.8. "नातेदारी की श्रेणियाँ" नामक अवधारणा किसने प्रस्तुत की थी?

उत्तर मरडॉक ने "नातेदारी की श्रेणियाँ" नामक अवधारणा प्रस्तुत की थी। मरडॉक ने नातेदारी को तीन श्रेणियों, क्रमश: प्राथमिक सम्बन्धी, द्वितीयक सम्बन्धी तथा तृतीयक सम्बन्धी, में विभक्त कर गहन अध्ययन किया था।

प्र.9. विवाह की परिभाषा दीजिए।

उत्तर बोगार्डस के अनुसार, "विवाह स्त्री और पुरुष के पारिवारिक जीवन में प्रवेश करने की एक संस्था है।"

TOUCH 'n PASS

प्र.10. ''हिन्दू विवाह एक संस्कार है।'' इस कथन की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।

उत्तर **डॉ० कापडिया** के अनुसार, ''हिन्दू विवाह एक संस्कार है। यह पवित्र समझा जाता है क्योंकि यह तभी पूर्ण होता है जबकि यह पवित्र कृत्य पवित्र मन्त्रों के साथ किया जाए। संस्कार का तात्पर्य व्यक्ति का शुद्धिकरण करना है। अत: विवाह भी अनेक संस्कारों में से एक संस्कार माना गया है। यह गृहस्थाश्रम का द्वार है।

प्र.11. मुस्लिम विवाह को परिभाषित कीजिए।

उत्तर मुस्लिम विवाह को 'निकाह' कहते हैं। **कापडिया** के अनुसार, ''इस्लाम में विवाह एक अनुबन्ध है जिसमें दो साक्षियों के हस्ताक्षर होते हैं। इस अनुबन्ध का प्रतिफल मेहर अर्थात् वधू को भेंट दी जाती है।''

प्र.12. ''सांस्कृतिक विरासत एवं जीवन के अर्थ को प्राप्त करना ही शिक्षा है।'' यह कथन किसका है?

उत्तर बोगार्डस ने शिक्षा को सांस्कृतिक विरासत के हस्तान्तरण के रूप में परिभाषित करते हुए उपर्युक्त कथन लिखा था।

प्र.13. सामाजिक परिवर्तन के घटक के रूप में शिक्षा पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।

उत्तर शिक्षा के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित दो प्रमुख घटक हैं। नवीन विचारों का प्रचार तथा इन विचारों का सात्मीकरण।

प्र.14. राज्य की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

उत्तर अरस्तू के अनुसार, ''राज्य परिवारों और ग्रामों का एक ऐसा समुदाय है जिसका उद्देश्यपूर्ण और आत्मनिर्भर जीवन की प्राप्ति है।''

प्र.15. राज्य की विशेषताओं (तत्त्वों) का उल्लेख कीजिए।

उत्तर (i) जनसंख्या, (ii) निश्चित भू-भाग, (iii) सरकार, (iv) प्रभुसत्ता तथा (v) स्थायी स्वरूप।

प्र.16. धर्म के मौलिक लक्षणों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर (i) अलौकिक शक्ति में विश्वास, (ii) पवित्रता की धारणा, (iii) प्रार्थना, पूजा या आराधना, (iv) संवेगात्मक भावनाएँ, (v) विशेष धार्मिक सामग्री और प्रतीक, (vi) निषेध तथा (vii) धार्मिक संस्तरण।

खण्ड-ब लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. नातेदारी के प्रमुख भेद बताइए।

उत्तर

नातेदारी के भेद
(Types of Kinship)

सामाजिक सम्बन्धों में से सार्वभौमिक और आधारभूत सम्बन्ध वे हैं जो प्रजनन पर आधारित होते हैं। प्रजनन की कामना दो प्रकार के सम्बन्धों को जन्म देती है—

1. माता-पिता एवं सन्तानों के बीच तथा भाई-बहनों के बीच बनने वाले सम्बन्ध—इन्हें हम समरक्तता के सम्बन्ध कहते हैं।
2. पति-पत्नी के मध्य बनने वाले एवं इन दोनों के पक्षों के बीच बनने वाले सम्बन्ध, जिन्हें हम विवाह सम्बन्ध कहते हैं।

दोनों प्रकार के सम्बन्धों का हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख करेंगे—

(i) **समरक्त सम्बन्ध**—प्रजनन के आधार पर उत्पन्न होने वाले सामाजिक सम्बन्धों में से एक प्रकार वह है जो रक्त या समरक्तता के आधार पर बनता है, जैसे माता-पिता एवं सन्तानें के बीच का सम्बन्ध । सन्ताने माता-पिता से वाहकाणु (Genes) ग्रहण करती हैं और ऐसी मान्यता है कि उनमें समान रक्त पाया जाता है। इसी प्रकार से भाई-बहनों में भी रक्त सम्बन्ध होते हैं। एक व्यक्ति के माता-पिता, भाई-बहन, दादा-दादी, मामा, नाना-नानी, चाचा, बुआ आदि रक्त सम्बन्धी ही हैं, लेकिन रक्त सम्बन्धियों के बीच सदा ही प्राणिशास्त्रीय सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है। उनके बीच काल्पनिक सम्बन्ध भी हो सकते हैं। इन सम्बन्धों को यदि समाज स्वीकृति दे देता है तो वे वास्तविक सम्बन्धों की तरह ही माने जाते हैं। अत: रक्त सम्बन्धों में जैविकीय तथ्य इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि सामाजिक मान्यता का तथ्य। विभिन्न समाजों में हमें इसके अनेक उदाहरण देखने को मिलेंगे। मलेशिया के ट्रोबियाण्डा द्वीप निवासियों में वास्तविक पिता कभी-कभी अज्ञात होता है, लेकिन परम्परानुसार सन्तान का पिता

TOUCH n PASS

वही माना जाता है जो उस लड़की से विवाह करता है। गोद लेने वाली प्रथा इसका सार्वभौमिक उदाहरण है। जिस व्यक्ति को गोद लिया जाता है, उसके प्रति सभी जगह ऐसा व्यवहार किया जाता है जैसे वह जैविक रूप से उत्पन्न सन्तान हो। यदि वास्तविक रक्त सम्बन्ध ही ऐसे सम्बन्धों का आधार होता है तो हम कई सम्बन्धियों को एक ही नाम से क्यों पुकारते हैं; जैसे पिता की आयु व माता की आयु के लोगों को पिता या माता शब्दों द्वारा सम्बोधित क्यों करते हैं? कुछ लोग जैविकीय सम्बन्धों की तुलना में सम्बन्धियों द्वारा निभाए गए अधिकार एवं कर्त्तव्यों को अधिक महत्त्व देते हैं। मलेनेशिया के कुछ भागों में बच्चा किस परिवार का माना जाएगा, इसका निर्णय प्रसव की क्रिया से नहीं होता, वरन कुछ सामाजिक कृत्यों पर निर्भर है। वहाँ एक द्वीप में तो प्रसूता का जो व्यक्ति उसके कार्यों का मूल्य देता है, वहीं उसकी सन्तान का पिता कहलाता है और उस व्यक्ति की पत्नी उस बच्चे की माँ बन जाती है। एक दूसरे द्वीप में वह व्यक्ति पिता बन जाता है जो गृह द्वार पर साइकस वृक्ष के पत्ते का आरोपण करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि पितृत्व और मातृत्व सृजन एवं प्रसवन की शारीरिक क्रियाओं पर ही पूर्णतः आधारित नहीं है, वरन् सामाजिक प्रथाओं पर भी निर्भर है। अतः स्पष्ट है कि नातेदारी में सामाजिक मान्यता जैविक तथ्य पर आरोपित है।

(ii) **विवाह सम्बन्ध**—प्रजनन पर आधारित नातेदारी सम्बन्धों में विवाह सम्बन्ध भी है जो विषम-लिंगियों के बीच समाज की स्वीकृति के परिणामस्वरूप स्थापित होता है। केवल पति-पत्नी ही विवाह सम्बन्धी नहीं हैं, वरन उन दोनों के परिवारों के अनेक सम्बन्धी भी परस्पर विवाह सम्बन्धी होते हैं; जैसे—सास, ससुर, ननद, भौजाई, जीजा, साली, साला सम्बन्धी, साढ़ू, फूफा, भाभी, बहू आदि। इन सम्बन्धों को दो व्यक्तियों के सन्दर्भ में ही प्रकट किया जाता है; जैसे—सास-बहू, सुसर-बहू, पति-पत्नी, जीजा-साली, देवर-भाभी, ननद-भौजाई , साला-बहनोई, मामी-भानजा, भतीजा-फूफा आदि। इन सभी सम्बन्धियों के बीच सम्बन्ध का आधार रक्त न होकर विवाह है।

प्र.2. एक-विवाह के लाभ एवं दोषों पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।

उत्तर एक-विवाह के लाभ—इसके लाभ निम्नलिखित हैं—

1. एक-विवाह से निर्मित परिवार अपेक्षतया अधिक स्थायी होते हैं।
2. ऐसे विवाहों से निर्मित परिवारों में स्त्री की प्रतिष्ठा ऊँची होती है।
3. एक-विवाही परिवारों में बच्चों का लालन-पालन, समाजीकरण एवं शिक्षा का कार्य उचित रूप से सम्पन्न होता है।
4. एक-विवाही परिवारों में संघर्षों के अभाव में मानसिक तनाव भी कम पाया जाता है।
5. एक-विवाही परिवार का जीवन-स्तर ऊँचा होता है।
6. एक-विवाही परिवार में सन्तानों की संख्या कम होती है, अतः परिवार छोटा एवं सुखी होता है।

एक-विवाह के दोष—इसके दोष निम्नलिखित हैं—

1. एक-विवाह के कारण यौन अनैतिकता में वृद्धि होती है और भ्रष्टाचार बढ़ता है। इससे स्त्री-पुरुष के विवाह के अतिरिक्त यौन सम्बन्ध स्थापित करने के अवसर बढ़ जाते हैं।
2. यौन सम्बन्धी छूट के अभाव में यौन अपराधों में वृद्धि होती है।
3. ऐसे विवाह से उत्पन्न परिवारों में एकाधिपत्य की प्रवृत्ति पाई जाती है और स्त्रियों का शोषण होता है।

एक-विवाह की इन कमियों की तुलना में इससे होने वाले लाभ अधिक हैं। इसलिए ही वर्तमान में विश्व के सभी देशों में एक-विवाह प्रथा को ही अधिक पसन्द किया जाने लगा है।

प्र.3. बहुपति विवाह के कारण एवं परिणामों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर बहुपति विवाह के कारण—इसके कारण निम्नलिखित हैं—

1. **वेस्टरमार्क** का मत है कि बहुपति विवाह का मुख्य कारण **लिंग अनुपात का असन्तुलित होना है।** जिन समाजों में स्त्रियों की तुलना में पुरुष अधिक होते हैं, वहाँ बहुपति प्रथा पाई जाती है।
2. **गरीबी** भी इस प्रकार के विवाहों के लिए उत्तरदायी है। पैदावार कम होने, कृषि योग्य भूमि का अभाव होने, सुगमतापूर्वक धन न कमा सकने आदि के कारण परिवार का भरण-पोषण कठिन होता है। इसलिए कई पुरुष मिलकर एक स्त्री से विवाह करते हैं।

3. **जनसंख्या को मर्यादित रखने की इच्छा** के कारण भी बहुपति विवाह का पालन किया जाता है क्योंकि ऐसे विवाह में सन्तानें कम होती हैं।
4. **वधू-मूल्य**—कई समाजों में बहुपति विवाह का कारण वधू-मूल्य की अधिकता है। वधू-मूल्य को जुटाने के लिए सभी सामूहिक प्रयास करते हैं और ऐसी दशा में विवाह करके लाई गई स्त्री पर भी सभी का सामूहिक अधिकार होता है।
5. **सम्पत्ति के विभाजन को रोकने** के लिए बहुपति विवाह का प्रचलन पाया जाता है। यदि भाई अलग-अलग विवाह करते हैं तो उनमें तथा उनकी सन्तानों में सम्पत्ति बाँटनी होगी। इसके विपरीत यदि सभी भाई एक स्त्री के साथ एक परिवार में रहते हैं, तो सम्पत्ति भी सामूहिक बनी रहती है।
6. **भौगोलिक परिस्थितियाँ**—टोडा एवं खस लोग जिन स्थानों पर रहते हैं, वहाँ कृषि योग्य भूमि का अभाव है और सम्पूर्ण प्रदेश पथरीला एवं पहाड़ी है। अत: इन्हें प्रकृति से कठोर संघर्ष करना होता है जिसमें अकेला व्यक्ति अक्षम होता है। अत: सभी भाई मिलकर ही परिवार की स्त्री एवं बच्चों का भरण-पोषण करते है।
7. **धार्मिक कारण**—खस लोग अपने आपको पाण्डवों के वंशज मानते हैं। अत: ये भी द्रोपदी विवाह का पालन करते है। इस प्रकार बहुपति विवाह विभिन्न भौगोलिक, धार्मिक, जनांकिकी एवं आर्थिक कारणों का परिणाम है।

बहुपति विवाह के परिणाम—बहुपति विवाह के विभिन्न परिणाम सामने आए हैं। इससे उत्पन्न प्रमुख गुण व दोष निम्न प्रकार हैं—

गुण—इसके गुण निम्नलिखित हैं—

1. बहुपति विवाह के कारण **कम सन्तानें** पैदा होती हैं। अत: यह प्रथा आदर्श परिवार के निर्माण एवं जनसंख्या वृद्धि को रोकने में सहायक है।
2. इस प्रकार के विवाह के कारण **सम्पत्ति की संयुक्तता बनी रहती है। कृषि योग्य भूमि का बँटवारा न होने से वह टुकड़े-टुकड़े होने से बच जाती है।**
3. बहुपति विवाह के कारण **परिवार का विभाजन एवं विघटन नहीं होने पाता**, इस कारण से परिवार की सामूहिकता एवं एकता बनी रहती है।
4. ऐसे विवाह के कारण परिवार को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने एवं आर्थिक क्रियाओं के सम्पादन में सभी का सहयोग प्राप्त होता है। साथ ही **प्रकृति से संघर्ष भी सामूहिक रूप से किया जाता है।**

दोष—इसके दोष निम्नलिखित हैं—

1. इस प्रकार के विवाह के कारण **स्त्रियों में बाँझपन** आ जाता है। ऐसा कौन-से जैविकीय कारणों से होता है, यह अभी स्पष्ट नहीं है।
2. बहुपति विवाह में लड़कियों की तुलना में लडके अधिक पैदा होते हैं। अत: स्वत: ही **यौन असन्तुलन उत्पन्न हो जाता है,** फलस्वरूप बहुपति प्रथा स्वत: चलती रहती है।
3. बहुपति विवाह में एक स्त्री को कई पुरुषों से यौन सम्बन्ध रखने होते हैं। इस कारण से **यौन रोग पनपते हैं** एवं स्त्री का स्वास्थ्य खराब हो जाता है।
4. इस प्रकार की विवाह प्रथा वाले समाजों में स्त्रियों को कुछ अधिक यौन स्वतन्त्रता प्राप्त होने से वहाँ **यौनिक अनैतिकता बढ़ जाती है।**

प्र.4. बहुपत्नी विवाह के कारण एवं परिणामों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर बहुपत्नी विवाह के कारण—इसके कारण निम्नलिखित हैं—

1. **पुत्र प्राप्ति के लिए**—हिन्दुओं में पुत्र का धार्मिक महत्त्व है। वही मृत माता-पिता के लिए पिण्डदान एवं तर्पण करता है। अत: एक स्त्री के कोई सन्तान अथवा पुत्र न होने पर दूसरी स्त्री से विवाह किया जाता है।
2. **आर्थिक कारण**—भारत में उन जनजातियों को जो पहाड़ी भागों में रहती हैं, जीवन-यापन के लिए प्रकृति से कठोर संघर्ष करना पड़ता है। विषम भौगोलिक परिस्थितियाँ होने पर आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति परिवार के कई सदस्यों के सहयोग से ही सम्भव हो पाती है। परिवार में अधिक स्त्रियाँ होने पर उन्हें खेतों में काम पर एवं गृह उद्योगों में लगाकर उनका आर्थिक सहयोग प्राप्त किया जाता है।

TOUCH 'n' PASS

3. **सामाजिक प्रतिष्ठा**—धनवान, जमींदार एवं ऐश्वर्यशाली व्यक्ति अधिक पत्नियाँ इसलिए रखते हैं कि उससे उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ती है। मुसलमान शासक हरम और क्षत्रिय राजा कई रानियाँ एवं बाँदियाँ रखते थे।
4. **लिंग असमानता**—बहुपत्नीत्व का एक कारण समाज में पुरुषों की तुलना में स्त्रियाँ अधिक होना है। शिकार, युद्ध एवं आर्थिक साहसिक कार्यों में स्त्रियों की तुलना में पुरुषों के मरने के अधिक अवसर होते हैं, इससे पुरुषों की संख्या घट जाती है और बहुपत्नीत्व पनपता है।
5. **कामवासना एवं यौन अनुभव**—पुरुषों में कामवासना की अधिकता एवं नवीन यौन अनुभव की इच्छा ने भी बहुपत्नीत्व को जन्म दिया।
6. **साली-विवाह**—जिन समाजों में साली-विवाह की प्रथा प्रचलित है, वहाँ प्रथा के रूप में एक व्यक्ति को अपनी पत्नी की सभी बहनों से विवाह करना पड़ता है।
7. **देवर-विवाह**—कुछ समाजों में देवर-विवाह का प्रचलन है। अत: जब एक भाई की मृत्यु हो जाती है तो उसकी विधवा स्त्री से दूसरा भाई विवाह कर लेता है। इससे जीवित भाई की पत्नियों की संख्या बढ़ जाती है।
8. **युद्ध एवं आक्रमण**—युद्ध एवं आक्रमण के समय भी स्त्रियों को अपहरण करके लाया और उनसे विवाह कर लिया जाता है।
9. कई जनजातियों में घर की उचित देख-रेख एवं बच्चों के समुचित पालन-पोषण के लिए एकाधिक पत्नियाँ रखना अच्छा माना जाता है।

बहुपत्नी विवाह के परिणाम-लाभ—इसके लाभ निम्नलिखित हैं—

1. बहुपत्नीत्व के कारण कामी पुरुषों की यौन इच्छाएँ परिवार में ही पूरी हो जाती हैं। अत: समाज में **भ्रष्टाचार एवं अनैतिकता** में वृद्धि नहीं हो पाती है।
2. परिवार में अनेक स्त्रियाँ होने पर **बच्चों का लालन-पालन एवं घर की देख-रेख सरलता से हो जाती है।**
3. इससे परिवार की **आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति सुगमता से** हो जाती है।
4. किसी समाज में पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की अधिकता हो और **एक विवाह प्रथा का पालन** किया जाता है तो ऐसी दशा में कई स्त्रियों को विवाह से वंचित रहना पड़ेगा। विवाह के अभाव में उनमें कई विकार पैदा हो सकते हैं। बहुपत्नी विवाह के कारण ऐसे समाजों में स्त्रियों को विवाह से वंचित नहीं रहना पड़ता।
5. बहुपत्नी विवाह समाज के अधिकांशत: धनी एवं समृद्ध लोगों में पाए जाते हैं, अत: ऐसे विवाह से उत्पन्न **सन्तानें शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से उत्तम होती हैं।**

हानियाँ—इसकी हानियाँ निम्नलिखित हैं—

1. बहुपत्नी विवाह के कारण **परिवार में संघर्ष, ईर्ष्या एवं वैमनस्य का वातावरण** उत्पन्न होता है। स्त्रियाँ परस्पर छोटी-छोटी बातों को लेकर झगड़ती रहती हैं। इससे परिवार की सुख-शान्ति समाप्त हो जाती है।
2. कई पत्नियाँ होने पर परिवार में **सन्तानों की संख्या बढ़ जाती है।** अधिक सन्तानों की शिक्षा-दीक्षा एवं देखभाल करना प्राय: कठिन होता है।
3. ऐसे विवाहों के कारण **स्त्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा गिर जाती है** और उनका शोषण होता है।
4. एकाधिक पत्नियाँ होने पर एक पुरुष उन सभी की यौन इच्छाओं की सन्तुष्टि नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में **समाज में यौनिक अनाचार पनपता है।**
5. एकाधिक पत्नियाँ रखने वाले व्यक्ति की मृत्यु होने पर समाज में **विधवाओं की संख्या में वृद्धि हो जाती है।** इन हानियों को देखते हुए वर्तमान में बहुपत्नीत्व के स्थान पर एक-विवाह के नियम को स्वीकार किया गया है।

प्र.5. मुस्लिम विवाह में मेहर या स्त्रीधन से क्या अभिप्राय है?

उत्तर

मुस्लिम विवाह में मेहर या स्त्री-धन
(Dower in Muslim Marriage)

विवाह के परिणामस्वरूप मुस्लिम स्त्री को 'मेहर' का अधिकार प्राप्त होता है क्योंकि यह एक दीवानी समझौता है और मेहर उसका एक आवश्यक परिणाम है। मेहर वह धन या सम्पत्ति है जो पति पत्नी के सम्मान में देता है। इसे कन्या मूल्य नहीं कह सकते

क्योंकि इस सम्पत्ति पर कन्या के पिता का नहीं वरन कन्या का ही अधिकार होता है। मेहर के कारण ही पुरुष को स्त्री से सहवास करने का अधिकार प्राप्त होता है। मेहर की रकम विवाह के समय, विवाह से पूर्व या बाद में भी तय की जा सकती है। यह एक ऐसा अधिकार है जिससे पुरुषों की स्वेच्छाचारिता तथा तलाक देने के अधिकार पर कुछ नियन्त्रण रहता है। दहेज एवं मेहर में अन्तर है। हिन्दुओं में दहेज स्त्री पक्ष द्वारा पति पक्ष को दिया जाता है जबकि मुसलमानों में मेहर पुरुष पक्ष द्वारा पत्नी को दिया जाता है। दहेज देना आवश्यक नहीं है जबकि मेहर विवाह की एक आवश्यक शर्त है। मेहर के बाद ही पति को पत्नी से सहवास का अधिकार प्राप्त होता है। दहेज की कोई राशि तय नहीं होती है जबकि मेहर की राशि विवाह से पूर्व एवं कभी-कभी विवाह के बाद भी तय की जाती है। दहेज पर पति एवं उसके परिवारवालों का अधिकार होता है जबकि मेहर शुद्ध रूप से स्त्री धन है। **मेहर निम्न चार प्रकार का होता है—**

1. **निश्चित मेहर**—यह वह मेहर है जो विवाह के समय या विवाह के पूर्व पति द्वारा पत्नी को दिया जाता है। यह रकम पाँच रुपये से लेकर हजारों रुपये तक हो सकती है।
2. **उचित मेहर**—यदि विवाह के समय मेहर तय न हुआ हो तो अदालत बाद में भी लड़के के पिता की आर्थिक स्थिति को देखकर मेहर तय करती है। उस समय अदालत यह भी ध्यान रखती है कि पत्नी की अन्य बहनों को क्या मेहर मिला है। यह स्थिति तलाक के समय या पत्नी द्वारा मेहर की माँग की जाने पर उत्पन्न होती है।
3. **सत्वर मेहर**—यह वह मेहर है जो विवाह से पूर्व या सहवास से पूर्व पति को चुकाना पड़ता है।
4. **स्थगित मेहर**—यह मेहर विवाह के समय तय तो हो जाता है, किन्तु तलाक होने अथवा किसी पक्ष के मरने के अवसर पर इसे दिया जाता है। दोनों पक्ष मिलकर यह भी तय कर सकते हैं कि कितना मेहर सत्वर और कितना स्थगित रखना है।

वर्तमान में मुसलमानों में दहेज की भाँति ही मेहर की राशि बढ़ती जा रही है। मेहर का एक लाभप्रद पक्ष भी है और वह यह है कि इससे पुरुष पर एक से अधिक पत्नियाँ रखने एवं तलाक देने पर कुछ नियन्त्रण हो जाता है क्योंकि कई पुरुष एक से अधिक पत्नियाँ प्राप्त करने के लिए मेहर जुटाने की आर्थिक स्थिति में नहीं होते हैं। इससे परिवार में स्त्री का सम्मान और उसकी स्थिति सुदृढ़ बनी रहती है।

प्र.6. मुस्लिम विवाह के भेद (प्रकार) बताइए।

उत्तर

मुस्लिम विवाह के भेद
(Forms of Muslim Marriage)

मुसलमानों में तीन प्रकार के विवाह पाए जाते हैं-सही या वैध, मुताह और अनियमित।

1. **सही या वैध विवाह**—यह वह विवाह है जिसमें विवाह की सभी शर्तों का पालन किया जाता है, जो स्थायी प्रकृति का होता है और जो मुस्लिम रीति-रिवाजों के अनुसार सम्पन्न होता है। इसे निकाह कहते हैं।
2. **मुताह विवाह**—सुन्नियों में केवल स्थायी विवाह ही हो सकता है, किन्तु शिया मुसलमानों में अस्थायी विवाह जिसे मुताह (Mutah) कहते हैं, भी हो सकता है। ऐसे विवाह की दो आवश्यक शर्तें हैं—सहवास का काल एवं मेहर। इसमें पति-पत्नी सहवास का समय निश्चित करते हैं कि वे अमुक समय तक पति-पत्नी रहेंगे। यह समय एक दिन, एक माह, एक वर्ष या कुछ वर्ष भी हो सकता है। अवधि समाप्त होने पर ऐसा विवाह स्वत: ही समाप्त हो जाता है। यदि पति-पत्नी चाहें तो इसे स्थायी विवाह में भी बदल सकते हैं। इस विवाह की दूसरी आवश्यक शर्त मेहर का निश्चित उल्लेख होना है। यदि मेहर निश्चित है और सहवास की अवधि अनिश्चित है तो ऐसा विवाह अवैध माना जाएगा, किन्तु मेहर निश्चित न होने पर विवाह की अवधि नहीं ठहरा सकते। ऐसे विवाह से उत्पन्न बच्चे वैध माने जाते हैं और उन्हें माता-पिता की सम्पत्ति पर अधिकार होता है, किन्तु पत्नी को पति की सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त नहीं होता है और न ही उसे पति से भरण-पोषण का अधिकार मिलता है। इस प्रकार के विवाह का प्रचलन भारत में नहीं है।
3. **अनियमित विवाह**—इस प्रकार के विवाह में कुछ बाधाएँ होती हैं जिन्हें दूर करने पर विवाह पुन: नियमित हो जाता है। उदाहरण के लिए, पाँचवीं पत्नी व मूर्ति-पूजक स्त्री से विवाह करने या विवाह में गवाहों की उपस्थिति न हो तो वह विवाह अनियमित हो जाता है। इसे नियमित बनाने के लिए आवश्यक है कि पाँच में से किसी एक स्त्री को तलाक दे दिया जाय, धर्म परिवर्तन कर अमुस्लिम स्त्री को मुसलमान बनाया जाय और विवाह के लिए गवाहों को जुटाया जाय।

प्र.7. शिक्षा के सामाजिक महत्त्व की विवेचना कीजिए।

उत्तर

शिक्षा का सामाजिक महत्त्व
(Social Importance of Education)

बोगार्डस का मत है कि शिक्षा का व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन में तो महत्त्व है ही, किन्तु सामाजिक दृष्टि से भी वह दो प्रमुख भूमिकाएँ निभाती है—

1. प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षित बनाकर शिक्षा उसकी बौद्धिक क्षमता में वृद्धि करती है। दूसरे शब्दों में, **शिक्षा समाज में अज्ञान को दूर करती है।**
2. शिक्षा का दूसरा महत्त्वपूर्ण सामाजिक कार्य **विभिन्न संस्कृतियों एवं रुचियों के लोगों में समझ का विकास कर उनमें व्याप्त भ्रम को दूर करना है।** इससे टकराव, तनाव एवं संघर्ष की स्थिति से मुक्ति मिलती है और सामाजिक सहिष्णुता बढ़ती है।

प्रकार्यवादियों का मत है कि शिक्षा समाज में दृढ़ता बनाए रखने एवं मूल्य व्यवस्था में एकमतता कायम करने का कार्य करती है। दुर्खीम का मत है कि शिक्षा समाज के आदर्श-नियमों एवं मूल्यों को पुरानी पीढ़ी से नई पीढी को हस्तान्तरित करती है। यह व्यक्तियों को सामूहिक जीवन से जोड़ती है। सामूहिकता के अभाव में किसी समाज-व्यवस्था का बना रहना असम्भव है। औद्योगिक समाजों में शिक्षण संस्थाएँ समाज के सदस्यों को उन लोगों के साथ भी सहयोग करना सिखाती हैं जो न तो उनके परिवार के सदस्य हैं, न नातेदार और न ही मित्र। स्कूल के नियमों का सम्मान कर बच्चा समाज के नियमों का सम्मान करना भी सीखता है। इस प्रकार वह आत्म-नियन्त्रण की आदत को विकसित करता है। पारसन्स स्कूल को 'समाजीकरण की केन्द्रीय एजेन्सी' (Focal Socializing Agency) मानते हैं जो परिवार एवं समाज के बीच कड़ी का कार्य करती है। स्कूल बच्चों को अपने भावी जीवन के लिए भूमिका चयन करने में भी योग देता है। डेविस एवं मूर शिक्षा को सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया का अंग मानते हैं। शिक्षा व्यवस्था ही समाज के योग्य एवं प्रतिभावान व्यक्तियों को समाज के महत्त्वपूर्ण पदों को धारण करने में सहायता प्रदान करती है। कई प्रकार्यवादी शिक्षा एवं अर्थव्यवस्था के प्रकार्यात्मक सम्बन्धों को प्रकट करते हैं। उनका मत है कि औद्योगिक अर्थव्यवस्था के विस्तार ने औपचारिक शिक्षा का भी विस्तार किया है। उद्योगों में दक्ष एवं प्रशिक्षित लोगों की आवश्यकता होती है जिसे शिक्षा संस्थाएँ जुटाती हैं। मार्क्सवादियों का मत है कि शिक्षा व्यवस्था पूँजीवादी शासक वर्ग (Capitalistic ruling class) के हितों की पूर्ति एवं रक्षा करती है, उनके लिए प्रशिक्षित श्रम शक्ति तैयार करती है जिससे कि वे अधिक लाभ कमा सकें। पूँजीवादी व्यवस्था में शिक्षा शासक वर्ग की विचारधारा का हस्तान्तरण करती है जो पूँजीवादी व्यवस्था को न्यायोचित ठहराती है।

प्र.8. एक आधुनिक राज्य के कार्यों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

एक आधुनिक राज्य के कार्य
(Functions of a Modern State)

आधुनिक समय में राज्य के कार्यों में वृद्धि होती जा रही है। प्राचीन समय में राज्य के कार्य न्याय, आन्तरिक सुरक्षा व बाह्य आक्रमण से रक्षा तक ही सीमित थे, किन्तु आज तो मानव के जीवन का हर पक्ष राज्य द्वारा तय किया जाने लगा है। **इसके अनेक कारण हैं**, जैसे—

1. वर्तमान समय में जनसंख्या में वृद्धि होने से सभी लोगों पर प्रथाओं, परम्पराओं एवं लोकाचारों द्वारा नियन्त्रण रखना कठिन हो गया है। यह कार्य अब केवल राज्य ही कर सकता है।
2. सामाजिक जटिलता में वृद्धि होने के कारण समाज में विविधता और विषमता बढ़ गई है। समाज में नवीन एवं अप्रत्याशित परिस्थितियों से सम्बन्धित कोई प्रथा नहीं है। अत: यह कार्य राज्य के कानूनों द्वारा ही सम्भव है। राज्य ही विभिन्न प्रकार के कानून बनाने व विभिन्न संघों के हितों की रक्षा करने में समर्थ है।
3. औद्योगीकरण एवं नगरीकरण के कारण समाज में नवीन परिस्थितियाँ पैदा हुई हैं। आज के जटिल एवं भीमकाय उद्योगों की स्थापना एवं संचालन तथा बड़े-बड़े नगरों में आवास, प्रशासन, शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात आदि की व्यवस्था राज्य के सहयोग के बिना असम्भव है। अत: राज्य के कार्य-क्षेत्र में वृद्धि करना आवश्यक हो गया।
4. वर्तमान समय में परिवर्तन की गति तीव्र है। नवीन परिवर्तनों से सामंजस्य करने, परिवर्तनों को अपनाने एवं परिवर्तनों के कारण उत्पन्न अपराधों एवं विघटन की स्थितियों से रक्षा करने में राज्य ही समर्थ है।

5. आज राज्य को एक कल्याणकारी संस्था के रूप में स्वीकार किया गया है। अत: वही लोगों की शिक्षा-दीक्षा, स्वास्थ्य चिकित्सा, सामाजिक सुरक्षा, बीमा, वृद्धावस्था व बेकारी में सुरक्षा आदि का प्रबन्ध करता है। राज्य का वह दायित्व है कि वह लोगों के जान-माल की रक्षा करे और उनकी प्रगति एवं विकास के साधन जुटाए तथा उन्हें न्याय प्रदान करे। इन सभी परिस्थितियों के कारण आज राज्य के कार्य एवं अधिकार-क्षेत्र में वृद्धि होती जा रही है।

खण्ड-स विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. परिवार का अर्थ, परिभाषा एवं विशेषताओं (लक्षण) की विस्तृत व्याख्या कीजिए।

उत्तर

परिवार का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Family)

'Family' शब्द का उद्‌गम लैटिन शब्द '*Famulus*' से हुआ है, जो एक ऐसे समूह के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसमें माता-पिता, बच्चे, नौकर और दास हों। साधारण अर्थों में विवाहित जोड़े को परिवार की संज्ञा दी जाती है, किन्तु समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह परिवार शब्द का सही उपयोग नहीं है। परिवार में पति-पत्नी एवं बच्चों का होना आवश्यक है। इनमें से किसी भी एक के अभाव में हम उसे परिवार न कहकर गृहस्थ (Household) कहेंगे। विभिन्न विद्वानों ने परिवार को इस प्रकार परिभाषित किया है—

मैकाइवर एवं पेज, "परिवार पर्याप्त निश्चित यौन सम्बन्ध द्वारा परिभाषित एक ऐसा समूह है जो बच्चों के जनन एवं लालन-पालन की व्यवस्था करता है।

डॉ० दुबे के अनुसार, "परिवार में स्त्री और पुरुष दोनों को सदस्यता प्राप्त रहती है, उनमें से कम-से-कम दो विपरीत यौन व्यक्तियों को यौन सम्बन्धों की सामाजिक स्वीकृति रहती है और उनके संसर्ग से उत्पन्न सन्तान मिलकर परिवार का निर्माण करते हैं।"

मरडॉक के अनुसार, "परिवार एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसके लक्षण सामान्य निवास, आर्थिक सहयोग और जनन हैं। इनमें दो लिंगों के बालिग शामिल हैं जिनमें कम-से-कम दो व्यक्तियों में स्वीकृत यौन सम्बन्ध होता है और जिन बालिग व्यक्तियों में यौन सम्बन्ध होता है, उनके अपने या गोद लिए हुए एक या अधिक बच्चे होते हैं।"

लूसी मेयर, "परिवार एक गार्हस्थ्य समूह है जिसमें माता-पिता और सन्तान साथ-साथ रहते हैं। इसके मूल रूप में दम्पत्ति और उसकी सन्तान रहती है।"

संक्षेप में, हम परिवार को जैविकीय सम्बन्धों पर आधारित एक सामाजिक समूह के रूप में परिभाषित कर सकते हैं जिसमें माता-पिता और बच्चे होते हैं तथा जिसका उद्देश्य अपने सदस्यों के लिए सामान्य निवास, आर्थिक सहयोग, यौन सन्तुष्टि और प्रजनन, समाजीकरण और शिक्षण आदि की सुविधाएँ जुटाना है।

परिवार की विशेषताएँ (लक्षण) (Characteristics of the Family)

इन सार्वभौमिक विशेषताओं के अतिरिक्त **मैकाइवर** एवं **पेज** ने कुछ ऐसी विशेषताओं का भी उल्लेख किया है जो अन्य समितियों में देखने को नहीं मिलती हैं। वे निम्न प्रकार हैं—

1. **सार्वभौमिकता**—परिवार की उपस्थिति सार्वभौमिक है। कोई भी समाज चाहे वह आधुनिक हो या प्राचीन, शहरी हो या ग्रामीण, सभी में परिवार देखने को मिलेगा। प्रत्येक मनुष्य किसी-न-किसी परिवार का सदस्य रहा है और भविष्य में भी रहेगा। सामाजिक विकास के सभी स्तरों पर परिवार देखने को मिलते हैं। कई पशुओं तक में परिवार पाए जाते हैं तो फिर मनुष्य जैसे विकसित प्राणी में परिवार का अभाव कैसे हो सकता है।
2. **भावात्मक आधार**—परिवार के सदस्य परस्पर भावात्मक बन्धनों में बँधे होते हैं। माता-पिता एवं बच्चों के बीच त्याग एवं वात्सल्य की भावना पाई जाती है। पति-पत्नी के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। परिवार में प्रेम, सहयोग, दया, सहिष्णुता, त्याग, बलिदान आदि की भावनाएँ विद्यमान होती हैं जो पारिवारिक संगठन को सुदृढ़ बनाती हैं।
3. **रचनात्मक प्रभाव**—मनुष्य जन्म लेने के बाद सर्वप्रथम परिवार के सम्पर्क में ही आता है। परिवार के सदस्यों का नवजात शिशु पर गहरा प्रभाव पड़ता है। परिवार व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं चरित्र-निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। उसके व्यवहार, मनोवृत्ति, आदतों आदि पर परिवार की ही छाप होती है। इसीलिए कूले परिवार को मानव स्वभाव की पोषिका (Nursery of human nature) कहते हैं। समय और महत्व की दृष्टि से भी परिवार का स्थान अन्य

समितियों की तुलना में उच्च है। कुछ विद्वान इसे शिशु की प्रथम पाठशाला कहते हैं, क्योंकि सर्वप्रथम बच्चे का शिक्षण परिवार में ही होता है, अन्य शिक्षण संस्थाओं के सम्पर्क में तो वह बाद में आता है।

4. **सीमित आकार**—अन्य वृहद् समूहों की तरह परिवार की सदस्य संख्या सौ, दो सौ, तीन सौ या अधिक नहीं हो सकती। इसका कारण प्राणिशास्त्रीय है। पुरानी पीढ़ी वृद्ध होकर मृत्यु को प्राप्त होती जाती है, अत: नई पीढ़ी के आने पर भी सदस्यों की संख्या एक निश्चित सीमा तक ही बनी रहती है। सदस्यों के विभाजन के कारण भी परिवार का आकार छोटा बना रहता है। कभी-कभी परिवार में जन्म लेने के अतिरिक्त गोद लेने से भी इसकी सदस्यता प्राप्त की जाती है।
5. **सामाजिक संरचना में केन्द्रीय स्थिति**—परिवार की सामाजिक संरचना में केन्द्रीय स्थिति है और समाज का निर्माण भी परिवार रूपी इकाइयों के मिलने से होता है। अरस्तू ने समुदाय को परिवारों का योग माना है। आदिम समाजों में तो कई ऐसे संगठन हैं; जैसे—गोत्र, भ्रातृदल, वंश आदि जिनकी सदस्यता परिवार के आधार पर ही प्राप्त की जाती है।
6. **सदस्यों का उत्तरदायित्व**—प्रत्येक परिवार अपने सदस्यों से कुछ उत्तरदायित्व निभाने की अपेक्षा रखता है। संकट के समय व्यक्ति अपने समाज व देश के लिए त्याग व बलिदान करता है, परन्तु परिवार के लिए तो वह सदैव ही कुछ-न-कुछ करता रहता है। परिवार के लिए वह बड़े-से-बड़े त्याग करने के लिए तैयार रहता है। सदस्य सदा एक-दूसरे के हित व सुख-सुविधा की बात सोचते हैं। माता-पिता स्वयं कष्ट उठाकर भी बच्चों को सुखी देखना चाहते हैं। सदस्यों की इसी भावना के कारण ही परिवार का संगठन स्थायी बना रहता है।
7. **सामाजिक नियन्त्रण**—परिवार में सामाजिक नियन्त्रण बना रहता है। अनेक ऐसे नियम, प्रथाएँ एवं रूढ़ियाँ हैं जो परिवार को बनाए रखने एवं उस पर नियन्त्रण रखने में योग देती हैं। कोई भी व्यक्ति मनमाने ढंग से विवाह सूत्र में बँधकर परिवार का निर्माण नहीं कर सकता, वरन् उसे इस सन्दर्भ में सामाजिक नियमों व कानूनों का पालन करना होता है। भारत में विवाह एवं परिवार से सम्बन्धित अनेक कानून बन चुके हैं। 1954 का विशेष विवाह अधिनियम तथा 1955 का हिन्दू विवाह अधिनियम, विवाह एवं परिवार का नियमन करते हैं।
8. **परिवार की स्थायी व अस्थायी प्रकृति**—एक समिति के रूप में परिवार स्थायी भी है और अस्थायी भी। सदस्यों की मृत्यु, पृथक्करण, तलाक आदि से एक परिवार की सदस्यता समाप्त हो सकती है। लेकिन एक संस्था के रूप में परिवार अमर है। संस्था के रूप में परिवार के नियम और कार्य-प्रणाली आते हैं जो परिवार को स्थायित्व प्रदान करते हैं, इसलिए ही आदिकाल से अब तक परिवार किसी-न-किसी रूप में बना हुआ है।

प्र.2. परिवार के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

परिवार के प्रकार
(Kinds of Family)

मानव समाज के विकास के साथ-साथ परिवार के भी अनेक रूप अस्तित्व में आए हैं। प्रत्येक स्थान की भौगोलिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार की परिवार व्यवस्था को जन्म दिया है। सदस्यों की संख्या, विवाह का स्वरूप, स्त्री-पुरुष की सत्ता, निवास, वंशनाम आदि के आधार पर परिवार का वर्गीकरण किया जाता है। विभिन्न प्रकार के परिवारों का वर्गीकरण निम्न प्रकार है—

क्र०सं०	आधार	प्रकार
1.	**संख्या के आधार पर**	(क) केन्द्रीय परिवार या नाभिक परिवार, (ख) संयुक्त परिवार, (ग) विस्तृत परिवार।
2.	**निवास के आधार पर**	(क) पितृ-स्थानीय परिवार, (ख) मातृ-स्थानीय परिवार, (ग) नव-स्थानीय परिवार, (घ) मातृ-पितृ स्थानीय परिवार, (च) मामा स्थानीय परिवार, (छ) द्वि-स्थानीय परिवार।
3.	**अधिकार के आधार पर**	(क) पितृ-सत्तात्मक परिवार, (ख) मातृ-सत्तात्मक परिवार।
4.	**उत्तराधिकार के आधार पर**	(क) पितृ-मार्गी परिवार, (ख) मातृ-मार्गी परिवार।
5.	**वंशनाम के आधार पर**	(क) पितृ-वंशीय परिवार, (ख) मातृ-वंशीय परिवार, (ग) उभयवाही परिवार, (घ) द्वि-नामी परिवार।

6.	**विवाह के आधार पर**	(क) एक-विवाही परिवार, (ख) बहु-विवाही परिवार। 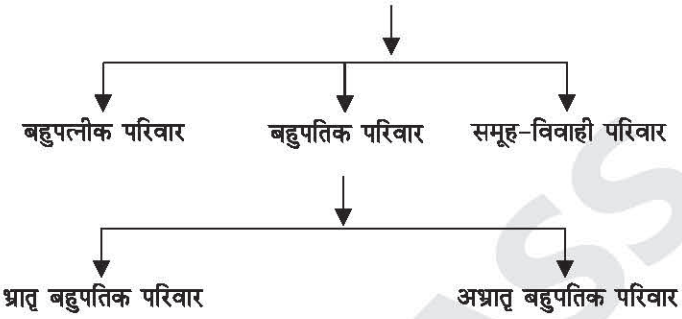
7.	**अन्य रूप**	(क) जन्ममूलक परिवार, (ख) प्रजननमूलक परिवार, (ग) समरक्त परिवार, (घ) विवाह सम्बन्धी परिवार, (ङ) ग्रामीण परिवार, (च) नगरीय परिवार।

(I) संख्या के आधार पर परिवार (On the basis of Numbers)

1. **केन्द्रीय परिवार या नाभिक परिवार**—इस प्रकार के परिवार आधुनिक औद्योगिक समाजों की प्रमुख विशेषता है। औद्योगीकरण और नगरीकरण के बढ़ने के साथ-साथ इस प्रकार के परिवारों की संख्या बढ़ती जा रही है। जहाँ कृषि-प्रधान समाजों में संयुक्त परिवार व्यवस्था की प्रधानता पाई जाती रही है, वहीं औद्योगिक समाजों में केन्द्रीय या नाभिक परिवारों की।
   केन्द्रीय या नाभिक परिवार, परिवार का सबसे छोटा रूप है जो एक पुरुष, स्त्री तथा उनके आश्रित बच्चों से मिलकर बना होता है। इस प्रकार के परिवारों में अन्य रिश्तेदारों को सम्मिलित नहीं किया जाता। इसमें बच्चे भी अविवाहित रहने तक ही रहते हैं।
2. **संयुक्त परिवार**—एक संयुक्त परिवार में तीन या तीन से अधिक पीढ़ियों के सदस्य साथ-साथ एक ही घर में निवास करते हैं, उनकी सम्पत्ति सामूहिक होती है, वे एक ही रसोई में बना भोजन करते हैं, सामूहिक पूजा में भाग लेते हैं, और परस्पर किसी-न-किसी नातेदारी व्यवस्था से सम्बन्धित होते हैं। संयुक्त परिवार के सदस्य परस्पर अधिकारों व दायित्वों को निभाते हैं।
3. **विस्तृत परिवार**—इस प्रकार के परिवार में सभी रक्त सम्बन्धी एवं कुछ अन्य सम्बन्धी भी सम्मिलित होते हैं। ये एकपक्षीय (मातृ पक्ष या पितृ पक्ष) या द्वि-पक्षीय भी हो सकते हैं। ऐसे परिवारों में सम्बन्ध व रिश्तेदारी का भी ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो पाता है। ऐसे परिवारों के सदस्यों की संख्या बहुत अधिक होती है। इन सभी सदस्यों का निवास-स्थान और कार्य एक ही होता है और वे परिवार के मुखिया को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं।

(II) निवास के आधार पर (On the basis of Residence)

1. **पितृ-स्थानीय परिवार**—यदि विवाह के बाद पत्नी अपने पति एवं पति के माता-पिता के साथ रहने लगती हो तो उसे हम पितृ-स्थानीय परिवार कहते हैं। हिन्दुओं, मुसलमानों एवं भील, खरिया तथा कई पितृवंशीय परिवारों में यह प्रथा पाई जाती है।
2. **मातृ-स्थानीय परिवार**—इसके विपरीत जब विवाहोपरान्त पति, पत्नी के माता-पिता के निवास-स्थान पर रहने लगता है तो उसे मातृ-स्थानीय परिवार कहते हैं। ऐसे परिवार भारत में मालाबार के नायरों, खासी व गारो जनजातियों में देखने को मिलते हैं।
3. **नव-स्थानीय परिवार**—जब परिवार में पति-पत्नी विवाह के बाद न तो पति पक्ष के लोगों के साथ और न ही पत्नी पक्ष के लोगों के साथ रहते हैं वरन् अपना अलग नया घर बनाकर रहते हैं, तो उसे नव-स्थानीय परिवार कहते हैं।
4. **मातृ-पितृ स्थानीय परिवार**—कई समाजों में नवविवाहित दम्पति पति या पत्नी में से किसी एक के ही साथ रहने को बाध्य नहीं होते वरन् दोनों में से किसी के भी साथ रह सकते हैं। ऐसे परिवार को मातृ-पितृ स्थानीय परिवार कहते हैं।

TOUCH n PASS

5. **मामा-स्थानीय परिवार**—इसमें नवविवाहित दम्पति पति की माँ के भाई अर्थात् मामा के परिवार में जाकर रहने लगते हैं। ट्रोब्रियाण्डा द्वीपवासियों में यह प्रथा प्रचलित है कि विवाह के बाद भानजा अपनी पत्नी सहित मामा के यहाँ रहने चला जाता है।
6. **द्वि-स्थानीय परिवार**—कुछ स्थानों पर ऐसे भी परिवार हैं जहाँ विवाह के बाद पति-पत्नी अपने-अपने जन्म के परिवारों में ही रहते हैं। लक्षद्वीप, केरल और अशांटी जनजाति में इस प्रकार के परिवार पाए जाते हैं। पति रात्रि को अपनी पत्नी के घर जाता है, परन्तु दिन में वह अपने जन्म के परिवार में ही रहता है।

(III) अधिकार के आधार पर (On the basis of Succession)

परिवार में माता-पिता में से एक की सत्ता चलती है या किसे अधिक अधिकार प्राप्त हैं, इस आधार पर परिवारों को दो भागों में बाँटा गया है—

1. **पितृ-सत्तात्मक परिवार**—ऐसे परिवारों में सत्ता एवं अधिकार पिता व पुरुषों के हाथ में होते हैं, वे ही परिवार का नियन्त्रण करते हैं।
2. **मातृ-सत्तात्मक परिवार**—ऐसे परिवारों में पितृसत्तात्मक के विपरीत माता में या स्त्री में ही अधिकार तथा सत्ता निहित होती है, वही पारिवारिक नियन्त्रण बनाए रखने का कार्य करती है। भारत में नायर, खासी, गारो आदि लोगों में इस प्रकार के परिवार पाए जाते हैं।

(IV) उत्तराधिकार के आधार पर (On the basis of Succession)

अधिकार की तरह एक ही परिवार में सन्तानों को पद, आदि दिये जाने का क्रम भी पितृ पक्ष के पुत्रों को या मातृ पक्ष की लड़कियों को दिया जा सकता है। इस आधार पर भी परिवार दो प्रकार के पाए जाते हैं—

1. **पितृमार्गी परिवार**—ऐसे परिवार में उत्तराधिकार के नियम पितृ पक्ष के आधार पर तय किए जाते हैं।
2. **मातृमार्गी परिवार**—इसमें उत्तराधिकार के नियम मातृ पक्ष के आधार पर तय किए जाते हैं।

(V) वंशनाम के आधार पर (On the basis of Lineage)

परिवारों का वर्गीकरण वंशनाम के आधार पर किया जाता है। वंशनाम के नियम एक व्यक्ति को जन्म से ही किसी विशिष्ट सम्बन्धी समूह से सम्बद्ध करते हैं।

1. **पितृवंशीय परिवार**—ऐसे परिवारों में वंश-परम्परा पिता के नाम से चलती है। पुत्रों को पिता का वंशनाम प्राप्त होता है। हिन्दुओं में परिवार पितृवंशीय है।
2. **मातृवंशीय परिवार**—ऐसे परिवार में वंश परम्परा माँ के नाम से चलती है और माँ से पुत्रियों को वंशनाम मिलते हैं। मालाबार के नायरों में यही प्रथा है।
3. **उभयवाही परिवार**—उभयवाही परिवारों में एक व्यक्ति अपने दादा-दादी एवं नाना-नानी चारों सम्बन्धियों से समान रूप से सम्बद्ध रहता है।
4. **द्विनामी परिवार**—ऐसे परिवारों में एक व्यक्ति एक ही समय में अपने दादा और नानी से सम्बद्ध रहता है। अन्य दो सम्बन्धी (दादी और नाना) छोड़ दिए जाते हैं। यह भी उभयवाही वंश का ही एक रूप है।

(VI) विवाह के आधार पर (On the basis of Marriage)

1. **एक-विवाही परिवार**—एक-विवाही परिवार एक पुरुष व एक स्त्री के सम्मिलन से बनता है। इसमें पति-पत्नी एवं उनके अविवाहित बच्चे होते हैं।
2. **बहु-विवाही परिवार**—ऐसे परिवारों में एक समय में एक से अधिक जीवन-साथी स्वीकृत होते हैं। इसके अनेक रूप हैं—
   (i) **बहु-पत्नीक परिवार**—जब एक पुरुष को एक समय में एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करने की स्वीकृति होती है तो उसे बहुपत्नीक परिवार कहते हैं।
   (ii) **बहुपतिक-विवाही परिवार**—जहाँ एक स्त्री एक समय में एक से अधिक पुरुषों से विवाह करती हो तो उसे बहुपति-विवाही परिवार कहते हैं। इसके भी दो रूप हैं—एक वह जिसमें सभी भाई मिलकर एक स्त्री से विवाह करते हैं, इसे **भ्रातृ बहुपतिक परिवार** (Adelphic Polyandrous Family) कहते हैं। द्वितीय, **अभ्रातृ बहुपतिक**

परिवार (Non-adelphic Polyandrous Family) वह परिवार है जिसमें पति एक-दूसरे के भाई न होकर अन्य रिश्तेदार भी हो सकते हैं। इस प्रकार के परिवार जौनसार बाबर के खस, नीलगिरि के टोडा एवं मालाबार के नायर लोगों में तथा तिब्बत में पाए जाते हैं।

(iii) **समूह-विवाही परिवार**—जब कई भाई या कई पुरुष मिलकर स्त्रियों के एक समूह से विवाह करें और सब पुरुष सब स्त्रियों के समान रूप से पति हों तो वह समूह-विवाही परिवार कहलाता है।

(VII) परिवार के कुछ अन्य स्वरूप (Some Other Forms of Family)

1. **जन्ममूलक परिवार**—वह परिवार जिसमें एक व्यक्ति जन्म लेता है, तथा उसका पालन-पोषण होता है, जन्ममूलक परिवार कहा जाता है। ऐसे परिवार में व्यक्ति के माता-पिता एवं अविवाहित भाई-बहन आते हैं।
2. **प्रजननमूलक परिवार**—ऐसे परिवार का निर्माण व्यक्ति विवाह के बाद स्वयं करता है। इसमें एक पुरुष, उसकी पत्नी एवं अविवाहित बच्चे होते हैं।
   उपर्युक्त दोनों प्रकार के परिवारों को हम चित्र द्वारा समझा सकते हैं।
3. **समरक्त परिवार**—लिण्टन ने परिवार के दो प्रकार बतलाए हैं—**समरक्त परिवार** एवं **विवाह सम्बन्धी परिवार**। समरक्त परिवार में सभी सदस्य रक्त से सम्बन्धित होते हैं और कोई भी विवाह सम्बन्धी उसमें नहीं रहता। उदाहरण के लिए, नायर परिवार जो कि मातृ-सत्तात्मक है, में पति यदा-कदा ही अपनी पत्नी के यहाँ आकर रहता है। अधिकांशत: एक स्त्री के सभी मातृ वंशज ही उसमें रहते हैं।
4. **विवाह सम्बन्धी परिवार**—ऐसे परिवारों में रक्त सम्बन्धी एवं विवाह सम्बन्धी दोनों ही साथ-साथ रहते हैं, किन्तु मुख्य जोर विवाह सम्बन्ध पर ही दिया जाता है।
5. **ग्रामीण परिवार**—भारतीय ग्रामों में पाए जाने वाले परिवार संयुक्त प्रकार के होते हैं, उनकी अर्थव्यवस्था कृषि पर आधारित होती है तथा सदस्यों में प्राथमिक सम्बन्धों की प्रधानता पाई जाती है। सजातीयता, परम्परा एवं धर्म की प्रधानता, रूढ़िवादिता, कठोर सामाजिक एवं नैतिक अनुशासन, कर्ता की निरंकुशता एवं सहयोग ग्रामीण परिवारों की प्रमुख विशेषताएँ हैं।
6. **नगरीय परिवार**—इस प्रकार के परिवार नाभिक प्रकार के होते हैं जो औद्योगीकरण की देन हैं। लघु आकार, स्वतन्त्रता, समानता और गतिशीलता इस प्रकार के परिवारों की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

प्र.3. परिवार के महत्त्वपूर्ण कार्यों एवं महत्त्वों की विवेचना कीजिए।

उत्तर

परिवार के कार्य एवं महत्त्व
(Functions and Importance of Family)

परिवार समाज की आधारभूत इकाई है। मानव ने अनेकानेक आविष्कार किए हैं, किन्तु आज तक वह कोई भी ऐसी व्यवस्था नहीं कर पाया है जो परिवार का स्थान ले सके। इसका मूल कारण यह है कि परिवार द्वारा किए जाने वाले प्रकार्य अन्य संघ एवं संस्थाएँ करने में असमर्थ हैं। परिवार के इन विभिन्न कार्यों से परिवार का महत्व स्वत: ही स्पष्ट हो जाता है।

(I) प्राणिशास्त्रीय कार्य (Biological Functions)

परिवार के प्राणिशास्त्रीय कार्य निम्नलिखित हैं—

1. **यौन इच्छाओं की पूर्ति**—मानव की आधारभूत आवश्यकताओं में यौन सन्तुष्टि भी महत्वपूर्ण है। परिवार ही वह समूह है जहाँ मानव समाज द्वारा स्वीकृत विधि से व्यक्ति अपनी यौन-इच्छा की पूर्ति करता है। कोई भी समाज यौन सम्बन्ध स्थापित करने की नियमहीन एवं निर्बाध स्वतन्त्रता नहीं दे सकता, क्योंकि यौन सम्बन्धों के परिणामस्वरूप सन्तानोत्पत्ति होती है, नातेदारी व्यवस्था जन्म लेती है। पदाधिकार एवं उत्तराधिकार तथा वंशनाम व्यवस्थाएँ भी इससे जुड़ी रहती हैं।
2. **सन्तोनोत्पत्ति**—यौन सन्तुष्टि एक दैहिक क्रिया के रूप में ही समाप्त नहीं होती, वरन् इसका परिणाम सन्तानोत्पत्ति के रूप में भी होता है। मानव समाज की निरन्तरता बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि मृत्यु को प्राप्त होने वाले सदस्यों का स्थान नवीन सदस्यों द्वारा भरा जाए। परिवार ही समाज के इस महत्वपूर्ण कार्य को निभाता है। परिवार के बाहर भी सन्तोनोत्पत्ति हो सकती है, किन्तु कोई भी समाज अवैध सन्तानों को स्वीकार नहीं करता। वैध सन्तानों को ही पदाधिकार एवं उत्तराधिकार प्राप्त होता है।

3. **प्रजाति की निरन्तरता**—परिवार ने ही मानव जाति को अमर बनाया है। यही मृत्यु और अमृत्व का संगम-स्थल है। नयी पीढ़ी को जन्म देकर परिवार ने मानव की स्थिरता एवं निरन्तरता को किए बनाए रखा है। **गुडे** लिखते हैं कि "यदि परिवार मानव की प्राणिशास्त्रीय आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त व्यवस्था न करे तो समाज समाप्त हो जायेगा।"

(II) शारीरिक कार्य (Physical Functions)

परिवार के शारीरिक कार्य निम्नलिखित हैं—

1. **शारीरिक रक्षा**—परिवार अपने सदस्यों को शारीरिक संरक्षण प्रदान करता है। वृद्धावस्था, बीमारी, दुर्घटना, असहाय अवस्था, अपाहित होने आदि की अवस्था में परिवार ही अपने सदस्यों की सेवा करता है। गर्भवती माता एवं नवजात शिशु की शारीरिक शिक्षा का भार भी परिवार पर ही होता है।
2. **बच्चों का पालन-पोषण**—मानव ही एक ऐसा प्राणी है जिसका शैशव काल अन्य प्राणियों की तुलना में लम्बा होता है। इस अवधि में उसका लालन-पालन परिवार द्वारा ही किया जाता है। वर्तमान समय में शिशुओं के लालन-पालन के लिए अनेक संगठनों का निर्माण किया गया है, किन्तु जो भावात्मक पर्यावरण बच्चों के विकास के लिए आवश्यक है, वह केवल परिवार ही प्रदान कर सकता है।
3. **भोजन का प्रबन्ध**—परिवार अपने सदस्यों के शारीरिक अस्तित्व के लिए भोजन की व्यवस्था करता है। आदिकाल से ही अपने सदस्यों के लिए भोजन जुटाना परिवार का प्रमुख कार्य रहा है। आदिम समाजों में जहाँ भोजन जुटाना एक सामूहिक क्रिया है, वहाँ तो परिवार का यह मुख्य कार्य है। मानव के जीवित रहने के लिए भोजन आवश्यक है और जीवित रहकर ही मानव सभ्यता एवं संस्कृति का निर्माण करने में समर्थ हो पाता है।
4. **निवास एवं वस्त्र की व्यवस्था**—परिवार अपने सदस्यों के लिए निवास की भी व्यवस्था करता है। घर ही वह स्थान है जहाँ जाकर मानव को पूर्ण शान्ति प्राप्त होती है। सर्दी, गर्मी एवं वर्षा से रक्षा के लिए परिवार ही अपने सदस्यों को वस्त्र एवं शरण-स्थान प्रदान करता है।

(III) आर्थिक कार्य (Economic Functions)

परिवार द्वारा किए जाने वाले आर्थिक कार्य निम्न प्रकार हैं—

1. **उत्तराधिकार का निर्धारण**—प्रत्येक समाज में सम्पत्ति एवं पदों के पुरानी पीढ़ी द्वारा नई पीढ़ी को हस्तान्तरण की व्यवस्था पाई जाती है और यह कार्य परिवार को ही करना होता है। वंशगत सम्पत्ति के हस्तान्तरण के प्रत्येक समाज के अपने नियम हैं। पितृ-सत्तात्मक परिवार में उत्तराधिकार पिता से पुत्र को प्राप्त होता है जबकि मातृसत्तात्मक परिवार में माता से पुत्री या मामा से भानजे को।
2. **उत्पादक इकाई**—परिवार उपभोग एवं उत्पादन की इकाई है। आदिम समाजों में तो अधिकांश उत्पादन का कार्य परिवार के द्वारा ही किया जाता है। मानव समाज की आदिम अवस्थाओं में; जैसे—शिकार, पशुपालन एवं कृषि अवस्थाओं में परिवार द्वारा ही सम्पूर्ण उत्पादन का कार्य किया जाता था। प्राचीन उद्योगों में भी निर्माण का कार्य परिवार के द्वारा ही होता था। वर्तमान में भी अविकसित और अपूर्ण औद्योगिक अवस्था वाले समाजों में निर्माण का कार्य परिवार के स्त्री-पुरुषों एवं बच्चों द्वारा ही किया जाता है। इस प्रकार परिवार उत्पादन की एक सहकारी उत्पादक इकाई है।
3. **श्रम-विभाजन**—परिवार में श्रम-विभाजन का सबसे सरल रूप देखा जा सकता है जहाँ पुरुष, स्त्री एवं बच्चों के बीच कार्य का विभाजन होता है। परिवार में कार्य-विभाजन का आधार यौन एवं आयु दोनों हैं। स्त्रियाँ गृह-कार्य करती हैं तो पुरुष बाह्य कार्य तथा बच्चे छोटा-मोटा कार्य। शक्ति या परिश्रम-साध्य कार्य पुरुषों द्वारा किए जाते हैं। परिवार के सदस्यों में श्रम-विभाजन आर्थिक सहयोग का प्रमुख कारक है।
4. **आय तथा सम्पत्ति का प्रबन्ध**—परिवार की विशेषताओं के दौरान हम कह चुके हैं कि प्रत्येक परिवार के पास सदस्यों के भरण-पोषण के लिए कोई अर्थव्यवस्था अवश्य होती है। इस अर्थव्यवस्था के द्वारा ही वह आय प्राप्त करता है। परिवार की गरीबी एवं समृद्धि का पता आय से ही ज्ञात होता है। अपनी आय को परिवार कैसे खर्च करेगा, यह भी परिवार का मुखिया तय करता है। प्रत्येक परिवार के पास जमीन, जेवर, औजार, नकद, सोना, पशु, दुकान आदि के रूप में चल और अचल सम्पत्ति होती है जिसकी देख-रेख और सुरक्षा भी वही करता है।

(IV) धार्मिक कार्य (Religious Functions)

प्रत्येक परिवार किसी-न-किसी धर्म का अनुयायी भी होता है। सदस्यों को धार्मिक शिक्षा, धार्मिक प्रथाएँ, नैतिकता, व्रत, त्योहार, आदि का ज्ञान भी परिवार ही कराता है। ईश्वर पूजा एवं आराधना, पूर्वज पूजा आदि कार्यों को एक व्यक्ति परिवार के अन्य सदस्यों से ही सीखता है। पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, हिंसा-अहिंसा की धारणा भी एक व्यक्ति परिवार से ही ग्रहण करता है।

(V) राजनीतिक कार्य (Political Functions)

परिवार राजनीतिक कार्य भी करता है। आदिम और सरल समाजों में जहाँ प्रशासक या जनजाति का मुखिया परिवारों के मुखियाओं से सलाह लेकर कार्य करता है, वहाँ परिवार द्वारा महत्त्वपूर्ण राजनीतिक भूमिका निभाई जाती है। भारत में संयुक्त परिवारों में कर्ता ही परिवार में प्रशासक होता है, वही परिवार के झगड़ों को निपटाने एवं न्याय करने वाला जज एवं ज्यूरी होता है। वही परिवार का अन्य परिवारों से सम्बन्ध तय करता है, वही ग्राम पंचायत एवं जाति पंचायत में अपने परिवार का प्रतिनिधित्व करता है।

(VI) समाजीकरण का कार्य (Function of Socialization)

परिवार में ही बच्चे का समाजीकरण प्रारम्भ होता है। समाजीकरण की क्रिया से जैविक प्राणी सामाजिक प्राणी बनता है, वहीं उसे परिवार में समाज के रीति-रिवाजों, प्रथाओं, रूढ़ियों और संस्कृति का ज्ञान प्राप्त होता है। धीरे-धीरे बच्चा समाज की प्रकार्यात्मक इकाई (Functional Unit) बन जाता है। परिवार ही समाज की संस्कृति को पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित करता है। परिवार में ही ज्ञान का संचय, संरक्षण एवं वृद्धि होती है।

(VII) शिक्षात्मक कार्य (Educational Functions)

परिवार ही बच्चे की प्रथम पाठशाला है जहाँ उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। परिवार के द्वारा दी गई शिक्षाएँ जीवन-पर्यन्त आत्मसात होती रहती हैं। महापुरुषों की जीवनियाँ इस बात की साक्षी हैं कि उनके व्यक्तित्व के निर्माण में परिवार की प्रमुख भूमिका रही है। आदिम समय में जब आज की तरह शिक्षण संस्थाएँ नहीं थीं तो परिवार ही शिक्षा की मुख्य संस्था थी। परिवार में ही बालक दया, स्नेह, प्रेम, सहानुभूति, त्याग, बलिदान, आज्ञा-पालन, कर्तव्यवरायणता आदि का पाठ सीखता है।

(VIII) मनोवैज्ञानिक कार्य (Psychological Functions)

परिवार अपने सदस्यों को मानसिक सुरक्षा और सन्तोष प्रदान करता है। परिवार के सदस्यों में परस्पर प्रेम, सहानुभूति और सद्भाव पाया जाता है। वही बालक में आत्म-विश्वास पैदा करता है। जिन बच्चों को माता-पिता का प्यार एवं स्नेह नहीं मिल पाता, वे अपराधी एवं विघटित व्यक्तित्व वाले बन जाते हैं। माता-पिता में से किसी की मृत्यु तलाक, पृथक्करण, घर से अनुपस्थिति आदि के कारण बच्चे को स्नेह एवं मानसिक सुरक्षा नहीं मिल पाने पर उसके व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता है।

(IX) सांस्कृतिक कार्य (Cultural Functions)

परिवार ही समाज की संस्कृति की रक्षा करता है तथा नई पीढ़ी को संस्कृति का ज्ञान प्रदान करता है। परिवार ही संस्कृति का हस्तान्तरण कर संस्कृति की निरन्तरता एवं स्थायित्व बनाए रखता है।

(X) मानव अनुभवों का हस्तान्तरण (Transmission of Human Experiences)

पुरानी पीढ़ी द्वारा संकलित ज्ञान एवं अनुभव का संरक्षण एवं हस्तान्तरण कर परिवार समाज को अपना अमूल्य योगदान देता है। इसके अभाव में समाज की प्रत्येक पीढ़ी को ज्ञान की नये सिरे से खोज करनी पड़ेगी।

(XI) मनोरंजनात्मक कार्य (Recreational Functions)

परिवार अपने सदस्यों के लिए मनोरंजन का कार्य भी करता है। छोटे-छोटे बच्चों की प्यारी बोली एवं उनके पारस्परिक झगड़े तथा दाम्पत्य प्रेम परिवार के मनोरंजन के केन्द्र हैं। परिवार में मनाए जाने वाले त्योहार, उत्सव, धार्मिक कर्मकाण्ड, विवाह उत्सव, श्राद्ध व भोज, भजन-कीर्तन आदि परिवार में मनोरंजन प्रदान करते हैं।

(XII) पद निर्धारण (Placement in the Society)

परिवार अपने सदस्यों का समाज में स्थान निर्धारण का कार्य भी करता है। एक व्यक्ति का समाज में क्या स्थान होगा, यह इस बात पर निर्भर है कि उसका जन्म किस परिवार में हुआ? राजतन्त्र में राजा का सबसे बड़ा पुत्र ही राजा बनता है। प्रदत्त पदों पर आधारित समाज व्यवस्था में जहाँ जन्म का व्यक्ति के गुणों की तुलना में अधिक महत्त्व होता है, परिवार का व्यक्ति के पद-निर्धारण में महत्वपूर्ण योगदान होता है।

(XIII) सामाजिक नियन्त्रण (Social Control)

परिवार का मुखिया सदस्यों पर नियन्त्रण रखता है तथा उन्हें गोत्र, जाति एवं समाज की प्रथाओं, परम्पराओं, रूढ़ियों एवं कानूनों के अनुरूप आचरण करने को प्रेरित करता है। ऐसा न करने पर वह उन्हें ताड़ना देता है, डाँट-डपट करता है या परिवार से बहिष्कार की धमकी देता है। परिवार का वातावरण ही कुछ ऐसा होता है कि वहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्य एवं दायित्वों का निर्वाह करता है। वहाँ शक्ति द्वारा नियन्त्रण के अवसर कम ही आते हैं।

परिवार के विभिन्न कार्यों के उल्लेख से स्पष्ट है कि परिवार समाज की महत्वपूर्ण इकाई है। आज अनेक संघ एवं संस्थाएँ परिवार के कार्यों को ग्रहण कर रहे हैं, किन्तु फिर भी किसी-न-किसी रूप में समाज में परिवार का अस्तित्व बना हुआ है और बना रहेगा।

प्र.4. नातेदारी का अर्थ एवं परिभाषा स्पष्ट कीजिए तथा इसके महत्त्व का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

नातेदारी का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Kinship)

अंग्रेजी भाषा के 'Kinship' शब्द की हिन्दी संगोत्रता, बन्धुत्व, नातेदारी एवं स्वजन की गई है। नातेदारी एवं विवाह जीवन के आधारभूत तथ्य हैं। यौन इच्छा विवाह को जन्म देती है और विवाह परिवार एवं नातेदारी को। सृष्टि के प्रारम्भ से ही जिन बातों ने व्यक्तियों को एकता के सूत्र में बांधने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है, उनमें आर्थिक हित और समान सुरक्षा महत्वपूर्ण हैं। सामूहिक सुरक्षा की भावना ने ही कई छोटे-मोटे संघों के निर्माण की प्रेरणा दी जो परिवार से लेकर राष्ट्र तक हैं। समान भाषा, धर्म, जाति एवं राष्ट्र के लोगों के बीच व्यक्ति अपने को अधिक सुरक्षित महसूस करता है, लेकिन इनसे भी अधिक सुरक्षित वह अपने को नातेदारों में पाता है। जिनके साथ उसके सामाजिक, नैतिक, आर्थिक हित जुड़े हुए हैं, वह राष्ट्रीयता, धर्म, प्रदेश सभी बदल सकता है, परन्तु नातेदारी नहीं, इसमें रक्त का बन्धन है। अत: जंगली और असभ्य जनजातियों से लेकर सभ्य समाजों तक में इसे पुष्ट एवं विश्वसनीय माना जाता है।

चार्ल्स विनिक ने संगोत्रता (नातेदारी) को परिभाषित करते हुए लिखा है, "संगोत्रता (नातेदारी) व्यवस्था से समाज द्वारा मान्यता प्राप्त वे सम्बन्ध आ सकते हैं जो कि अनुमानित और वास्तविक वंशावली सम्बन्धों पर आधारित हों।"

रेडक्लिफ ब्राउन के अनुसार, "नातेदारी सामाजिक उद्देश्यों के लिए स्वीकृत वंश सम्बन्ध है जो कि सामाजिक सम्बन्धों के परम्परात्मक सम्बन्धों का आधार है।"

डॉ० रिवर्स के अनुसार, "संगोत्रता (बन्धुत्व) की मेरी परिभाषा उस सम्बन्ध से है जो वंशावलियों के माध्यम से निर्धारित तथा वर्णित की जा सकती है।"

लूसी मेयर के अनुसार, "बन्धुत्व में सामाजिक सम्बन्धों को जैविक शब्दों में व्यक्त किया जाता है।"

रॉबिन फॉक्स के अनुसार नातेदारी की अत्यन्त सरल परिभाषा यह है कि, "नातेदारी केवल मात्र स्वजन अर्थात् वास्तविक, ख्यात अथवा कल्पित समरक्तता वाले व्यक्तियों के मध्य सम्बन्ध है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से स्पष्ट है कि हम संगोत्रता (नातेदारी) में उन व्यक्तियों को सम्मिलित करते हैं जिनसे हमारा सम्बन्ध वंशावली के आधार पर होता है और वंशावली सम्बन्ध परिवार से पैदा होते हैं एवं परिवार पर ही निर्भर हैं। ऐसे सम्बन्धों को समाज की स्वीकृति आवश्यक है। कभी-कभी प्राणिशास्त्रीय रूप से सम्बन्ध न होने पर भी यदि उन सम्बन्धों को समाज ने स्वीकार कर लिया है तो वे नातेदार माने जाते हैं। उदाहरण के लिए, गोद लिया हुआ पुत्र पिता का असली पुत्र नहीं है, परन्तु उनके सम्बन्धों को समाज ने स्वीकार कर लिया है, अत: वे एक-दूसरे के नातेदार माने जाते हैं। भारत में प्राचीन समय में विवाह के पूर्व ही किसी लड़की के होने वाला पुत्र या विवाह के बाद पति की स्वीकृति से दूसरे उत्पन्न पुत्र, जिसे 'क्षेत्रज' कहते थे, भी नातेदारी में सम्मिलित था।

बहुपति विवाही टोडा जनजाति में बच्चे का प्राणिशास्त्री पिता कोई भी भाई हो सकता है, परन्तु सामाजिक रूप से वही भाई पिता माना जाएगा जिसने 'परसुतपिमी' संस्कार किया हो। यही बात हम देवर एवं साली विवाह में भी देख सकते हैं। देवर विवाह में एक पुरुष को अपने भाई की विधवा स्त्री से विवाह करने की स्वीकृति होती है। ऐसे विवाह से उत्पन्न सन्तानें मृत भाई की ही मानी जाती हैं। साली विवाह में एक व्यक्ति को अपनी मृत पत्नी की बहन से विवाह करने की आज्ञा होती है और ऐसी बहन को अपनी मृत बहन का पद प्राप्त हो जाता है। अत: सामाजिक उद्देश्य के लिए रक्त या प्राणिशास्त्रीय सम्बन्ध नातेदारी में जरूरी नहीं है। इसका कारण यह है कि नातेदारी एक सामाजिक तथ्य (Social fact) है जिसमें समाज की स्वीकृति महत्वपूर्ण है, सम्बन्धों की सामाजिक स्वीकृति के नियम भिन्न-भिन्न समाजों व स्थानों पर भिन्न-भिन्न हैं। इसका कोई सर्वमान्य तरीका नहीं है। नातेदारों में हम रक्त सम्बन्धियों एवं विवाह सम्बन्धियों दोनों को सम्मिलित करते हैं। रक्त सम्बन्धों को हम नातेदारी की आन्तरिक व्यवस्था कह सकते हैं तो विवाह सम्बन्धों को इसकी बाह्य व्यवस्था।

नातेदारी का सामाजिक महत्त्व
(Social Importance of Kinship)

नातेदारी के महत्त्व को समाज में विभिन्न क्षेत्रों में निम्न प्रकार से समझा जा सकता है—

1. **विवाह का निर्धारण**—नातेदारी एक व्यक्ति के विवाह क्षेत्र का निर्धारण करती है अर्थात् उसके लिए किस प्रकार का विवाह निषिद्ध है, किसे वैध माना गया है और किसे अधिमान्यता (Preference)। दूसरे शब्दों में, समलिंग सहोदर विवाह, विषमलिंग सहोदर विवाह, अन्तर्विवाह, बहिर्विवाह आदि का निर्धारण नातेदारी के आधार पर ही होता है।
2. **परिवार का निर्धारण**—विवाह की भाँति परिवार का भी निर्धारण नातेदारी व्यवस्था करती है। रक्त एवं विवाह सम्बन्ध पर आधारित परिवारिक सम्बन्ध को नातेदार कहते हैं। परिवार का विस्तार नातेदारी का विस्तार ही है। परिवार का स्वरूप विभिन्न नातेदारों की भूमिका में पाए जाने वाले अन्तर को प्रकट करते हैं। **उदाहरण के लिए,** मातृसत्तात्मक परिवार में भाई की भूमिका अपनी बहन के परिवार में महत्त्वपूर्ण है, इसके विपरीत पितृसत्तात्मक परिवारों में बहन के परिवार में भाई की भूमिका नगण्य रहती है। **रैडक्लिपफ ब्राउन** में नातेदारी व्यवस्था का प्रकार्यात्मक विवेचन किया है। उसकी मान्यता है कि विवाह एवं नातेदारी एक-दूसरे के मध्य व्यवस्था उत्पन्न करते हैं।
3. **वंश, उत्तराधिकारी एवं पदाधिकारी का निर्णय**—नातेदारी व्यवस्था वंशावली का भी निर्धारण करती है तथा परिवार या कुल की संपत्ति का कौन दावेदार हो सकता है, को स्पष्ट करती है। मातृवंशीय एवं पितृवंशीय परिवारों में उत्तराधिकार के अलग-अलग सामाजिक नियम होते हैं।
4. **आर्थिक हितों की सुरक्षा—मरडॉक के अनुसार,** नातेदारी समूह, एक व्यक्ति नहीं, वरन् द्वितीय रक्षा पंक्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं। एक व्यक्ति को जब संकटकालीन परिस्थितियों में आर्थिक सहायता के लिए परिवार के बाहर की आवश्यकता हो, तब वह नातेदारी समूह से अपेक्षा कर सकता है। अत: समुदाय अथवा सम्पूर्ण जाति में अन्य सदस्यों की अपेक्षा नातेदारों को उसे सहायता देने का दायित्व सर्वाधिक है। इन सम्बन्धों में रक्त सम्बन्धी भी विशिष्ट महत्त्व रखते हैं, क्योंकि वैवाहिक नातेदारों की तुलना में रक्त सम्बन्धियों को एक व्यक्ति अपने अधिक निकट महसूस करता है।
5. **सामाजिक दायित्वों का निर्वाह**—एक सम्बन्धी दूसरे सम्बन्धी को बिना फल की इच्छा किए नि:शुल्क सेवाएँ देता है, जबकि उन्हीं सेवाओं हेतु हमें बाह्य व्यक्ति को उसकी कीमत देनी होती है। नातेदार एक नैसर्गिक परामर्शदाता होता है। वह संकटकालीन परिस्थितियों में एवं युद्ध तथा शिकार के समय में साथी होता है।
6. **मानसिक सन्तुष्टि**—नातेदारी पारिवारिक सदस्यों को मानसिक सन्तुष्टि प्रदान करता है। नातेदारी की उपस्थिति से व्यक्ति एकाकी नहीं रहता, साथ ही उसे प्रसन्नता और सन्तुष्टि प्राप्त होती है।
7. **उत्तरदायित्व एवं सहयोग को प्रोत्साहन**—नातेदारी व्यवस्था समूह के सदस्यों में उत्तरदायित्व, सहयोग एवं श्रम विभाजन की भावना पैदा करती है। यह व्यवस्था समूह या परिवार के सदस्यों में कर्तव्यों का निर्धारण कर श्रम विभाजन के सिद्धान्त को लागू करने में महत्त्वपूर्ण है।
8. **समानता एवं प्रेम सम्बन्धों को मधुर बनाने के लिए**—नातेदारी व्यवस्था लोगों में समानता का भाव उत्पन्न कर एक-दूसरे के प्रेम सम्बन्धों में मधुरता व घनिष्ठता लाने में सहायक होती है।
9. **मानव को सामाजिक प्राणी बनाती है**—बालक को नातेदारी, अन्य सदस्यों के साथ सामाजिक सम्बन्धों का ज्ञान कराती है। वह (बालक) नातेदारी की रीति-रिवाजों, प्रथाओं, मान्यताओं और विश्वासों को सीखता है।
10. **सामाजिक सुरक्षा**—सामाजिक व्यक्ति अनेक संस्थाओं का सदस्य होता है। जिसमें उसकी अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। किन्तु उसे सुरक्षा की अधिक गारण्टी नातेदारी में प्राप्त होती हैं।

प्र.5. विवाह का अर्थ एवं परिभाषा स्पष्ट कीजिए तथा विवाह के प्रमुख भेद बताइए।

उत्तर

विवाह का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning Definition of Marriage)

विवाह का शाब्दिक अर्थ है, 'उद्वह' अर्थात् वधू को वर के घर ले जाना। विवाह को परिभाषित करते हुए **लूसी मेयर** लिखते हैं, "विवाह की परिभाषा यह है कि वह स्त्री-पुरुष का ऐसा योग है, जिससे स्त्री से जन्मा बच्चा माता-पिता की वैध सन्तान माना जाए" इस परिभाषा में विवाह को स्त्री व पुरुष के ऐसे सम्बन्धों के रूप में स्वीकार किया गया है जो सन्तानों को जन्म देते हैं, उन्हें वैध घोषित करते हैं तथा इसके फलस्वरूप माता-पिता एवं बच्चों को समाज में कुछ अधिकार एवं परिस्थितियाँ प्राप्त होती हैं।

डब्ल्यू०एच०आर० रिवर्स के अनुसार, "जिन साधनों द्वारा मानव समाज यौन सम्बन्धों का नियमन करता है, उन्हें विवाह की संज्ञा दी जा सकती है।"

वेस्टरमार्क के अनुसार, "विवाह एक या अधिक पुरुषों का एक या अधिक स्त्रियों के साथ होने वाला वह सम्बन्ध है, जिसे प्रथा या कानून स्वीकार करता है और जिसमें इस संगठन में आने वाले दोनों पक्षों एवं उनसे उत्पन्न बच्चों के अधिकार एवं कर्तव्यों का समावेश होता है।" वेस्टरमार्क ने विवाह बन्धन में एक समय में एकाधिक स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को स्वीकार किया है, जिन्हें प्रथा एवं कानून की मान्यता प्राप्त होती है। स्त्री-पुरुषों से उत्पन्न सन्तानें वैध होती हैं और वे अपने माता-पिता से कुछ अधिकारों एवं दायित्वों को ग्रहण करती हैं।

बोगार्डस के अनुसार, "विवाह स्त्री और पुरुष के पारिवारिक जीवन में प्रवेश करने की एक संस्था है।"

मजूमदार एवं **मदान** लिखते हैं, "विवाह में कानूनी या धार्मिक आयोजन के रूप में उन सामाजिक स्वीकृतियों का समावेश होता है जो दो विषम लिंगियों को यौन-क्रिया और उससे सम्बन्धित सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों में सम्मिलित होने का अधिकार प्रदान करती है।"

स्पष्ट है कि विवाह दो विषम लिंगियों को पारिवारिक जीवन में प्रवेश करने की सामाजिक, धार्मिक अथवा कानूनी स्वीकृति है। स्त्री-पुरुषों एवं बच्चों को विभिन्न सामाजिक एवं आर्थिक क्रियाओं में सहगामी बनाना, सन्तोनोत्पत्ति करना तथा उनका लालन-पालन एवं सामाजीकरण करना विवाह के प्रमुख कार्य हैं। विवाह के परिणामस्वरूप माता-पिता एवं बच्चों के बीच कई अधिकारों एवं दायित्वों का जन्म होता है।

विवाह के प्रकार (भेद)
(Types of Marriage)

मानव समाज के विकास के साथ-साथ विवाह के भी विभिन्न प्रकार अस्तित्व में आए हैं। पति-पत्नी की संख्या के आधार पर विवाह के प्रमुख प्रकारों को हम निम्नांकित प्रकार से रेखांकित कर सकते हैं—

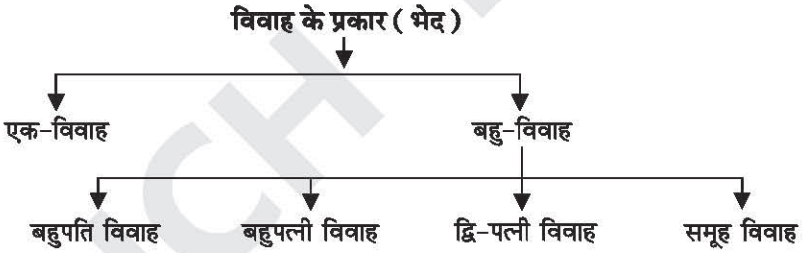

1. एक-विवाह (Monogamy)

बुकेनोविक के अनुसार उस विवाह को एक-विवाह कहना चाहिए जिसमें न केवल एक पुरुष की एक पत्नी या एक स्त्री का एक ही पति हो बल्कि दोनों में से किसी की मृत्यु हो जाने पर भी दूसरा पक्ष अन्य विवाह न करे। एक-विवाह में एक समय में एक पुरुष एक ही स्त्री से विवाह करता है। इसके भी कई रूप पाए जाते हैं। एक रूप वह है जिसमें एक पुरुष का एक स्त्री से विवाह होता है और किसी एक पक्ष की मृत्यु हो जाने पर दूसरा विवाह नहीं करता। **इसे केवल एकल विवाह** कहते हैं। **दूसरा** रूप वह है जिसमें एक पुरुष एक स्त्री से विवाह करता है, किन्तु रखैल के रूप में कई स्त्रियाँ रख सकता है। **तीसरा** रूप वह है जिसमें तलाक या मृत्यु हो जाने पर दूसरा विवाह कर लिया जाता है। इसे **क्रमिक एकल विवाह** कहते हैं। वर्तमान में एक-विवाह को विवाह का सर्वश्रेष्ठ रूप समझा जाता है। **वेस्टरमार्क** ने एक-विवाह को ही विवाह का आदि-स्वरूप माना है। **मैलिनोवस्की** की भी मान्यता है कि "एक-विवाह ही विवाह का सच्चा स्वरूप है, रहा था और रहेगा।" शिक्षा एवं सभ्यता के विकास के साथ-साथ एक-विवाह का प्रचलन बढ़ता ही जा रहा है।

2. बहु-विवाह (Polygamy)

जब एकाधिक पुरुष अथवा स्त्रियाँ विवाह बन्धन में बँधते हैं तो ऐसे विवाह को बहु-विवाह कहते हैं। बहु-विवाह के प्रमुखत: चार रूप पाए जाते हैं—बहुपति विवाह, बहुपत्नी विवाह, द्वि-पत्नी विवाह एवं समूह विवाह। हम यहाँ इनका संक्षेप में उल्लेख करेंगे—

(अ) बहुपति विवाह (Polyandry)

डॉ० कापडिया के अनुसार, "बहुपति विवाह एक प्रकार का सम्बन्ध है जिसमें एक स्त्री के एक समय में एक से अधिक पति होते हैं या जिसमें सब भाई एक पत्नी या पत्नियों का सम्मिलित रूप से उपभोग करते हैं।" स्पष्ट है कि बहुपति विवाह में एक स्त्री का एकाधिक पुरुषों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होता है।

यह प्रथा तिब्बत में, देहरादून के जौनसार बाबर परगना, टिहरी गढ़वाल तथा शिमला की पहाड़ियों में रहने वाले खस राजपूतों, नीलगिरि की पहाड़ियों में रहने वाले टोडा एवं कोटा लोगों, लद्दाखी बोटा, चेन्नई के तियान एवं इरावा, मालाबार के नायर, हरावान तथा कम्पाला, कम्बेल, कुर्गवासियों एवं कुछ समय पूर्व तक छोटा नागपुर की सन्थाल एवं मध्य भारत की उराँव जनजाति में प्रचलित रही है। उत्तरी भारत में जाटों के कुछ वर्गों में भी बहुपतित्व का प्रचलन है, किन्तु वर्तमान में धीरे-धीरे इस प्रकार के विवाह का प्रचलन समाप्त होता जा रहा है।

बहुपति विवाह के भी दो रूप पाए जाते हैं—

(i) **भ्रातृक बहुपति विवाह**—जब दो या अधिक भाई मिलकर किसी एक ही स्त्री से विवाह करते हैं अथवा सबसे बड़ा भाई किसी एक स्त्री से विवाह करता है और अन्य भाई स्वत: ही उस स्त्री के पति माने जाते हैं तो इस प्रकार के विवाह को भ्रातृक बहुपति विवाह कहते हैं। भ्रातृक बहुपति विवाह का प्रचलन **खस, टोडा** एवं **कोटा** लोगों तथा पंजाब के पहाड़ी भागों, लद्दाख, कांगड़ा जिले के स्पीती और लाहौल परगनों में पाया जाता है। खस लोगों में सबसे बड़ा भाई ही विवाह करके स्त्री लाता है और शेष भाई स्वत: ही उस स्त्री के पति बन जाते हैं। चेन्नई के नीलगिरि पर्वत के टोडा लोगों में भी भ्रातृक बहुपति विवाह का प्रचलन है। कभी-कभी सगे भाइयों के स्थान पर सगोत्री भाई मिलकर भी एक स्त्री से विवाह कर लेते हैं। इन लोगों में सन्तान निर्धारण का एक सांस्कृतिक तरीका प्रचलित है। जब स्त्री गर्भवती होती है तो भाइयों में से कोई भी भाई गर्भकाल के पाँचवें महीने में स्त्री को तीर व धनुष भेंट करता है। यह प्रथा 'पुरसुतपिमी' के नाम से जानी जाती है। यही भाई होने वाली सन्तान का सामाजिक रूप से पिता माना जाता है, चाहे प्राणिशास्त्रीय रूप से उसका पिता कोई अन्य भाई ही क्यों न हो। अधिकांशत: सामाजिक पितृत्व सबसे बड़े भाई को ही प्रदान किया जाता है, फिर भी सभी भाई समान रूप से पिता माने जाते हैं। सन्तानों को उनके पिता का नाम पूछने पर प्रभावशाली एवं प्रसिद्ध भाई का ही नाम लिया जाता है।

(ii) **अभ्रातृक बहुपति विवाह**—इस प्रकार के विवाह में पति परस्पर भाई नहीं होते हैं। स्त्री बारी-बारी से समान अवधि के लिए प्रत्येक पति के पास रहती है। यह प्रथा **टोडा** तथा **नायरों** में पाई जाती है।

बहुपति विवाह को हम मातृ-पक्ष एवं पितृ-पक्ष दोनों से जोड़ सकते हैं। टोडा, खस एवं कोटा, आदि में पितृपक्षीय बहुपति प्रथा का प्रचलन है जिसमें स्त्री विवाह के बाद या तो पतियों के सामूहिक निवास पर जाकर रहती है या बारी-बारी से सभी पतियों के पास कुछ समय के लिए रहती है। मातृपक्षीय बहुपति विवाही परिवार में स्त्री अपनी माँ के परिवार में या मूल निवास-स्थान पर ही रहती है और पति ही बारी-बारी से वहाँ निवास के लिए आते रहते हैं। यह प्रथा मातृवंशीय **नायर** लोगों में पाई जाती है।

(ब) बहुपत्नी विवाह (Polygyny)

बहुविवाह का एक रूप बहुपत्नी विवाह भी है जिसमें एक पुरुष एकाधिक स्त्रियों से विवाह करता है। **कापड़िया** का मत है कि भारतवर्ष में बहुपत्नी विवाह का प्रचलन वैदिक युग में वर्तमान समय तक प्रचलित रहा है। **अल्टेकर** का मत है कि बहुपत्नी प्रथा धनी, शासक एवं अभिजात वर्ग के लोगों में सामान्य थी। बहुपत्नी विवाह के भी दो रूप पाए जाते हैं—सीमित एवं असीमित। सीमित बहुपत्नी प्रथा में एक स्त्री के मरने पर ही दूसरी स्त्री से विवाह किया जाता है। असीमित बहुपत्नीत्व में स्त्री के बांझ होने पर या अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए पुरुष एकाधिक स्त्रियों से विवाह करता है।

(स) द्वि-पत्नी विवाह (Biogamy)

बहुविवाह का एक रूप द्वि-पत्नी विवाह भी है। इस प्रकार के विवाह में एक पुरुष एक साथ दो स्त्रियों से विवाह करता है। कई बार पहली स्त्री के सन्तान न होने पर दूसरा विवाह कर लिया जाता है। आरेगन तथा एस्कीमो जनजातियों में यह प्रथा प्रचलित है। भारत में भी दक्षिण की कुछ जनजातियों में यह प्रथा पाई जाती है, किन्तु वर्तमान में ऐसे विवाहों पर कानूनी रोक लगा दी गई है।

(द) समूह विवाह (Group Marriage)

समूह विवाह में पुरुषों का एक समूह स्त्रियों के एक समूह से विवाह करता है और समूह का प्रत्येक पुरुष समूह की प्रत्येक स्त्री का पति होता है। परिवार और विवाह की प्रारम्भिक अवस्था में यह स्थिति रही होगी, ऐसी उद्विकासवादियों की धारणा है। यह प्रथा ऑस्ट्रेलिया की जनजातियों में पाई जाती है जहाँ एक कुल की सभी लड़कियाँ दूसरे कुल की भावी पत्नियाँ समझी जाती हैं। वेस्टरमार्क का मत है कि ऐसे विवाह तिब्बत, भारत एवं श्रीलंका के बहुपतित्व वाले समाजों में पाए जाते हैं। **डॉ० सक्सेना** का मत है कि बहुपति विवाही समाजों में आर्थिक स्थिति में सुधार होने पर पुरुष एकाधिक स्त्रियाँ रखते हैं, तब बहुपति विवाह समूह विवाह का रूप ले लेता है।'' टोडा लोगों में बहुपतित्व एवं बहुपत्नीत्व का सम्मिश्रण हो रहा है क्योंकि उन्होंने बालिका वध की प्रथा त्याग दी है। अत: उनमें स्त्रियों की संख्या बढ़ रही है। यदि हम समूह विवाह का प्रयोग इस अर्थ में करते हैं जो यह सूचित करता हो कि समूह का प्रत्येक पुरुष दूसरे समूह की प्रत्येक स्त्री का पति हो तथा उत्पन्न सन्तानों को भी सम्पूर्ण समूह की ही सन्तान समझा जाता है, तो इस प्रकार के विवाह के उदाहरण विश्व में कहीं नहीं हैं।

प्र.6. हिन्दू विवाह का अर्थ, परिभाषा एवं उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।

उत्तर

हिन्दू विवाह की अवधारणा : अर्थ एवं परिभाषा
(Concept of Hindu Marriage : Meaning and Definition)

हिन्दू विवाह से सम्बन्धित परिभाषाएँ विवाह को दो विषम-लिंगियों के बीच पाए जाने वाले यौन सम्बन्धों को सामाजिक एवं वैधानिक स्वीकृति के रूप में प्रकट करती हैं। इन सम्बन्धों के परिणामस्वरूप स्त्री-पुरुषों में पारस्परिक अधिकार एवं कर्तव्यों का उदय होता है।

किन्तु हिन्दुओं में विवाह को एक संस्कार के रूप में स्वीकार किया गया है। आध्यात्मिक प्रयोजनों से ही स्त्री-पुरुष परस्पर स्थायी सम्बन्धों में बँधते हैं। अन्य समाजों की भाँति हिंन्दू विवाह एक सामाजिक या दीवानी समझौता नहीं है। हिन्दुओं की मान्यता है कि विवाह संस्कार के पश्चात् ही मानव में नियमों के परिपालन की भावनाएँ जाग्रत होती हैं। गृहस्थ आश्रम को स्वर्ग के समान माना गया है। हिन्दुओं में विवाह धार्मिक कर्तव्यों की पूर्ति, पुत्र-प्राप्ति, पारिवारिक सुख, सामाजिक एकता, पितृ-ऋण से मुक्ति, पुरुषार्थों की पूर्ति, आदि उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है।

डॉ० कापड़िया ने हिन्दू विवाह को एक संस्कार के रूप में स्वीकार किया है। वे लिखते हैं, ''हिन्दू विवाह एक संस्कार है।'' एक हिन्दू अपने जीवन में विभिन्न संस्कारों को सम्पन्न करता हुआ ही आगे बढ़ता है और अपने व्यक्तित्व को पूर्णता प्रदान करता है। प्रत्येक हिन्दू से प्रतिदिन पंचमहायज्ञ करते रहने की अपेक्षा की गई है और इन यज्ञों को पति-पत्नी के सहयोग से पूरा करने की बात कही गई है। हिन्दुओं के लिए विवाह एक आवश्यक संस्कार एवं कर्तव्य माना गया है। **मेधातिथि** के अनुसार, ''विवाह कन्या को पत्नी बनाने के लिए एक निश्चित क्रम से की जाने वाली अनेक विधियों से सम्पन्न होने वाला पाणिग्रहण-संस्कार है, जिसकी अन्तिम विधि सप्तर्षि-दर्शन है।'' हिन्दुओं में कामवासना को कभी भी विवाह में अधिक महत्व नहीं दिया गया। **कापड़िया** ने लिखा है, ''विवाह प्राथमिक रूप से कर्तव्यों की पूर्ति के लिए होता है, इसलिए विवाह का मौलिक उद्देश्यों धर्म था।'' इस प्रकार हिन्दू विवाह स्त्री-पुरुष का पति-पत्नी के रूप में एक अलौकिक, अविच्छेद्य एवं शाश्वत मिलन है तथा इस पवित्र बन्धन को तोड़ना अधार्मिक है। हिन्दुओं में एक-विवाह को ही आदर्श माना गया है, अन्य प्रकार के विवाहों को नहीं।

हिन्दू विवाह के उद्देश्य
(Aims of Hindu Marriage)

हिन्दुओं में विवाह धार्मिक एवं सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक आवश्यक कर्तव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में अनेक कारणों से विवाह का विशेष महत्व है; जैसे—विवाह के द्वारा ही व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है, ऋणों से मुक्ति प्राप्त करता है, पुरुषार्थों का निर्वाह करता है, समाज के प्रति अपने दायित्वों को निभाता है, विभिन्न प्रकार के संस्कारों को सम्पन्न करता है, हिन्दू विवाह के उद्देश्यों को बताते हुए **डॉ० कापड़िया** लिखते हैं, ''हिन्दू विवाह के उद्देश्य धर्म, प्रजा (सन्तान) तथा रति (आनन्द) बतलाए गए हैं।'' हम यहाँ हिन्दू विवाह के उद्देश्यों का उल्लेख करेंगे।

1. **धर्म या धार्मिक कार्यों की पूर्ति**—हिन्दू विवाह में धर्म एवं धार्मिक कर्तव्यों की पूर्ति को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। धार्मिक कार्यों की पूर्ति के लिए पत्नी का होना अनिवार्य है अन्यथा वे अपूर्ण ही माने जाएँगे। प्रत्येक गृहस्थ से यह अपेक्षा की जाती है कि वह प्रतिदिन ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ एवं नृयज्ञ आदि पाँच महायज्ञ करे। यज्ञ में पति एवं पत्नी दोनों का होना आवश्यक है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम जब अश्वमेध यज्ञ करने लगे तो सीताजी की अनुपस्थिति के कारण यह

सम्भव न हुआ, यज्ञ करने के लिए उन्हें सीताजी की सोने की प्रतिमा बनवानी पड़ी थी। याज्ञवल्क्य के अनुसार, एक पत्नी के मरने पर तुरन्त दूसरा विवाह करना चाहिए अन्यथा धार्मिक कार्य सम्पन्न नहीं किए जा सकते। यही कारण है कि पत्नी को पुरुष की धर्म-पत्नी कहा जाता है।

2. **प्रजा अथवा पुत्र-प्राप्ति**—विवाह का दूसरा उद्देश्य सन्तोनोत्पत्ति माना गया है। हिन्दुओं में पुत्र का विशेष स्थान है, वही पिता के लिए तर्पण और पिण्डदान करता है, उसे मोक्ष दिलाता है। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर पुत्र की आकांक्षा प्रकट की गई है। पाणिग्रहण करते समय पर वधू को कहता है—"मैं उत्तम सन्तान प्राप्त करने के लिए तेरा पाणिग्रहण करता हूँ।" विवाह के समय पुरोहित वर-वधू को आशीर्वाद देते हुए दस पुत्र उत्पन्न करने का आदेश देते हैं। पितृ-ऋण से मुक्ति पाने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति विवाह करके सन्तानों को जन्म दे। इस प्रकार हिन्दू विवाह में यशस्वी एवं दीर्घायु पुत्रों की प्राप्ति पर जोर दिया गया है क्योंकि ऐसी सन्तान ही इस लोक ओर परलोक में सुख प्रदान करने वाली होती है। सन्तान पैदा करने पर ही वंश एवं समाज की निरन्तरता बनी रहती है।
3. **रति आनन्द**—हिन्दू विवाह का तीसरा उद्देश्य यौन-सन्तुष्टि है। उपनिषदों में यौन सुख को सबसे बड़ा सुख कहा गया है। वात्स्यायन ने रति आनन्द की तुलना ब्रह्मानन्द से की है। इस प्रकार धर्मशास्त्रों में यौन इच्छाओं की पूर्ति को आवश्यक माना गया है, किन्तु वह मनमाने ढंग से नहीं वरन् समाज द्वारा स्वीकृत तरीकों से होनी चाहिए। विवाह में रति आनन्द को तीसरा स्थान दिया गया है और इसका उद्देश्य उत्तम धार्मिक सन्तानों की प्राप्ति है।

हिन्दू विवाह के उपर्युक्त शास्त्र-सम्मत उद्देश्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य उद्देश्य निम्न प्रकार हैं—

4. **व्यक्तित्व का विकास**—स्त्री और पुरुष के व्यक्तित्व के विकास के लिए विवाह आवश्यक है। विवाह के द्वारा व्यक्ति समाज में अनेक नवीन पद एवं भूमिकाएँ ग्रहण करता है जिनके पालन से व्यक्तित्व विकसित होता है, नई परिस्थितियों के अनुसार अपने को ढालने में समर्थ होता है। मनु कहते हैं कि मनुष्य अपूर्ण है जिसे विवाह ही पूर्णता प्रदान करता है। विवाह करके सन्तान उत्पन्न करने वाले व्यक्ति को ही शास्त्रों में पूर्ण पुरुष (Perfect man) की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार विवाह व्यक्तित्व के विकास एवं संगठन की दृष्टि से आवश्यक है।
5. **परिवार के प्रति दायित्वों का निर्वाह**—विवाह के द्वारा व्यक्ति अपने पारिवारिक ऋण एवं दायित्वों का निर्वाह करता है। जिन माता-पिता ने उसे जन्म दिया, लालन-पालन कर बड़ा किया, शिक्षा प्रदान की व समाज में रहने योग्य प्राणी बनाया, उनकी वृद्धावस्था, बीमारी एवं संकट के समय सेवा-सुश्रूषा करना व्यक्ति का कर्तव्य है जिसकी पूर्ति विवाह द्वारा ही सम्भव है।
6. **समाज के प्रति कर्तव्यों का निर्वाह**—व्यक्ति पर समाज का भी ऋण होता है। मृत व्यक्तियों के रिक्त स्थानों की पूर्ति के लिए तथा ज्ञान, संस्कृति व सभ्यता की निरन्तरता बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि वह विवाह करे, नई पीढ़ी को जन्म दे और समाज की निरन्तरता बनाए रखने में योग दे।

इस प्रकार हिन्दू विवाह धार्मिक कार्यों की पूर्ति, पुत्र-प्राप्ति, रति आनन्द, ऋणों से मुक्ति, पुरुषार्थों की पूर्ति, स्त्री-पुरुष के व्यक्तित्व का विकास, परिवार, समाज एवं समुदाय की निरन्तरता एवं उनके प्रति अपने दायित्वों का निर्वाह आदि उद्देश्यों को अपने में समाए हुए है।

प्र.7. हिन्दू विवाह में कौन-कौन से स्वरूप पाए जाते हैं?

***अथवा* मनुस्मृति में वर्णित हिन्दू विवाह के प्रमुख आठ स्वरूपों का वर्णन कीजिए।**

उत्तर

हिन्दू विवाह के स्वरूप
(Forms of Hindu Marriage)

विवाह के स्वरूप से हमारा तात्पर्य विवाह बन्धन से बँधने की विभिन्न विधयों से है। मनुस्मृति में बताए गए हिन्दू विवाह के प्रमुख आठ स्वरूप इस प्रकार हैं—

1. **ब्राह्म विवाह**—यह विवाह सभी प्रकार के विवाहों में श्रेष्ठ माना गया है। **मनु** ने ब्राह्म विवाह को परिभाषित करते हुए लिखा है, "वेदों के ज्ञाता शीलवान वर को स्वयं बुलाकर, वस्त्र एवं आभूषण आदि से सुसज्जित कर पूजा एवं धार्मिक विधि से कन्यादान करना ही ब्राह्म विवाह है।" **याज्ञवल्क्य** लिखते हैं, "ब्राह्म विवाह उसको कहते हैं जिसमें वर को बुलाकर अपनी शक्ति के अनुसार अलंकारों से अलंकृत कर कन्यादान दिया जाता है। ऐसे विवाह से उत्पन्न पुत्र इक्कीस पीढ़ियों को पवित्र करने वाला होता है।"

2. **दैव विवाह**—गौतम एवं याज्ञवल्क्य ने दैव विवाह के लक्षण का उल्लेख इस प्रकार किया है—वेदों में दक्षिणा देने के समय यह यज्ञ कराने वाले पुरोहित को अलंकारों से सुसज्जित कन्यादान ही 'दैव' विवाह है। मनु लिखते हैं, "सद्कर्म में लगे पुरोहित को जब वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित कन्या दी जाती है तो इसे दैव विवाह कहते हैं।" प्राचीन समय में यज्ञ और धार्मिक अनुष्ठानों का अधिक महत्त्व था। जो ऋषि अथवा पुरोहित इन पवित्र धार्मिक कार्यों को सम्पन्न कराता यजमान उससे अपनी कन्या का विवाह कर देता था। वर्तमान समय में इस प्रकार के विवाह नहीं पाए जाते। दैव विवाह वैदिक यज्ञों के साथ-साथ लुप्त हो गए।
3. **आर्ष विवाह**—इस प्रकार के विवाह में विवाह का इच्छुक वर कन्या के पिता को एक गाय और एक बैल अथवा इनके दो जोड़े प्रदान करके विवाह करता है। याज्ञवल्क्य लिखते हैं कि दो गाय लेकर जब कन्यादान किया जाए तब उसे आर्ष विवाह कहते हैं। मनु लिखते हैं, "गाय और बैल का एक युग्म वर के द्वारा धर्म कार्य हेतु कन्या के लिए देकर विधिवत कन्यादान करना आर्ष विवाह कहा जाता है।" आर्ष का सम्बन्ध ऋषि शब्द से है। जब कोई ऋषि किसी कन्या के पिता को गाय और बैल भेंट के रूप में देता था तो यह समझ लिया जाता था कि अब उसने विवाह करने का निश्चय कर लिया है। गाय व बैल भेंट करना भारत जैसे देश में पशुधन के महत्व को प्रकट करता है। बैल को धर्म का एवं गाय को पृथ्वी का प्रतीक माना गया है जो कि विवाह की साक्षी के रूप में दिए जाते थे।
4. **प्राजापत्य विवाह**—प्राजापत्य विवाह भी ब्राह्म विवाह के समान होता है। इसमें लड़की का पिता आदेश देते हुए कहता है, "तुम दोनों एक साथ रहकर आजीवन धर्म का आचरण करो।" याज्ञवल्य कहते हैं कि इस प्रकार के विवाह से उत्पन्न सन्तान अपने वंश की बारह पीढ़ियों को पवित्र करने वाली होती है।
5. **असुर विवाह**—मनु लिखते हैं, "कन्या के परिवार वालों एवं कन्या को अपनी शक्ति के अनुसार धन देकर अपनी इच्छा से कन्या को ग्रहण करना 'असुर विवाह' कहा जाता है।" याज्ञवल्क्य एवं गौतम का मत है कि अधिक धन देकर कन्या को ग्रहण करना असुर विवाह कहलाता है। कन्या मूल्य देकर सम्पन्न किए जाने वाले सभी विवाह असुर विवाह की श्रेणी में आते हैं। कन्या मूल्य देना कन्या का सम्मान करना है, साथ ही कन्या के परिवार को उसके चले जाने की क्षतिपूर्ति भी है।
6. **गान्धर्व विवाह**—मनु कहते हैं, "कन्या और वर की इच्छा से पारस्परिक स्नेह द्वारा काम और मैथुन युक्त भावों से जो विवाह किया जाता है, उसे गान्धर्व विवाह कहते हैं।" याज्ञवल्क्य पारस्परिक स्नेह द्वारा होने वाले विवाह को गान्धर्व विवाह कहते हैं। प्राचीन समय में गान्धर्व नामक जाति द्वारा इस प्रकार के विवाह किए जाने के कारण ही ऐसे विवाहों का नाम गान्धर्व विवाह रखा गया है। वर्तमान में हम इसे प्रेम-विवाह के नाम से जानते हैं। वात्सायन ने अपने 'कामसूत्र' में इसे एक आदर्श विवाह माना है। दुष्यन्त का शकुन्तला के साथ गान्धर्व विवाह ही हुआ था।
7. **राक्षस विवाह**—मनु कहते हैं, "मारकर, अंग-छेदन करके, घर को तोड़कर, हल्ला करती हुई, रोती हुई कन्या को बलात् हरण करके लाना 'राक्षस' विवाह कहा जाता है।" **याज्ञवल्क्य** लिखते है, "युद्ध में कन्या का अपहरण करके उसके साथ विवाह करना ही राक्षस विवाह है।" इस प्रकार के विवाह उस समय अधिक होते थे जब युद्धों का महत्त्व था और स्त्री को युद्ध का पुरस्कार माना जाता था। महाभारत काल में इस प्रकार के विवाह के अनेक उदाहरण मिलते हैं। भीष्म ने काशी के राजा को पराजित किया और उसकी लड़की अम्बा को अपने भाई विचित्रवीर्य के लिए उठा लाए। श्रीकृष्ण का रुक्मणी एवं अर्जुन का सुभद्रा के साथ भी इसी प्रकार का विवाह हुआ था। राक्षस विवाह में वर एवं वधू के पक्ष के बीच परस्पर मारपीट एवं लड़ाई-झगड़ा होता है, इस प्रकार के विवाह क्षत्रियों में अधिक होने के कारण इसे 'क्षात्र-विवाह' भी कहा जाता है। आजकल इस प्रकार के विवाह अपवाद रूप में ही देखने को मिलते हैं।
8. **पैशाच विवाह**—मनु कहते हैं, "सोई हुई, उन्मत्त, घबराई हुई, मदिरा पान की हुई अथवा राह में जाती हुई लड़की के साथ बलपूर्वक कुकृत्य करने के बाद उससे विवाह करना पैशाच विवाह है।" इस प्रकार के विवाह को सबसे निकृष्ट कोटि का माना गया है। किन्तु इस प्रकार के विवाह को लड़की का दोष न होने के कारण तथा कौमार्य भंग हो जाने के बाद उसे सामाजिक बहिष्कार से बचाने एवं उसका सामाजिक सम्मान बनाए रखने के लिए ही स्वीकृति प्रदान की गयी है।

'सत्यार्थ प्रकाश में ब्राह्म विवाह को सर्वश्रेष्ठ, प्राजापत्य को मध्यम एवं आर्ष, असुर तथा गान्धर्व को निम्न कोटि का बताया गया है। राक्षस विवाह को तो अधम तथा पैशाच विवाह को महाभ्रष्ट माना गया है। **वर्तमान समय में हिन्दुओं में ब्राह्म, असुर, गान्धर्व एवं कहीं-कहीं पैशाच विवाह प्रचलित हैं।** देव, आर्ष, प्राजापत्य एवं राक्षस विवाह पूर्णत: समाप्त हो चुके हैं। **डॉ० मजूमदार** कहते है, "हिन्दू समाज अब केवल दो स्वरूपों को मान्यता देता है—ब्राह्म तथा असुर। उच्च जातियों में पहले प्रकार का और निम्न जातियों

में दूसरे प्रकार का विवाह प्रचलित है "यद्यपि उच्च जातियों में असुर प्रथा पूर्णत: नष्ट नहीं हुई है।" वर्तमान समय में पढ़े-लिखे लोगों में गान्धर्व विवाह जिसे हम प्रेम-विवाह कहते हैं, का भी प्रचलन है।

प्र.8. मुस्लिम विवाह से आप क्या समझते हैं? मुस्लिम विवाह के उद्देश्य एवं विवाह की शर्तों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

मुस्लिम विवाह
(Muslim Marriage)

मुसलमानों में विवाह को 'निकाह' कहते हैं, जिसका शाब्दिक अर्थ है नर-नारी का विषयी समागम। **मुस्लिम विवाह एक धार्मिक संस्कार नहीं वरन् एक दीवानी समझौता है** जिसका उद्देश्य घर बसाना, सन्तानोत्पत्ति करना एवं उन्हें वैध घोषित करना है। इसे परिभाषित करते हुए **'मुल्ला'** ने लिखा है, "निकाह (विवाह) एक विशिष्ट समझौता है जिसका उद्देश्य बच्चे उत्पन्न करना और उनको वैध घोषित करना है।" **अमीर अली** के अनुसार "मुस्लिम विवाह एक कानूनी संविदा है जिसके लिए न तो किसी पुरोहित (मुल्ला) की आवश्यकता है और न किसी धार्मिक कर्मकाण्ड की।"

हेदया ने लिखा है, "मुस्लिम विवाह एक समझौता है जिसका उद्देश्य यौनिक सम्बन्धों और बच्चों के जन्म को कानूनी रूप देना है तथा समाज के हित में पति-पत्नी और उनसे उत्पन्न सन्तानों के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों को निर्धारित करके सामाजिक जीवन का नियमन करना है।"

मुस्लिम विवाह कानून के अनुसार, विवाह स्त्री-पुरुष के बीच किया गया वह बिना शर्त का समझौता है जिसका उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति कर बच्चों को वैध रूप प्रदान करना है।

कापडिया लिखते हैं, "इस्लाम में विवाह एक अनुबन्ध (Contact) है जिसमें दो साक्षियों के हस्ताक्षर होते हैं। इस अनुबन्ध का प्रतिफल 'मेहर' अर्थात् वधू को भेंट दी जाती है।" इस प्रकार मुसलमानों में विवाह को दो विषम लिंगियों के बीच एक समझौते के रूप में स्वीकार किया गया है। अत: इसमें भारतीय समझौता अधिनियम की सभी आवश्यक बातें मौजूद हैं, जैसे—(i) समझौते के लिए किसी भी पक्ष से एक प्रस्ताव रखा जाए, (ii) इस प्रस्ताव को दोनों पक्षों की ओर से स्वतन्त्र स्वीकृति प्राप्त हो, (iii) समझौता करने के लिए दोनों पक्ष सक्षम हों अर्थात वे अल्पवयस्क या पागल न हों, अल्पवयस्क होने की स्थिति में उनके संरक्षकों द्वारा इसकी स्वीकृति प्रदान की जाए, (iv) समझौते के प्रतिफल के रूप में कुछ धन हो।

मुस्लिम विवाह भी एक समझौता है जिसमें उपर्युक्त सारी शर्तें लागू होती हैं। मुस्लिम विवाह को समझौता बनाने में दो बातों का प्रभाव पड़ा है—एक, प्राचीन अरबी व्यवस्था में स्त्री को दी गई अधिक स्वतन्त्रता और दूसरी, मुसलमानों की सुख सम्बन्धी विचारधारा का प्रभाव।

मुस्लिम विवाह के उद्देश्य
(Aims of Muslim Marriage)

1. स्त्री-पुरुषों को यौन सम्बन्ध स्थापित करने की वैध स्वीकृति प्रदान करना।
2. बच्चों को जन्म देना तथा उनका पालन-पोषण करना।
3. पति-पत्नी के पारस्परिक अधिकारों को 'मेहर' के द्वारा स्वीकृति प्रदान करना।
4. एक संविदा के रूप में पति-पत्नी को यह अधिकार देना कि एक पक्ष द्वारा संविदा का पालन न करने पर दूसरा पक्ष उसे छोड़ सकता है।
5. बच्चों के पालन-पोषण को ध्यान में रखकर मुस्लिम समाज में बहु-पत्नी विवाह प्रथा को मान्यता प्रदान की गई है।

मुस्लिम विवाह की शर्तें
(Conditions of Muslim Marriage)

1. प्रत्येक मुसलमान जो बालिग (18 वर्ष की आयु का) हो, पागल न हो और सही मस्तिष्क का हो, निकाह कर सकता है।
2. नाबालिग बच्चों का विवाह उनके संरक्षकों की स्वीकृति द्वारा किया जा सकता है। किन्तु ऐसे विवाह को वर-वधू को बालिग होने पर समाप्त करने का अधिकार है। इस अधिकार को 'खयार-उल-बुलूग' या बालिग होने का विकल्प (option of puberty) कहते हैं, किन्तु साधारणत: पिता या दादा द्वारा तय किए गए विवाह समाप्त नहीं किए जाते।
3. विवाह की स्वीकृति दोनों पक्षों की स्वतन्त्र इच्छा से होनी चाहिए, न-कि धोखे या जबरदस्ती से।
4. विवाह की स्वीकृति के अवसर पर गवाह के रूप में दो पुरुष अथवा एक पुरुष और दो स्त्रियों का होना आवश्यक है।

5. एक मुसलमान पुरुष एक समय में चार स्त्रियों तक से विवाह कर सकता है, किन्तु मुस्लिम स्त्री एक समय में केवल एक ही पुरुष से विवाह कर सकती है।
6. तीर्थ यात्रा के समय वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं किए जा सकते।
7. विवाह की स्वीकृति काजी के सम्मुख होनी चाहिए।
8. जो स्त्री इद्दत की अवधि (चार मासिक धर्मों के बीच की तीन माह की अवधि) में हो, उसके साथ विवाह अनियमित है।
9. विवाह की एक आवश्यक शर्त 'मेहर' अर्थात् स्त्री धन है जो विवाह के समय पुरुष द्वारा स्त्री को चुका दिया जाना चाहिए या तय कर लिया जाना चाहिए।
10. विवाह में किसी प्रकार की बाधाएँ नहीं होनी चाहिए। ये बाधाएँ दो प्रकार की हैं—एक वे जिनसे विवाह शून्य या बातिल (void) हो जाता है अर्थात् ऐसे विवाह को माना नहीं जाता है और दूसरी वे बाधाएँ जिनसे विवाह अनियमित या फासिद (Irregular) माना जाता है और इन बाधाओं को दूर करने पर विवाह पुन: मान्य हो जाता है।

निम्नलिखित अवस्थाओं में विवाह समाप्त हो जाता है—

1. किसी स्त्री के एक समय में एकाधिक पति से विवाह करने अर्थात् बहुपति विवाह होने पर दूसरा विवाह शून्य हो जाता है, किन्तु प्रथम विवाह मान्य बना रहता है।
2. निकट सम्बन्धियों; जैसे—माता, दादी, नानी, सास, पुत्री, सगी बहन, चाची, भाभी, दोहती आदि से विवाह करने पर वह विवाह शून्य हो जाता है, किन्तु एक व्यक्ति चचेरी बहन से विवाह कर सकता है।
3. मूर्ति-पूजकों से विवाह भी शून्य माना जाता है।
4. पागल या अल्पवयस्क द्वारा बिना संरक्षकों की स्वीकृति के विवाह शून्य माना जाता है।

निम्नलिखित परिस्थितियों में विवाह अनियमित हो जाता है—

1. **पाँचवीं पत्नी से विवाह**—एक समय में एक पुरुष चार स्त्रियों तक से विवाह कर सकता है। यदि कोई पाँचवीं स्त्री से विवाह करता है तो वह अनियमित है, परन्तु किसी एक स्त्री को तलाक देकर वह विवाह नियमित किया जा सकता है।
2. **साक्षियों का अभाव**—दो पुरुष या एक पुरुष और दो स्त्रियों का विवाह के समय गवाह के रूप में उपस्थित होना आवश्यक है, इनके अभाव में विवाह अनियमित हो जाता है।
3. **विधर्मियों से विवाह**—शिया कानून के अनुसार वर एवं वधू दोनों मुसलमान होने चाहिए। विधर्मी होने पर विवाह अनियमित हो जाता है, किन्तु अस्थायी विवाह जिसे 'मुताह' कहते हैं, एक किताबिया अर्थात् जो धर्म किसी किताब पर आधारित हो जैसे ईश्वरीय ग्रन्थ तौरेत, इन्जील को मानने वाले यहूदी एवं ईसाई तथा अग्निपूजक पारसियों के साथ भी हो सकता है।

प्र.9. ईसाई विवाह की अवधारणा स्पष्ट करते हुए इसके उद्देश्य एवं प्रकारों (स्वरूप) का वर्णन कीजिए।

उत्तर

ईसाई विवाह
(Christian Marriage)

ईसाइयों में ब्रह्मचर्य एवं नैतिकता पर विशेष जोर दिया गया है। भारत के ईसाइयों में विवाह धार्मिक आदर्शों के अनुरूप है। ईसाई धर्म में विवाह के सम्बन्ध में दो प्रकार की विचारधाराएँ पाई जाती हैं। प्रथम विचारधारा स्त्री को दूर रखने के आदर्श से सम्बन्धित है। **सेण्ट पॉल** ने बताया है कि मनुष्य के लिए यह बेहतर है कि वह स्त्री का स्पर्श न करे। आगे आपने कहा है कि मैं अविवाहितों और विधवाओं से कहता हूँ कि यह उनके लिए अच्छा है कि वे मेरे समान अविवाहित जीवन व्यतीत करें। सेण्ट पॉल ने स्त्री को धर्म-कार्य और मोक्ष के मार्ग में बाधक माना है। अत: व्यक्ति को ब्रह्मचर्यमय जीवन बिताना चाहिए और विवाह नहीं करना चाहिए। दूसरी विचारधारा के अनुसार विवाह को ईश्वर की इच्छा और आज्ञा माना जाता है। सेण्ट पॉल ने कहा है कि मनुष्य को स्त्री के स्पर्श से बचना चाहिए, परन्तु फिर भी अनुचित यौन सम्बन्ध को रोकने के लिए प्रत्येक पुरुष की अपनी पत्नी और प्रत्येक स्त्री का अपना पति होना चाहिए। आगे आपने बताया है कि यदि अविवाहित और विधवाएँ संयम नहीं रख सकती हों तो पाप करके जलने की अपेक्षा विवाह करना उपयुक्त है। **डॉ० कैलाशनाथ शर्मा** के अनुसार, ईसाई धर्म में नैतिकता पर प्रारम्भ से ही इतना जोर दिया गया कि यौन सम्बन्धों को किसी रूप में भी स्थापित करना उत्तम जीवन के लिए गलत समझा गया।.....विवाह केवल ऐसी स्थिति में ही करना उचित समझा गया, जब कोई व्यक्ति अपनी यौन-प्रवृत्तियों को नियन्त्रित नहीं कर सकता हो। ये विचार

धीरे-धीरे इतने दृढ़ होते गए कि मनुष्य जीवन की पूर्णता के लिए अविवाहित रहना ही आदर्श बन गया और विवाह को मनुष्य की निर्बलताओं का केवल सबसे अच्छा हल मान लिया गया। अब यह धारणा बदल चुकी है और आजकल ईसाइयों में विवाह को आवश्यक माना जाता है।

प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय के विकास के फलस्वरूप ईसाइयों में विवाह सम्बन्धी धारणा में परिवर्तन आया। इस सम्प्रदाय के अनुसार परिवार की स्थापना ईश्वर इच्छा के अनुरूप ही है तथा विवाह परिवार की स्थापना के लिए आवश्यक है। विवाह किसी भी रूप में पाप या अधार्मिक नहीं है। ईसाइयों में विवाह को केवल यौन इच्छाओं की पूर्ति एवं सन्तानोत्पत्ति का साधन मात्र नहीं माना गया है। विवाह एक ऐसी सामाजिक संस्था है जिसके माध्यम से पति-पत्नी में शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं। विवाह सम्बन्धी इन्हीं विचारों से प्रभावित होकर अनेक पादरी विवाह करने लगे हैं। आजकल ईसाइयों में विवाह को जीवन के विभिन्न दायित्वों को निभाने की दृष्टि से आवश्यक माना जाता है। जहाँ मुस्लिम विवाह को यौन-सन्तुष्टि का ही प्रधान साधन माना जाता है, वहाँ ईसाई विवाह में इसके अतिरिक्त पवित्र दायित्वों की पूर्ति पर विशेष जोर दिया जाता है।

क्रिश्चियन बुलेटिन में ईसाई विवाह को इस प्रकार परिभाषित किया गया है—"विवाह समाज में एक पुरुष तथा स्त्री के बीच एक समझौता है, जो साधारणत: सम्पूर्ण जीवन भर के लिए होता है और इसका उद्देश्य यौन सम्बन्ध, पारस्परिक सहयोग और परिवार की स्थापना करना है।" इस परिभाषा के अनुसार विवाह एक समझौता है, परन्तु साथ ही इसे एक ऐसा समझौता माना गया है जो आजीवन चलता रहता है। **पादरी** के अनुसार ईसाई विवाह एक समझौता है। यह तथ्य विवाह के अवसर पर पादरी द्वारा उच्चारित इन शब्दों से स्पष्ट होता है, "तुम अब पति-पत्नी केवल औपचारिक संविदा (Formal Contract) से संयुक्त नहीं हुए हो, अपितु विवाह संस्कार से पवित्र बन्धन में बँधे हो।" ईसाई बुलेटिन में अन्यत्र यह भी कहा गया है कि "ईसाई चर्च में सदैव यह विचार रहा है कि सार्वभौमिक विवाह की संस्था का मानव जीवन के लिए ईश्वरीय उद्देश्य में केन्द्रीय स्थान है।" स्पष्ट है कि ईसाई विवाह में कुछ मात्रा में धार्मिक संस्कार के गुण भी मौजूद हैं। यद्यपि ईसाइयों में वैवाहिक समझौता जीवन भर के लिए होता है, परन्तु यदि कोई पक्ष इससे असन्तुष्ट हो, तो विशेष परिस्थितियों में इसे समाप्त भी किया जा सकता है।

ईसाई विवाह के उद्देश्य
(Objectives of Christian Marriage)

1. **यौन सम्बन्ध**—व्यक्ति के पवित्र जीवन व्यतीत करने के लिए विवाह द्वारा यौन-इच्छाओं की पूर्ति आवश्यक है। इससे समाज में व्यभिचार नहीं फैल पाता है और समाज की निरन्तरता भी बनी रहती है।
2. **पारस्परिक सहयोग**—विवाह पति-पत्नी में न केवल सहयोगी सम्बन्धों को जन्म देता है बल्कि उनके सम्बन्धों में स्थिरता लाता है, उन्हें एक-दूसरे के प्रति प्रेम, त्याग, सहयोग और सहानुभूति व्यक्त करने का अवसर प्रदान करता है। विवाह एक ऐसा बन्धन है जो प्रत्येक परिस्थिति में उन्हें एक-दूसरे का साथ देने के लिए प्रेरित करता है।
3. **परिवार की स्थापना**—सन्तानोत्पत्ति के द्वारा ईसाई लोग ईश्वर की रचनात्मक क्रिया में भाग लेते है और बच्चों के पालन-पोषण द्वारा वे ईश्वर की पालन-शक्ति को प्रतिबिम्बित करते हैं। स्पष्ट है कि समाज द्वारा सर्वस्वीकृत साधन-विवाह द्वारा ही सन्तानोत्पत्ति, परिवार की स्थापना और बच्चों का उत्तमता से पालन-पोषण किया जा सकता है।
4. **पवित्र जीवन का विकास**—इसे विवाह के एक उद्देश्य के रूप में माना गया है। विवाह पति-पत्नी को पवित्र जीवन व्यतीत करने हेतु सुअवसर प्रदान करता है। उत्तर भारत संयुक्त चर्च के संविधान में बतलाया गया है कि विवाह एक पवित्र व्यवस्था है जो ईश्वर द्वारा स्थापित है और इसलिए यह अपने प्राकृतिक क्रम में पाया जाता है। विवाह सम्बन्ध को ईसा एवं चर्च के अलौकिक सम्बन्धों का प्रतीक माना गया है।

ईसाइयों में विवाह के प्रकार (स्वरूप)
(Forms of Marriage Among Christians)

ईसाइयों में विवाह पति-पत्नी के बीच एक स्थायी समझौता है जिसे इच्छानुसार भंग नहीं किया जा सकता। ईसाइयों की धार्मिक मान्यताएँ उन्हें बहु-विवाह की आज्ञा नहीं देतीं। उनमें एक-विवाह का ही सर्वमान्य सामाजिक नियम पाया जाता है। एक पुरुष और एक स्त्री को ही वैवाहिक जीवन के सच्चे साथी के रूप में स्वीकार किया गया है। मुसलमानों के 'मुताह विवाह' जैसे किसी अस्थायी विवाह का प्रचलन ईसाइयों में नहीं पाया जाता। ये लोग विवाह को स्थिरता प्रदान करने के पक्ष में रहे हैं, इसे जीवन-पर्यन्त का सम्बन्ध मानते हैं।

विवाह करने की विधि की दृष्टि से ईसाइयों में विवाह के दो प्रकार प्रचलित हैं—

1. **धार्मिक विवाह**—ऐसे विवाह का निर्धारण साधारणत: लड़के-लड़की के माता-पिता या परिजनों द्वारा होता है। ये विवाह गिरजाघर में सम्पन्न किए जाते हैं।
2. **सिविल मैरिज**—ऐसे विवाह के लिए लड़के-लड़की को मैरिज रजिस्ट्रार के कार्यालय में उपस्थित होकर आवश्यक कानूनी कार्यवाही करनी पड़ती है। ईसाइयों में सिविल मैरिज की अपेक्षा आज भी धार्मिक विवाह अधिक होते हैं।

प्र.10. शिक्षा का अर्थ एवं परिभाषा देते हुए शिक्षा के प्रमुख उद्देश्यों एवं शिक्षा के स्वरूप का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

शिक्षा का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Education)

संकीर्ण अर्थ में शिक्षा का तात्पर्य पुस्तकीय ज्ञान और लिखने-पढ़ने से लिया जाता है। व्यापक दृष्टि से शिक्षा का तात्पर्य सभी प्रकार के ज्ञान के संग्रह तथा मानव के चहुँमुखी विकास से लिया जाता है।

शिक्षा को परिभाषित करते हुए **दुर्खीम** लिखते हैं, "शिक्षा अधिक आयु के लोगों द्वारा ऐसे लोगों के प्रति की जाने वाली क्रिया है जो अभी सामाजिक जीवन में प्रवेश करने के योग्य नहीं है। इसका उद्देश्य शिशु में उन भौतिक, बौद्धिक और नैतिक विशेषताओं का विकास करना है जो उसके लिए सम्पूर्ण समाज और पर्यावरण से अनुकूलन करने के लिए आवश्यक है।" इस प्रकार दुर्खीम शिक्षा को मानव के भौतिक, बौद्धिक एवं नैतिक विकास तथा पर्यावरण से अनुकूलन का एक साधन मानते हैं। शिक्षा प्रदान करने का कार्य सदैव बड़ी आयु एवं पुरानी पीढ़ी के लोगों द्वारा किया जाता है।

बोगार्डस (Bogardus) शिक्षा को सांस्कृतिक विरासत के हस्तान्तरण के रूप में परिभाषित करते हुए लिखते हैं, "सांस्कृतिक विरासत एवं जीवन के अर्थ को प्राप्त करना ही शिक्षा है।"

सैम्युअल एबी (Samuel L. Eby) शिक्षा को सामाजिक मूल्यों को प्राप्त करने वाली प्रक्रिया के रूप में परिभाषित करते हुए लिखते हैं, "शिक्षा समुदाय या समुदाय के व्यक्तियों द्वारा निर्देशित एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया है जो समाज द्वारा स्वीकृत मूल्यों को प्राप्त करना चाहती है।"

महात्मा गांधी के अनुसार, "शिक्षा से मेरा अभिप्राय बच्चे के शरीर, मन और आत्मा में विद्यमान सर्वोत्तम गुणों का सर्वांगीण विकास करना है।"

टी. रेमण्ट (T. Rayment) के अनुसार, "शिक्षा विकास की वह क्रिया है जिसके अनुसार मनुष्य बचपन से प्रौढ़ावस्था तक अनेक तरीकों से अपने भौतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक पर्यावरण से अनुकूलन करना सीखता है।"

प्रो. पेस्टालोजी (Pestalozzi) के अनुसार, "शिक्षा मनुष्य की समस्त सहज शक्तियों का स्वाभाविक सामंजस्ययुक्त और प्रगतिशील विकास है।"

जी.एच. थॉमसन (G.H. Thomson) लिखते हैं, "शिक्षा बाह्य वातावरण के प्रभावों का एक समन्वित रूप है जिसके द्वारा मनुष्यों के आचार-विचार, आदत तथा व्यवहार में सुधार होता है अर्थात् जिसके द्वारा मनुष्य के उत्तम गुणों का विकास होता है।"

उपर्युक्त सभी परिभाषाओ से स्पष्ट है कि शिक्षा एक ऐसी संस्था है जिसका उद्देश्य बालक में मानसिक, आध्यात्मिक, सामाजिक एवं भौतिक गुणों का विकास करना है जिससे कि वह सम्पूर्ण पर्यावरण के साथ सफल अनुकूलन कर सके। शिक्षा मानव के आन्तरिक एवं बाह्य गुणों का विकास करती है। शिक्षा के द्वारा ज्ञान एवं सांस्कृतिक विरासत का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरण होता है।

शिक्षा के उद्देश्य
(Objectives of Education)

गिलिन एवं गिलिन ने शिक्षा के निम्नांकित उद्देश्य बताए हैं—

1. भाषा के लिखने, बोलने एवं व्याकरण तथा गणित का ज्ञान प्रदान करना।
2. जटिल संस्कृति को समझने के लिए ज्ञान प्रदान करना।
3. बच्चे में सामाजिक अनुकूलन की क्षमता पैदा करना।
4. आर्थिक अनुकूलन के लिए प्रशिक्षण देना।
5. संस्कृति में सुधार एवं वृद्धि में योग देना।

इसके अतिरिक्त सामाजिक परिपेक्ष्य में शिक्षा के उद्देश्यों का वर्णन निम्न प्रकार है—

TOUCH 'n' PASS

1. **सांस्कृतिक विकास**—साधारणतया मनुष्य ने जो कुछ भी अच्छा सोचा, समझा एवं किया है, वही उसके समाज की संस्कृति कहलाती है। समाजशास्त्री मनुष्य की समस्त भौतिक उपलब्धियों को भौतिक संस्कृति तथा वैचारिक उपलब्धियों को अभौतिक संस्कृति कहते हैं। बहुत-से लोग किसी समाज की भाषा, उसके साहित्य, धर्म, दर्शन, खान-पान, रीति-रिवाज, आचार-विचार तथा कला-कौशल एवं संगीत को उस समाज की संस्कृति मानते हैं। किसी समाज की संस्कृति से तात्पर्य उस समाज के व्यक्तियों की रहन-सहन एवं खान-पान की विधियों, रीति-रिवाजों, कला-कौशल, संगीत-नृत्य, भाषा साहित्य तथा धर्म दर्शन के उस विशिष्ट रूप से होता है जिसमें उसकी आस्था होती है एवं जो उसकी अपनी पहचान होती है।
2. **नैतिक एवं चारित्रिक विकास**—बालकों का नैतिक एवं चारित्रिक विकास करना शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है। प्रत्येक समाज के अपने आचार-विचार सम्बन्धी कुछ नियम होते हैं। उन नियमों का पालन करना ही नैतिकता है तथा इन नियमों का पालन करने की आन्तरिक शक्ति चरित्र है। इस प्रकार नैतिकता एवं चरित्र अभिन्न हैं, एक के अभाव में दूसरे की बात नहीं सोची जा सकती।
3. **व्यावसायिक विकास**—शिक्षा में व्यावसायिक उद्देश्य स्वीकार करने का अर्थ है—बच्चों को उनकी रुचि, रुझान, योग्यता एवं आवश्यकतानसार किसी उत्पादन कार्य; जैसे—खेती, किसी व्यवसाय; जैसे—दुकानदारी, वकालत, अध्यापन तथा डॉक्टरी किसी लघु उद्योग; जैसे—कताई-बुनाई, बढ़ईगिरी, लुहारगिरी, चमड़े का कार्य या किसी बड़े उद्योग को चलाने हेतु तकनीकी, संगठन एवं प्रशासन आदि की शिक्षा देना है।
4. **नागरिकता की शिक्षा का उद्देश्य**—शिक्षा का यह अनिवार्य उद्देश्य है कि वह राष्ट्र की मान्यता के अनुरूप नागरिकों का निर्माण करें। प्रत्येक देश का संविधान अपने देश के नागरिकों को उनके अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का ज्ञान कराता है तथा उसको अनुकूल व्यवहार करने की ओर प्रवृत्त करता है। इससे नागरिकों में राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य-बोध होता है, वे नागरिकता के उत्थान के लिए क्रियाशील होते हैं। राष्ट्रीय एकता के विकास के लिए नागरिकता की शिक्षा परमावश्यक होती है। प्रत्येक देश के प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वे अपने राष्ट्र के प्रति ईमानदार होने के साथ-साथ इसके आदर्शों, परम्पराओं एवं विधियों का पालन करें।
5. **राष्ट्र की आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं की पूर्ति**—शिक्षा के क्षेत्र में राष्ट्र की आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं की पूर्ति का अर्थ है—ऐसी शिक्षा की व्यवस्था करना जिससे आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं की पूर्ति हो। शिक्षा मानव विकास का मूल साधन है इसलिए यह आवश्यक है कि किसी भी देश अथवा राष्ट्र की तत्कालीन समस्याओं के समाधान एवं उसकी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति एवं समाज को तैयार करे।
6. **आध्यात्मिक चेतना के विकास**—विश्व के अधिकांश लोग मनुष्य को मन, शरीर एवं आत्मा का योग मानते हैं जिसका विकास करना शिक्षा का सर्वप्रथम उद्देश्य है। चूँकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है अत: उसके सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक, एवं चारित्रिक विकास की बात सभी करते हैं। मनुष्य की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यावसायिक विकास पर जोर देते हैं।
7. **समायोजन**—प्रकृति का नियम है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवित रहने के लिए विभिन्न परिस्थितियों में संघर्ष करना पड़ता है। **लैमार्क** ने शिक्षा द्वारा मनुष्य को अपने प्राकृतिक एवं सामाजिक पर्यावरण के साथ अनुकूलन एवं समायोजन के योग्य बनाने को महत्त्वपूर्ण माना है। प्रत्येक मनुष्य में पर्यावरण से समायोजन करने की स्वाभाविक क्षमता होती है, इसके लिए उसे शिक्षा की आवश्यकता नहीं पड़ती है। शिक्षा द्वारा मनुष्य को अपने पर्यावरण को समझने पर बल दिया जाता है तथा उसका शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आदि समस्त पक्षों का विकास किया जाता है। अत: मनुष्य के इन समस्त पक्षों का विकास होने पर वह समाज में समायोजन स्थापित करने के साथ ही परिवर्तन करने में भी सक्षम होगा।
8. **पूर्ण जीवन की तैयारी**—इस सम्बन्ध में **हरबर्ट** ने कहा कि "शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को ऐसी पूर्णता प्रदान करना है जिससे वह अपने जीवन को पूर्ण रूप से चला सकें।" उन्होंने इस सम्बन्ध में पाँच क्रियाओं-आत्मरक्षा, जीविकोपार्जन, वंशवृद्धि एवं शिशु रक्षा सम्बन्धी कार्यों, सामाजिक एवं राजनैतिक कार्यों के प्रशिक्षण पर बल दिया है। इसी उद्देश्य को उन्होंने पूर्ण जीवन की तैयारी का उद्देश्य माना है।
9. **सांस्कृतिक सहिष्णुता का विकास**—किसी भी समाज की सबसे प्रमुख विशेषता उसकी संस्कृति होती है। संस्कृति के द्वारा ही उस विशेष समाज की जीवन-शैली, खान-पान, धर्म, मूल्य एवं प्रतिमान प्रभावित होते हैं। बालक प्राय: अपने

परिवार एवं समाज के द्वारा संस्कृति को सीखता है, परन्तु भारत एक विभिन्न समाजों एवं संस्कृति वाला देश है जिसमें बालक अपनी संस्कृति एवं जाति समूह के प्रतिमानों को ही सीखते हैं तथा महत्त्व देते हैं। अत: देश में शिक्षा द्वारा सांस्कृतिक सहिष्णुता का विकास करना आवश्यक है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु विद्यालयों में प्राय: एक-दूसरे की संस्कृतियों का स्पष्ट ज्ञान कराएँ, इसके साथ ही अन्य राज्यों, देशों का ज्ञान कराके उनके प्रति उदार भावना का विकास करें।

10. **धार्मिक सहिष्णुता का विकास**—मनुष्य को शरीर, मन एवं आत्मा का योग माना जाता है। इन तीनों पक्षों का विकास आवश्यक है। केवल धर्म वह साधन है जिसको धारण करने से मनुष्य के तीनों पक्षों का विकास होता है। हमारे देश में अनेक धार्मिक सम्प्रदाय हैं। धर्म के वास्तविक स्वरूप को न समझने के कारण व्यक्ति का नैतिक पतन हो रहा है। इसलिए धार्मिक सहिष्णुता का विकास हमारी भारतीय शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए।

शिक्षा के स्वरूप (प्रकार)
[Forms (Types) of Education]

शिक्षा के विभिन्न स्वरूप या प्रकार निम्न प्रकार हैं—

1. **वैयक्तिक एवं सामूहिक शिक्षा**—जब किसी अकेले व्यक्ति को शिक्षा दी जाती है तो उसे वैयक्तिक शिक्षा एवं जब कई व्यक्तियों को एक साथ जैसे कक्षा में, शिक्षा दी जाती है तो उसे सामूहिक शिक्षा कहते हैं।
2. **प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष शिक्षा**—जब अध्यापक शिक्षा प्रदान करने वाला प्रत्यक्ष रूप से ही सीखने वाले को किसी विषय का ज्ञान प्रदान करता है तो उसे प्रत्यक्ष शिक्षा कहते हैं। अप्रत्यक्ष शिक्षा में सीखने वाला अन्य व्यक्तियों का अनुकरण करता है अथवा शिक्षक प्रत्यक्ष रूप से कुछ नहीं कहता वरन् कहानी-किस्सों के द्वारा अथवा अप्रत्यक्ष साधनों के द्वारा ज्ञान प्रदान करता है।
3. **औपचारिक एवं अनौपचारिक शिक्षा**—पाठशाला से लेकर विश्वविद्यालय तक की शिक्षण संस्थाएँ आज औपचारिक रूप से एवं विशेषीकृत शिक्षा देने का कार्य करती हैं। आधुनिक युग में शिक्षा औपचारिक रूप से ही प्रदान की जाती है। आदिम समाजों में शिक्षा अनौपचारिक रूप से परिवार, पड़ोस, गोत्र संगठनों आदि के द्वारा दी जाती है।
4. **सामान्य तथा विशिष्ट शिक्षा**—जब किसी विशिष्ट उद्देश्य हेतु नहीं वरन् सामान्य ज्ञान के लिए शिक्षा प्रदान की जाती है तो वह सामान्य शिक्षा कहलाती है। दूसरी ओर किसी विशिष्ट विषय एवं ज्ञान से सम्बन्धित शिक्षा दी जाती है तो उसे विशिष्ट शिक्षा कहते हैं; जैसे—चिकित्सा, कानून, उद्योग, इन्जीनियरिंग, आदि की शिक्षा विशिष्ट शिक्षा है।
5. **नकारात्मक एवं सकारात्मक शिक्षा**—इसे निषेधात्मक एवं निश्चयात्मक शिक्षा भी कहते हैं। जब किसी पूर्व निश्चित उद्देश्य के अनुरूप शिक्षा प्रदान की जाती है तो उसे निश्चयात्मक शिक्षा कहते हैं और जब बिना किसी पूर्व निश्चित उद्देश्य के शिक्षा दी जाती है तो उसे निषेधात्मक या नकारात्मक शिक्षा कहते हैं।

प्र.11. राज्य से क्या अभिप्राय है? इसका अर्थ, परिभाषा तथा विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

राज्य का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of State)

राज्य का अध्ययन राजनीतिशास्त्र का प्रमुख विषय रहा है। साधारण बोल-चाल में राज्य शब्द का प्रयोग राष्ट्र (Nation), समाज (Society), सरकार (Government), आदि के पर्यायवाची के रूप में किया जाता है, किन्तु ये सब सही प्रयोग नहीं हैं।

राज्य को विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से परिभाषित करने का प्रयास किया है। कुछ विद्वान राज्य को शक्ति की व्यवस्था मानते हैं तो कुछ कल्याणकारी संस्था । दार्शनिक **विनोग्रेडॉफ** (Vinogradoff) राज्य के कानूनी स्वरूप पर बल देते हैं तो **ऑस्टिन** (Austin) उसे एक सर्वप्रभुता सम्पन्न संस्था मानते हैं। बहुसमुदायवादी राज्य को अन्य समुदायों के समान ही एक समुदाय मानते हैं।

प्रत्येक समाज में नियन्त्रण-व्यवस्था बनाए रखने के कोई-न-कोई साधन अवश्य पाए जाते हैं। आदिम एवं प्राचीन समाजों में परिवार, धर्म, नैतिकता, रीति-रिवाजों, प्रथाओं एवं रूढ़ियों के द्वारा सामाजिक नियन्त्रण बनाए रखा जाता था, किन्तु समाज की जटिलता में वृद्धि के साथ-साथ नियन्त्रण के साधनों में भी परिवर्तन आया। आर्थिक विकास में वृद्धि तथा औद्योगीकरण एवं नगरीकरण के साथ-साथ जब नियन्त्रण के अनौपचारिक साधन पर्याप्त न रहें तो मानव ने राज्य एवं सरकार को सामाजिक

नियन्त्रण का कार्य सौंपा। परिणामस्वरूप आज राजनीतिक संस्थाएँ सामाजिक नियन्त्रण एवं व्यवस्था की सर्वाधिक शक्तिशाली संस्थाएँ बन गई हैं। आज राज्य ही अपने नागरिकों के लिए आन्तरिक सुरक्षा एवं बाह्य शत्रुओं से रक्षा का कार्य करता है। राज्य के पास प्रभुसत्ता होती है, अत: वह बल प्रयोग, कानून एवं संविधान के द्वारा अपने सदस्यों पर नियन्त्रण रखता है। उनकी सम्पत्ति एवं जीवन की देख-रेख करता है और उनके लिए न्याय की व्यवस्था करता है। इस कार्य में पुलिस, सेना, गुप्तचर विभाग, जेल, सरकार, न्यायालय आदि राज्य की सहायता करते हैं। संगठन की दृष्टि से राज्य एक समिति है। इस नाते राज्य मूर्त होता है, उसकी सदस्यता प्राप्त की जा सकती है, किन्तु कार्यप्रणाली एवं नियमों की व्यवस्था के कारण राज्य एक संस्था भी है।

राज्य के उद्देश्य एवं कार्यों के बारे में विद्वानों द्वारा अलग-अलग विचार व्यक्त किए गए हैं। अत: प्राचीन एवं अर्वाचीन विचारकों की परिभाषा में भी अन्तर पाया जाता है।

प्राचीन विचारकों की परिभाषाएँ—प्राचीन विचारकों ने राज्य को एक समुदाय माना है जिसका उद्देश्य नागरिकों को सुख व लाभ पहुँचाना है।

अरस्तू के अनुसार, "राज्य परिवारों और ग्रामों का एक ऐसा समुदाय है जिसका उद्देश्य पूर्ण और आत्मनिर्भर जीवन की प्राप्ति है।"

सिसरो के अनुसार, "राज्य उस समुदाय को कहते हैं जिसमें यह भावना मौजूद हो कि सब मनुष्यों को उस समुदाय के लाभों का साथ मिलकर उपभोग करना है।"

सेण्ट आइस्टाइन के अनुसार, "राज्य ऐसे व्यक्तियों के समझौते द्वारा निर्मित संस्था है जिन्होंने इसका निर्माण अपने संगठन और कर्त्तव्यों के प्रयोगों एवं मत के लिए तथा आपसी सम्पर्क के लाभ की प्राप्ति के लिए किया है।"

अर्वाचीन विचारकों की परिभाषाएँ—अर्वाचीन विचारकों ने राज्य की परिभाषा में जनसंख्या, भू-भाग, संगठित जीवन एवं प्रभुसत्ता को आवश्यक माना है।

लास्की के अनुसार, "राज्य एक प्रादेशिक समाज है जो सरकार और प्रजा में विभाजित है और जो अपने निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में अन्य सभी समुदायों पर सर्वोच्च सत्ता रखता है।"

फिलीमोर के अनुसार, "राज्य मनुष्यों का वह समुदाय है जो किसी निश्चित भू-भाग पर स्थायी रूप से बसा हो, जो समान कानून, आदतों एवं प्रथाओं के द्वारा आपस में एक राजनीतिक समाज के रूप में संगठित हो, जो एक संगठित सरकार के माध्यम से अपनी सीमा के अन्तर्गत समस्त व्यक्तियों एवं वस्तुओं पर अपनी सार्वभौमिक सत्ता और नियन्त्रण रखता हो तथा जो युद्ध एवं शान्ति की स्थापना करने तथा संसार के राष्ट्रों के साथ सब प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता रखता हो।"

गेटेल ने लिखा है, "राज्य मनुष्य के उस समुदाय को कहते हैं जो स्थायी रूप से अधिकृत निश्चित भू-भाग पर वास करता हो, कानूनी रूप से बाह्य नियन्त्रणों से मुक्त हो और ऐसी शासन-व्यवस्था स्थापित किए हुए हो जो उसकी क्षेत्रीय सीमा में निवास करने वाले सभी मानव समुदायों के लिए नियमों का निर्माण तथा उसको कार्यान्वित करता हो।"

गार्नर के अनुसार, "राज्य संख्या में कम या अधिक व्यक्तियों का ऐसा संगठन है जो किसी प्रदेश के एक निश्चित भू-भाग में स्थायी रूप से रहता हो, जो बाहरी नियन्त्रण से पूर्ण स्वतन्त्र या लगभग स्वतन्त्र ही हो और जिसका एक ऐसा संगठित शासन हो जिसके आदेशों का पालन नागरिकों का विशाल समुदाय स्वाभाविक रूप से करता हो।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर **राज्य की विशेषताओं** (तत्त्वों) का उल्लेख किया जा सकता है—

1. **जनसंख्या**—किसी भी राज्य का निर्माण जनसंख्या के द्वारा ही होता है। किसी राज्य के लिए कितनी जनसंख्या उपयुक्त है, यह एक विवाद का विषय है।
2. **निश्चित भू-भाग**—राज्य के लिए एक निश्चित भू-भाग का होना आवश्यक है जिस पर उसकी जनसंख्या निवास कर सके।
3. **सरकार**—सरकार राज्य का संगठनात्मक तत्त्व है। जब तक एक निश्चित क्षेत्र में निवास करने वाले लोगों का राजनीतिक संगठन नहीं होगा तब तक वे राज्य का रूप प्राप्त नहीं कर सकते। सरकार राज्य के उद्देश्यों को प्राप्त करने का साधन या तन्त्र है। यह राज्य का व्यावहारिक पक्ष है।
4. **प्रभुसत्ता**—प्रभुसत्ता (Sovereignty) ही वह तत्त्व है जो राज्य को अन्य समुदायों से पृथक करता है। प्रभुसत्ता से तात्पर्य है कि राज्य बाह्य नियन्त्रणों से मुक्त हो और आन्तरिक क्षेत्र में सर्वोच्च हो। वह दूसरों को आज्ञा देता हो, उसे कोई आज्ञा नहीं दे सकता।
5. **राज्य का स्वरूप स्थायी होता है**—जनसंख्या व भू-भाग के घटने-बढ़ने पर भी राज्य के अस्तित्व में कोई परिवर्तन नहीं आता, वह बना रहता है।

प्र.12. राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।

उत्तर

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त
(Theories Regarding to Origin of the State)

राज्य की उत्पत्ति कब और कैसे हुई? यह एक विवादास्पद विषय है। इस सन्दर्भ में इतिहास और कल्पना का सहारा लेकर विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, जिनमें दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त, शक्ति सिद्धान्त, सामाजिक समझौते का सिद्धान्त, पैतृक एवं मातृक सिद्धान्त एवं विकासवादी या ऐतिहासिक सिद्धान्त प्रमुख हैं। हम यहाँ उनका संक्षेप में उल्लेख करेंगे—

1. **दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त**—राज्य की उत्पत्ति के बारे में यह सिद्धान्त सबसे प्राचीन है। इस सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर ने ही राज्य को जन्म दिया है। ईश्वर राज्य को चलाने के लिए अपने प्रतिनिधि के रूप में राजा को पृथ्वी पर भेजता है। **जेम्स प्रथम** कहता था, "**राजा लोग पृथ्वी पर परमात्मा की श्वास लेती हुई गतिमूर्तियाँ हैं।**" अत: राजा के मुँह से निकले शब्द ईश्वर के मुँह से ही निकले हुए होते हैं। राजा जो कुछ कह देता है, वही कानून है। उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने का अर्थ है—धर्म की अवमानना करना और ईश्वर को नाराज करना। राजाज्ञा का पालन करना धार्मिक कर्त्तव्य है। ऐसा न करने पर ईश्वर दण्ड देता है। "इस सिद्धान्त को प्राचीन भारतीय यहूदी एवं यूनानी समाजों में भी माना गया। **मनुस्मृति में राजा को ईश्वर का अवतार माना गया है।** तिब्बत के लोगों का विश्वास है कि उनका शासक 'लामा' ईश्वर द्वारा ही भेजा जाता है। कई आदिम समाजों में भी यही धारणा प्रचलित है। किन्तु आधुनिक युग में यह सिद्धान्त अवैज्ञानिक होने के कारण अस्वीकार कर दिया गया है।
2. **शक्ति सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के अनुसार **शक्ति ने ही राजा को जन्म दिया** (Power begot the King) कहता है, "राज्य की उत्पत्ति उसी समय हुई जब किसी मानव समूह के नेता ने शक्तिशाली और प्रभावशाली होकर अनुयायियों पर अधिकार जमाकर अपनी हुकूमत लादी होगी।" **वाल्टेयर** का मत है कि "**प्रथम राजा एक योद्धा था।**" **लीकॉक** का मत है कि "राज्य का जन्म एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य को दास बनाने तथा एक निर्बल कबीले पर शक्तिशाली कबीले की विजय से हुआ। साधारणतया श्रेष्ठ सैनिक शक्ति द्वारा जब किसी व्यक्ति ने अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए दूसरे पर अधिकार जमाया, उसी से राजसत्ता का उदय हुआ। कबीले से राज्य तथा राज्य से साम्राज्य का विकास इसी प्रक्रिया का परिणाम है। इस प्रकार यह सिद्धान्त व्यक्तिगत और सामूहिक शक्ति एवं '**जिसकी लाठी उसकी भैंस**' (Might is right) के आधार पर ही राज्य की उत्पत्ति पर जोर देता है।
   किन्तु इस सिद्धान्त को भी पूर्णत: स्वीकार नहीं किया गया क्योंकि सदैव ही शक्ति ही सब काह नहीं होती। फिर 'शक्ति' शब्द अस्पष्ट है यह सिद्धान्त प्रजातन्त्र के विरुद्ध है और संघर्ष को जन्म देता है।
3. **सामाजिक समझोत का सिद्धान्तों**—इस सिद्धान्त के प्रतिपादक **हॉब्स, लॉक** तथा **रूसो** हैं। इस सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए **विलोबी** लिखते हैं, "सामाजिक समझौता सिद्धान्त राज्य को समाज के उन व्यक्तियों द्वारा किए गए समझौते का परिणाम मानता है जो उस संगठन निर्माण के पूर्व सब प्रकार के राजनीतिक नियन्त्रण से पूर्णत: मुक्त थे।" इस सिद्धान्त के प्रतिपादक इतिहास को दो कालों में विभाजित करते हैं—एक प्राकृतिक अवस्था का काल व दूसरा नागरिक जीवन व प्रारम्भ के बाद का काल । प्राकृतिक अवस्था कैसी थी और लोगों ने समझौता क्यों किया, इस बात को लेकर तीनों विद्वानों में मतभेद हैं।
   हॉब्स कहते हैं कि प्राकृतिक अवस्था में प्रत्येक मनुष्य की ओर से प्रत्येक मनुष्य के विरुद्ध संघर्ष होता था। मानव का जीवन एकाकी, दीन, अपवित्र, पाशविक एवं क्षीण था। ऐसी दशा में उद्योग, संस्कृति, परिवहन, निर्माण, ज्ञान, आदि का विकास एवं उन्नति सम्भव न थी। जीवन और सम्पत्ति की असुरक्षा थी। मानव भयभीत रहता था। इस अवस्था का अन्त करने के लिए ही मानव ने समझौता किया। इस समझौते के कारण सभी लोगों ने अपने सम्पूर्ण अधिकार राजा को सौंप दिए। इससे निरंकुश राजतन्त्र की नींव पड़ी।
   जॉन लॉक का मत है कि प्राकृतिक अवस्था संघर्षपूर्ण नहीं वरन् प्रेम, सहानुभूति और सहयोग की अवस्था थी। लोग प्राकृतिक नियमों के अधीन थे। मनुष्य जीवन, सम्पत्ति एवं स्वतन्त्रता से अधिकार का प्रयोग करता था, किन्तु प्राकृतिक नियमों की अस्पष्टता, न्याय व्यवस्था का अभाव एवं नियमों को लागू करने वाली संस्था के अभाव के कारण लोगों ने समझौते के द्वारा राज्य की नींव डाली। इस समझौते में शासक को लोगों ने सीमित अधिकार दिए। अत: सीमित राजतन्त्र की नींव पड़ी।

रूसो भी मानते हैं कि प्राकृतिक अवस्था सुखकर थी। वह जंगल में मंगल करता था। उसकी आवश्यकताएँ सीमित थीं। लोग स्वतन्त्र, सन्तुष्ट एवं सुखी थे, किन्तु जनसंख्या की वृद्धि के कारण यह अवस्था अधिक समय तक नहीं चल सकी और उसमें अनेक बुराइयाँ आ गईं। इस स्थिति से मुक्ति पाने के लिए मानव ने एक ऐसा समझौता किया जिसमें प्रत्येक व्यक्ति ने अपने अधिकार समूह को सौंप दिए। इससे प्रजातन्त्र की नींव पड़ी।

अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा सामाजिक समझौते के सिद्धान्त को अधिक मान्यता दी गई, किन्तु अनेक कमियों के कारण इसे पूरी तरह स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसमें निम्नलिखित कमियाँ हैं—(i) इतिहास में कहीं भी समझौते का उल्लेख नहीं मिलता है, (ii) राज्य या समाजविहीन अवस्था की कल्पना अनुपयुक्त है, (iii) राज्य विकास का परिणाम है, निर्माण का नहीं, (iv) प्राकृतिक अवस्था में समझौता सम्भव नहीं और न ही आने वाली पीढ़ियों के लिए समझौते को मानना आवश्यक है।

4. **पैतृक व मातृक सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के प्रतिपादक राज्य की उत्पत्ति परिवार से मानते हैं। परिवार या कुटुम्ब में राज्य के मूलभूत लक्षण पाए जाते हैं। परिवार वंश समूह, गोत्र आदि से विकसित होकर ही राज्य बना। कुछ विद्वान राज्य की उत्पत्ति पितृसत्तात्मक परिवारों से मानते हैं तो कुछ मातृसत्तात्मक से। **अरस्तु** तथा **हेनरी** मेन ने प्राचीन रोमन, यहूदी भारतीय एवं यूनानी समाज का उदाहरण देकर कहा कि परिवार का आदि स्वरूप पितृसत्तात्मक था, जिसमें पिता ही सर्वेसर्वा था, शासक व नियन्त्रक था। **मॉर्गन, टायलर, मकलीनन** एवं **बैकोफन** का मत है कि प्रारम्भिक परिवार मातृसत्तात्मक रहे होंगे क्योंकि पुरुष तो शिकार की खोज में दूर चले जाते व भटक जाते होगे, परन्तु बच्चों की माँ पर निर्भरता के कारण परिवार में माँ ही सत्ताधारी रही होगी। पितृसत्तात्मक परिवार तो कृषि अवस्था एवं घुमन्तू जीवन से मुक्ति के बाद प्रारम्भ हए होंगे। इस प्रकार प्रारम्भिक परिवार के प्रकार के बारे में मतभेद होते हुए भी दोनों ही सिद्धान्तकार यह स्वीकार करते हैं कि परिवार ही विस्तृत होकर राज्य बना है।

किन्तु इस सिद्धान्त को भी अस्वीकार किया जाता है, क्योंकि (i) यह राज्य के बजाय परिवार की उत्पत्ति को प्रकट करता है, तथा (ii) केवल परिवार को ही राज्य का आधार मानता है।

5. **विकासवादी या ऐतिहासिक सिद्धान्त**—कुछ विद्वान राज्य को विकास का परिणाम मानते हैं। **गार्नर** लिखते हैं, "राज्य न तो ईश्वर की सृष्टि है, न वह उच्चकोटि के शारीरिक बल का परिणाम है, न किसी प्रस्ताव या समझौते की कृति है और न परिवार का ही विस्तृत रूप है। यह तो धीरे-धीरे विकसित होने वाली एक ऐतिहासिक संस्था है।" इस सिद्धान्त के समर्थकों में बेजहाट, स्पेन्सर, गिडिंग्स, हॉबहाउस एवं अनेक अन्य विद्वान हैं। **बेजहाट** राज्य का विकास तीन युगों—प्रथाओं का युग, संघर्ष का युग तथा विचार-विमर्श का युग से मानते हैं। **स्पेन्सर** राज्य का विकास तीन स्थितियों—जनजाति, सैनिक एवं औद्योगिक स्थिति से मानते हैं। विकासवादियों का मत है कि राज्य के विकास में रक्त सम्बन्ध, धर्म, शक्ति, आर्थिक आवश्यकताओं, राजनीतिक चेतना एवं मानव की सामाजिक मूल प्रवृत्तियों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। विकासवादी मानते हैं कि प्रारम्भ में राज्य जैसी कोई संस्था नहीं थी। धीरे-धीरे मनुष्य की आवश्यकताओं ने राज्य का निर्माण किया।

प्र.13. राज्य के प्रमुख कार्यों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

राज्य के कार्य
(Functions of State)

प्रत्येक राज्य के कार्यों में विभिन्न युगों में भिन्नता पाई जाती है। पूँजीवादी एवं साम्यवादी राज्य, उदारवादी एवं फासिस्ट राज्य तथा सर्वसत्तावादी राज्य के कार्यों में भिन्नता पाई जाती है। मैकाइवर तथा पेज ने राज्य के चार प्रकार के कार्यों का उल्लेख किया है—

1. **वे कार्य जिन्हें केवल राज्य ही कर सकता है**—इसके अन्तर्गत वे कार्य आते हैं जिन्हें राज्य के अतिरिक्त कोई भी अन्य संस्था या समिति नहीं कर सकती। उदाहरण के लिए, राज्य में व्यवस्था व शान्ति बनाए रखने का कार्य। राज्य ही ऐसे कानून बना सकता है जो उसके भू-क्षेत्र में रहने वाले सभी लोगों पर लागू होते हैं। कानूनों का पालन करवाने के लिए राज्य ही बल प्रयोग कर सकता है, अन्य संगठन नहीं। समुदाय के सब सदस्यों के लिए समान रूप से सभी सुविधाओं के वितरण का आश्वासन केवल राज्य ही दे सकता है। राज्य ही अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का निर्धारण करता है। वही राज्य में माप-तौल एवं मूल्य की व्यवस्था कर सकता है। राज्य ही आन्तरिक सुरक्षा व बाह्य आक्रमणों से रक्षा का कार्य कर सकता है। वही अपने अधीन शक्तियों की सीमाओं एवं क्षेत्रों का निर्धारण कर सकता है।

2. **वे कार्य जिन्हें राज्य अन्य संगठनों की अपेक्षा अच्छी तरह कर सकता है**—कुछ कार्य ऐसे हैं जिन्हें अन्य संगठन भी कर सकते है, किन्तु राज्य के पास सत्ता एवं अधिकार होने के कारण वह उन्हें ज्यादा अच्छी तरह से कर सकता है। इस श्रेणी के अन्तर्गत प्राकृतिक स्रोतों की रक्षा, वनों, वन्य-जीवों, खनिज सम्पत्ति के दुरुपयोग पर नियन्त्रण, शोषण से रक्षा, निजी एकाधिकार को रोकने, सामान्य हित की रक्षा करने, सामाजिक विधान बनाने, औद्योगिक संरक्षा, बीमा से सम्बन्धित कानून बनाने, शिक्षा की व्यवस्था करने सार्वजनिक उद्यानों, अजायबघरों, क्रीड़ास्थलों की व्यवस्था करने, जनगणना एवं समाज-कल्याण से सम्बन्धित जानकारी प्राप्त करने आदि से सम्बन्धित कार्य आते हैं।
3. **वे कार्य जिन्हें राज्य करने में अनुपयुक्त है**—कुछ कार्य ऐसे भी हैं जिन्हें राज्य अन्य संघों की तुलना में करने में अनुपयुक्त है। इस श्रेणी में वे कार्य आते हैं जो राज्य के भीतर छोटे-छोटे समूहों द्वारा किये जाते हैं। उदाहरण के लिए, धार्मिक एवं सांस्कृतिक हितों की रक्षा के लिए बनाए जाने वाले संघों के द्वारा किए जाने वाले कार्य। ये संघ अपने सदस्यों के निजी हितों का राज्य की अपेक्षा अच्छी तरह ध्यान रख सकते हैं। राज्य में अनेक कलात्मक, साहित्यिक, वैज्ञानिक एवं धार्मिक हितों की रक्षा करने वाले ऐच्छिक संघ होते हैं जो अपने सदस्यों के हितों की रक्षा राज्य की अपेक्षा ज्यादा उत्तमता से कर सकते हैं।
4. **वे कार्य जिन्हें राज्य करने में असमर्थ होता है**—राज्य जिन कार्यों को करने में अयोग्य है तथा जिन्हें कर नहीं सकता, इन दोनों के बीच एक क्षीण रेखा है। इस श्रेणी में धामिक, नैतिक एवं सांस्कृतिक कार्य आते हैं; जैसे—राज्य लोगों के विचारों एवं मनोवृत्ति पर नियन्त्रण नहीं रख सकता। सांस्कृतिक कार्य; जैसे—कला, संगीत, नृत्य, साहित्य आदि का विकास राज्य अपने कानूनों एवं दबाव से नहीं कर सकता। ये तो स्वतन्त्र एवं मुक्त वातावरण में ही पनपते हैं। राज्य व्यक्ति के बाहा व्यवहारों पर नियन्त्रण रख सकता है, किन्तु आन्तरिक विचारों, मनोवृत्तियों, नैतिकता आदि पर नियन्त्रण नहीं लाद सकता। राज्य किसी फैशन को भी लोगों पर नहीं थोप सकता।

राज्य के कार्यों का वर्गीकरण अनिवार्य एवं ऐच्छिक कार्यों के रूप में भी किया जाता है।

राज्य के अनिवार्य कार्य—इसके अनिवार्य कार्य निम्नलिखित हैं—

1. बाहरी आक्रमण से देश की रक्षा करना।
2. आन्तरिक शान्ति एवं सुरक्षा बनाए रखना।
3. नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करना।
4. न्याय की व्यवस्था करना।
5. पारिवारिक अधिकारों एवं कर्त्तव्यों की व्याख्या करना।

राज्य के ऐच्छिक कार्य—इसके ऐच्छिक कार्य निम्नलिखित हैं—

1. शिक्षा का प्रबन्ध करना।
2. स्वास्थ्य एवं चिकित्सा का प्रबन्ध करना।
3. वृद्ध, निर्धनों एवं अपाहिजों की रक्षा करना।
4. यातायात तथा संचार के साधनों की रक्षा करना।
5. प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग की व्यवस्था करना।
6. व्यापार एवं उद्योगों की व्यवस्था करना।
7. माप-तौल एवं मुद्रा की व्यवस्था करना।
8. कृषि की उन्नति करना।
9. बेकारी को दूर कर रोजगार की व्यवस्था करना।
10. सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए सुधार की व्यवस्था करना।
11. पड़ोसी देशों एवं विश्व के अन्य देशों से राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक सम्बन्ध स्थापित करना।
12. सामाजिक सुरक्षा का प्रबन्ध करना।
13. नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा करना।

प्र.14. धर्म से आप क्या समझते हैं? धर्म का अर्थ, परिभाषा एवं मौलिक लक्षणों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

धर्म
(Religion)

धर्म मानव समाज का ऐसा व्यापक, स्थायी एवं शाश्वत तत्त्व है जिसको सम्यक् रूप से समझे बिना हम समाज के रूप को समझने में असफल रहेंगे। वर्तमान में मानव ने विज्ञान के सहारे अपने पर्यावरण पर काफी नियन्त्रण प्राप्त कर लिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि कई समाज या तो धर्म-निरपेक्ष हो गए हैं या धर्म में रुचि नहीं रखते और धार्मिक विश्वासों की वैधता को स्वीकार नहीं करते। फिर भी धर्म आज भी एक सार्वभौमिक तथ्य बना हुआ है। धर्म मानव का अलौकिक शक्ति से सम्बन्ध जोड़ता है। इसका सम्बन्ध मानव की भावनाओं, श्रद्धा एवं भक्ति से है। धर्म मानव के आन्तरिक जीवन को ही प्रभावित नहीं करता, वरन् उसके सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक जीवन को भी प्रभावित करता है।

धर्म का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Religion)

स्टीफेन फचूस (Stephen Fuchs) के मतानुसार, "रिलिजन (धर्म) शब्द रेलिगेयर (Religare) से बना है जिसका अर्थ है 'बाँधना' अर्थात् मनुष्य को ईश्वर से सम्बन्धित करना।" धर्म शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृति भाषा के 'धृ' शब्द से मानी जाती है जिसका अर्थ है 'धारण करना' अर्थात् सभी जीवों के प्रति मन में दया धारण करने को ही धर्म कहा गया है। धर्म के अर्थ को स्पष्ट करने हेतु विभिन्न विद्वानों ने परिभाषाएँ दी हैं जो निम्न प्रकार हैं—

एडवर्ड टायलर (Edward Tylor) के अनुसार, "धर्म आध्यात्मिक शक्ति में विश्वास है।"

सर जेम्स फ्रेजर (Sir James Frazer) कहते हैं, "धर्म से.....मैं मनुष्य से श्रेष्ठ उन शक्तियों की सन्तुष्टि या आराधना समझता हूँ जिनके सम्बन्ध में यह विश्वास किया जाता है कि वे प्रकृति और मानव जीवन को मार्ग दिखाती और नियन्त्रित करती हैं।"

हॉबल (Hoebel) के अनुसार, "धर्म अलौकिक शक्ति में विश्वास पर आधारित है जिसमें आत्मावाद और मानावाद दोनों सम्मिलित हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर संक्षेप में कहा जा सकता है कि धर्म किसी-न-किसी प्रकार की अतिमानवीय (Super-human) या अलौकिक (Super-natural) या समाजोपरि (Super-social) शक्ति पर विश्वास है जिसका आधार भय, श्रद्धा, भक्ति और पवित्रता की धारणा है और जिसकी अभिव्यक्ति प्रार्थना, पूजा या आराधना आदि के रूप में की जाती है।

धर्म के मौलिक लक्षण (विशेषताएँ)
(Basic Characteristics of Religion)

धर्म की उपर्युक्त परिभाषाओं से धर्म के कुछ मौलिक लक्षण अथवा विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं जो निम्न प्रकार हैं—

1. **अलौकिक शक्ति में विश्वास**—जॉनसन का कथन है कि एक अलौकिक शक्ति में विश्वास धर्म का सबसे प्रमुख तत्त्व है। विश्वास के बिना किसी भी प्रकार धर्म का निर्माण और विकास नहीं हो सकता।
2. **पवित्रता की धारणा**—जिस धर्म को लोग मानते हैं, उनकी दृष्टि में उस धर्म से सम्बन्धित सब कुछ पवित्र होता है।
3. **प्रार्थना, पूजा या आराधना**—धर्म में लोग जिस शक्ति पर विश्वास करते हैं, उससे लाभ उठाने व उसके कोप से बचने हेतु प्रार्थना, पूजा तथा आराधना करते हैं।
4. **संवेगात्मक भावनाएँ**—धर्म भावना-प्रधान होता है, तर्क-प्रधान नहीं। अलौकिक शक्ति के प्रति संवेगात्मक भावनाएँ होती हैं जिनकी अभिव्यक्ति उस शक्ति के प्रति श्रद्धा, भय, प्रेम, आदि के रूप में की जाती है।
5. **विशेष धार्मिक सामग्री और प्रतीक**—धार्मिक क्रियाओं में अलग-अलग धर्म में अलग-अलग धार्मिक सामग्रियों, धार्मिक प्रतीकों, जादू-टोनों, पौराणिक कथाओं आदि का समावेश होता है।
6. **निषेध**—प्रत्येक धर्म में लोगों के व्यवहारों के नकारात्मक पक्ष को प्रभावित करने की दृष्टि से कुछ निषेध पाये जाते हैं। निषेध का तात्पर्य यही है कि उन्हें कुछ कार्यों की मनाही की जाती है, उन्हें बताया जाता है कि क्या-क्या नहीं करना चाहिए।

7. **धार्मिक संस्तरण**—सामान्यत: प्रत्येक धर्म से सम्बन्धित संस्तरण की एक व्यवस्था पाई जाती है। जिन लोगों को धार्मिक क्रियाएँ अथवा कर्मकाण्ड कराने का समाज द्वारा विशेष अधिकार प्राप्त होता है, उन्हें अन्य लोगों की तुलना में संस्कारात्मक दृष्टि से उच्च एवं पवित्र समझा जाता है। ऐसे लोगों में पण्डे, पुजारी, महन्त-सन्त, पादरी, मौलवी, ओझा आदि आते हैं।

प्र.15. धर्म उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।

उत्तर धर्म की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

आत्मावाद या जीववाद (टायलर का आत्मवाद सिद्धान्त)
(Animism)

आदिम धर्म के बारे में सर्वप्रथम सिद्धान्त अंग्रेज मानवशास्त्री **टायलर** ने प्रस्तुत किया। आपने धर्म के उद्‌गम को खोजा और उसकी विस्तृत व्याख्या ही नहीं की वरन उसका जादू एवं विज्ञान से भेद भी बताया। हरबर्ट स्पेन्सर भी इस मत के समर्थक थे। टायलर ने कहा कि ऊपरी तौर पर तो हमें धर्मों की बहुलता एवं उनमें अन्तर देखने को मिलते हैं पर मूल रूप में वे सभी एक ही विचार पर आधारित है और वह है 'आत्मा' या 'जीव' में विश्वास। आत्मा को आपने आदिम मनुष्यों से लेकर सभ्य मनुष्यों तक के धर्म का आधार माना। इसीलिए उनके सिद्धान्त को आत्मावाद या जीववाद के नाम से पुकारा जाता है। उन्होंने मानवशास्त्रीय शब्दकोश को एक नया शब्द 'आत्मावाद' दिया।

आत्मावाद को आप दो भागों में बाँटते हैं—प्रथम, आत्मा का सिद्धान्त जिसके अनुसार यह विश्वास किया जाता है कि मनुष्यों में 'आत्माएँ' होती हैं जो कि उनकी मृत्यु के बाद भी शेष रहती हैं, द्वितीय, प्रेतों का सिद्धान्त जिसके अनुसार ऐसी आत्माओं को भी स्वीकार किया गया है जो मनुष्यों की आत्माओं से पृथक हैं, वे दैवी आत्माएँ हैं। इस प्रकार आत्माएँ प्रेतात्माओं से लेकर शक्तिशाली प्राणियों तक की होती हैं, जो अमर हैं तथा सांसारिक घटनाओं एवं मानव जीवन को नियन्त्रित एवं निर्देशित करती हैं। यही कारण है कि मनुष्य इन आत्माओं से डरने लगता है और उन्हें भय मिश्रित श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। इसलिए ही टायलर कहता है कि धर्म आत्मा या आध्यात्मिक शक्ति में विश्वास है। यह विश्वास उसमें दैनिक जीवन के विभिन्न अनुभवों से उत्पन्न हुआ जो कि उसने जाग्रत एवं निद्रा अवस्था में किए और जो जीवित एवं मृत अवस्था से स्पष्ट हुए। निद्रावस्था में स्वप्न के दौरान वह अपने को कई कार्यों में संलग्न देखता, अपने पूर्वजों से मिलता और ऐसे स्थान पर जाता जहाँ वह पहले कभी नहीं गया। जाग्रत अवस्था में वह अपनी परछाईं देखता, तालाबों एवं नदियों के पानी में अपना प्रतिबिम्ब देखता, अपनी आवाज की प्रतिध्वनि सुनता। इसी समय उसने जीवित और मृत व्यक्ति में भेद भी देखा। मनुष्य के मरने पर उसका बोलना, चलना, खाना-पीना सभी समाप्त हो जाता है, तब आदिम मानव के मन में यह विचार आया होगा कि ऐसी कोई-न-कोई शक्ति अवश्य है जिसके शरीर से निकल जाने पर वह निष्क्रिय हो जाता है। यद्यपि मृत्यु के बाद भी वह दिखाई तो जीवित की तरह ही देता है, परन्तु वस्तुत: ऐसा नहीं है। इस प्रकार आदिम लोगों में उस अदृश्य वस्तु या शक्ति जिसके शरीर में रहने तक व्यक्ति जीवित रहता है और शरीर से अलग होने पर मर जाता है, के प्रति विश्वास पैदा हुआ और उसे 'आत्मा' के नाम से पुकारा गया। टायलर के अनुसार, "**आत्मा एक पतली निराकार मानव प्रतिमूर्ति, आकृति में कोहरा, चलचित्र या छाया की भाँति है।**" इस प्रकार टायलर के मतानुसार इन अमूर्त और अभौतिक प्रेतात्माओं के प्रति भय एवं श्रद्धा ही आदिम धर्म का मूल है।

समालोचना (Criticism)

इस सिद्धान्त की एण्ड्रयूलैग, मैरेट, जेवेन्स आदि ने निम्नलिखित आलोचनाएँ कीं—

1. समस्त सिद्धान्त को देखने से ज्ञात होता है कि टायलर ने आदिम मानव को तर्कशील व दार्शनिक व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है जो कि वह कभी नहीं था और जिस व्यवस्थित क्रम में उसने इस सिद्धान्त को रखा, ऐसा आदि मानव तो क्या आधुनिक मानव भी नहीं रख सकता।
2. टायलर ने धर्म की उत्पत्ति को अति सीधे एवं सरल रूप में प्रस्तुत किया है। केवल परछाईं प्रतिध्वनि, स्वप्न एवं मृत्यु के अनुभवों ने ही धर्म जैसी जटिल संस्था को जन्म दिया होगा, ऐसा नहीं माना जा सकता।
3. धर्म एक सामाजिक तथ्य है, अत: इसकी उत्पत्ति में सामाजिक कारकों का भी हाथ रहा है, केवल आत्मा में विश्वास से ही धर्म की उत्पत्ति स्वीकार करना सामाजिक तथ्यों की अवहेलना है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद भी टायलर के सिद्धान्त का इस दृष्टि से महत्त्व है कि आपने ही सर्वप्रथम धर्म की परिभाषा देकर उसे व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जिसने बाद में मानवशास्त्रियों के लिए इस क्षेत्र के अध्ययन का मार्ग खोल दिया।

प्रकृतिवाद (मैक्समूलर का प्रकृतिवाद सिद्धान्त)
(Naturalism)

मैक्समूलर का प्रकृतिवाद, जीवित सत्तावाद का ही एक रूप है। मैक्समूलर जर्मन विद्वान थे जो संस्कृत एवं अन्य भाषाओं के सुविज्ञ थे। उन्होंने धर्म की उत्पत्ति को प्राकृतिक शक्तियों एवं घटनाओं की पूजा में ढूँढा। इसके लिए उन्होंने भारतीय एवं यूरोपीय पौराणिक कथाओं का सहारा लिया। इन पौराणिक कथाओं में सौरमण्डल और तारामण्डल से सम्बन्धित अनेक कथाएँ हैं जो आकाशीय पिण्ड को सजीव के रूप चित्रित करती हैं। वेदों में भी सूर्य, चन्द्र एवं तारों से सम्बन्धित गाथाएँ हैं जिनको पढ़ने पर ज्ञात होता है कि जैसे वे जीवित प्राणियों की कथाएँ हों। आदिम मानव प्रकृति और आकाशीय पिण्डों से प्रभावित हुआ तथा उसमें उनके प्रति भय और प्रेम भी पैदा हुआ। मैक्समूलर के इस सिद्धान्त को मिस्र एवं अन्य स्थानों पर होने वाली पूरातत्त्व खुदाइयों से भी बल मिला। मिस्र में 'रा' अर्थात सर्य को सबसे बडा देवता माना गया। भारत में भी सूर्य, चन्द्र, वायू अग्नि, वर्षा आदि प्राकृतिक वस्तुओं की पूजा की जाती रही है। प्राकृतिक शक्तियों से आदिम मानव के मन में भय, प्रेम, आश्चर्य एवं आतंक की भावना पैदा हुई होगी जब उसने देखा कि वर्षा की अधिकता और कमी उसके लहलहाते खेतों को नष्ट कर देती है, समुद्री तूफान उसकी नाव को डुबा देता है तथा आँधी उसकी झोंपड़ी को उड़ा ले जाती है। उसने सोचा होगा कि इन प्राकृतिक वस्तुओं में अवश्र्य ही कोई शक्तिशाली वस्तु निवास करती है जो इनका संचालन, नियन्त्रण और निर्देशन करती है। अत: उसने इन प्राकृतिक वस्तुओं को जानदार समझा। प्राकृतिक वस्तुओं को जानदार समझना ऐसे रुग्ण मस्तिष्क की देन है जो सजीव और निर्जीव में भेद नहीं कर सका। मस्तिष्क की यह गलती त्रुटिपूर्ण भाषा के कारण पैदा हुई। जैसे अक्सर कहा जाता है कि सूर्योदय या सूर्यास्त हो रहा है, वर्षा हो रही है, पेड़ फल और फूल पैदा करते हैं, आँधी आ रही है। भाषा की त्रुटियों से यह विश्वास पैदा हुआ कि मानो सूर्य, वर्षा, आँधी और पेड़ों में कोई शक्ति निहित हो। प्रकृति की असीम विशालता एवं शक्ति के सम्मुख जब मनुष्य नतमस्तक होता है तो धर्म की उत्पत्ति होती है।

आलोचना (Criticism)

1. एण्ड्रयूलैग कहते हैं कि त्रुटिपूर्ण भाषा के आधार पर धर्म की उत्पत्ति एक संकुचित व्याख्या है। केवल प्रकृति पूजा से ही धर्म की उत्पत्ति बताना उचित नहीं।
2. दोषपूर्ण भाषा के प्रयोग से प्राकृतिक पदार्थों को सजीव समझने की बात को सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं है।
3. धर्म एक सामाजिक संस्था है, मैक्समूलर ने धर्म की उत्पत्ति में कहीं भी सामाजिक कारकों को महत्त्व नहीं दिया। इस सिद्धान्त में अनुमान और कल्पना पर ही अधिक जोर दिया गया है।

धर्म का सामाजिक सिद्धान्त (दुर्खीम का धर्म उत्पत्ति सिद्धान्त)
(Social Theory of Religion)

दुर्खीम ने धर्म की उत्पत्ति से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्तों की आलोचना इस आधार पर की कि धर्म एक सामाजिक तथ्य है और उसकी उत्पत्ति में सामाजिक कारकों का भी हाथ रहा है। अब तक के सभी सिद्धान्तों में सामाजिक कारकों की अवहेलना की गई है। दुर्खीम ने अपनी पुस्तक 'Elementary Forms of Religious Life' में धर्म की प्रकृति, उत्पत्ति, प्रभाव आदि की विस्तृत विवेचना की है। आपने समाज को ही देवता माना और कहा कि धर्म सामूहिक चेतना (Collective Consciousness) का प्रतीक है। धर्म का वास्तविक आधार तो स्वयं समाज है, इसलिए ही आपने लिखा है, **"स्वर्ग का साम्राज्य एक महिमान्वित समाज है"** (The kingdom of heaven is a glorified society)। दुर्खीम का मत है कि व्यक्ति का व्यक्तिगत जीवन आमोद-प्रमोदपूर्ण एवं आकर्षक नहीं था, परन्तु जब वह सामूहिक जीवन में सम्मिलित होता है तो जीवन में सरलता आ जाती है एवं विशेष सुख का अनुभव होने लगता है। दुर्खीम 'विश्वासों' (Beliefs) एवं 'अनुष्ठानों' (Rituals) को धर्म में सम्मिलित करते हैं। विश्वास के भी दो प्रकार हैं—पवित्र विश्वास (Sacred belief) एवं अपवित्र विश्वास (Profane belief)। पवित्र का सम्बन्ध धर्म से है, जबकि अपवित्र का सम्बन्ध जादू से है, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि हर पवित्र वस्तु का सम्बन्ध धर्म से है। पवित्र वस्तुएँ समाज और सामूहिक चेतना की प्रतिनिधि हैं। पवित्र को अपवित्र से दूर रखने के लिए विभिन्न संस्कारों, उत्सवों एवं आचरणों को जन्म दिया गया जिनके पीछे सम्पूर्ण समूह या समाज की स्वीकृति एवं शक्ति है। अन्य शब्दों में, ये विधि-विधान

एवं विश्वास समाज की सामूहिक सत्ता एवं चेतना के प्रतिनिधि हैं। इसलिए व्यक्ति उनके सामने झुकता है, उनसे डरता है और उनके अनुरूप ही आचरण करता है। इसका कारण यह है कि व्यक्तिगत शक्ति की तुलना में समूह की शक्ति महान है और यहीं पर धर्म की नींव पड़ती है। अपने विचारों के समर्थन में दुर्खीम ने ऑस्ट्रेलिया की अरूण्टा (Arunta) जनजाति का उदाहरण प्रस्तुत किया।

आलोचना (Criticism)

1. केवल पवित्र एवं अपवित्र के आधार पर ही धर्म को स्पष्ट नहीं किया जा सकता।
2. आधुनिक वैज्ञानिक खोजों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सामूहिक चेतना या सामूहिक मस्तिष्क जैसी कोई चीज नहीं होती। अत: मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह सिद्धान्त अवैज्ञानिक एवं अतार्किक है।
3. दुर्खीम ने अपने सिद्धान्त में समाज को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देने की त्रुटि की है। अत: यह कहना कि समाज ही वास्तविक देवता है, उचित नहीं है।

धर्म का प्रकार्यवादी सिद्धान्त
(Functional Theory of Religion)

समाज में संस्कृति की आवश्यकता एवं महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिए प्रकार्यवाद का उदय हुआ। प्रकार्यवादियों का मत है कि संस्कृति का कोई भी तत्त्व व्यर्थ नहीं होता है वरन् समाज में उसका प्रचलन इसलिए होता है कि वह मानव या समाज की किसी-न-किसी आवश्यकता की पूर्ति करता है और धर्म का अस्तित्व भी समाज में इसी कारण से है। **मैलिनोवस्की** एवं **रैडक्लिफ-ब्राउन** ने आदिम धर्म की प्रकार्यवादी व्याख्या की। मैलिनोवस्की के अनुसार धर्म विक्षिप्तावस्था में मनुष्य और पारलौकिक शक्ति के बीच पुनर्सामंजस्य स्थापित करता है। वह मनुष्य को मानसिक एवं शारीरिक शान्ति एवं स्थायित्व प्रदान करने की एक युक्ति है। मानसिक तनाव एक व्यक्ति के जीवन में ही नहीं, वरन अनेक लोगों के जीवन में आते हैं। अत: इन्हें दूर करने के लिए की जाने वाली क्रियाओं में सभी व्यक्ति रुचि रखते हैं। सभी व्यक्तियों की रुचि होने और सारे समूह द्वारा उन क्रियाओं में भाग लेने के कारण ही धार्मिक नियमों के पीछे सारे समाज की शक्ति होती है। धर्म ही समूह के मूल्यों और मान्यताओं की रक्षा करता है। रैडक्लिफ-ब्राउन मानते हैं कि मनुष्य की समाज पर आश्रितता को प्रकट करने के लिए ही धर्म का उदय हुआ।

अन्य सिद्धान्तों की तरह प्रकार्यवादी सिद्धान्त की भी विभिन्न आधारों पर **आलोचना** की गई है। रैडक्लिफ-ब्राउन एवं मैलिनोवस्की ने धर्म के केवल प्रकार्यात्मक पहलू को ही देखा, जबकि धर्म के अन्य पहलू भी हैं। अमेरिकन मानवशास्त्री लोवी आत्मा, माना, जादू-टोना एवं मनोवैज्ञानिक कारकों को धर्म की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी नहीं मानकर मनुष्य के अलौकिक अनुभवों को ही उत्तरदायी मानते हैं।

इस प्रकार यदि हम धर्म की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों का अवलोकन करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक विद्वान ने इसे अपनी-अपनी दृष्टि से ही देखा। आज कोई भी ऐसा सिद्धान्त नहीं है जिसे हम सर्वमान्य सिद्धान्त कह सकें। वास्तव में धर्म की उत्पत्ति भिन्न-भिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न कारणों से हुई जो वहाँ की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं भौतिक परिस्थितियों से प्रभावित थे। अत: धर्म की उत्पत्ति में अनेक कारकों का योग रहा है।

जीवित-सत्तावाद या मानावाद
(Animatism or Manaism)

कुछ मानवशास्त्रियों ने आत्मावाद से पूर्व जीवित-सत्तावाद का अस्तित्त्व स्वीकार किया है। इस सिद्धान्त की मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु में चाहे वह जड़ हो या चेतन जीवित सत्ता होती है जो कि अलौकिक है। इस सत्ता में विश्वास और उसकी आराधना एवं पूजा से ही धर्म की उत्पत्ति हुई। इस मत को प्रारम्भ में **मैक्समूलर** (Maxmular) एवं **प्रीउस** (Preuss) ने प्रस्तुत किया। **कॉडरिंगटन** (Codrington) एवं **मैरेट** (Marett) ने इसे एक विशेष प्रकार से प्रस्तुत किया जो मानावाद (Manaism) के नाम से जाना जाता है। मलेनेशिया के लोग अलौकिक शक्ति को '**माना**' के नाम से पुकारते हैं। इसी कारण मैरेट ने अपने सिद्धान्त को मानावाद का नाम दिया। मलेनेशिया की जनजातियों में यह विश्वास है कि किसी भी कार्य की सफलता या असफलता माना की शक्ति पर निर्भर है। यदि कोई अधिक बुद्धिमान या शक्तिशाली है तो इसका कारण उसमें माना की शक्ति की अधिकता है। युद्ध में विजय, शिकार में सफलता और मछलियों का अधिक पकड़ पाना भी 'माना' की शक्ति के कारण ही है। कोई तलवार युद्ध में अधिक लोगों को मारती है या कोई नाव अन्य नावों को रफ्तार में पीछे छोड़ देती है, कोई गीत रोगियों को ठीक कर देता है, किसी ताबीज से आपत्ति टल जाती है तो इसका अर्थ है कि उस तलवार, नाव, गीत एवं ताबीज में माना की शक्ति पूरे वेग से है। भारतीय

जनजातियों में भी मजूमदार ने 'माना' जैसी शक्तियों का उल्लेख किया है। 'हो' लोगों में **बोंगा** (Bonga) की अवधारणा, उत्तरी अमेरिका की जनजातियों में ओरेण्डा और दूसरे स्थानों पर '**एरन**' एवं '**बकुआ**' की अवधारणा भी मैरेट के इस सिद्धान्त के अन्तर्गत ही आती है।

मैरेट ने अपने अध्ययन द्वारा यह निष्कर्ष निकाला है कि '**माना**' **एक अवैयक्तिक, अशारीरिक और अलौकिक शक्ति है जो अच्छे और बुरे दोनों रूपों में मनुष्य को प्रभावित करती है।** आदि मानव में ऐसी शक्ति के प्रति भय-मिश्रित श्रद्धा पैदा हुई। वह उसके सामने झुका, नतमस्तक हो गया और जीवन में सफलता पाने तथा बुरे प्रभावों से बचने के लिए उस शक्ति की पूजा, प्रार्थना एवं आराधना करने लगा और यहीं से धर्म का जन्म हुआ।

आलोचना (Criticism)

आत्मावाद की तरह मानावाद भी पूरी तरह स्वीकार नहीं किया गया और इसकी विभिन्न विद्वानों ने निम्नलिखित आलोचनाएँ की हैं—

1. इस सिद्धान्त में इस बात का कहीं उल्लेख नहीं है कि माना की अवधारणा का जन्म कैसे हुआ, क्या आदिम मानव इतना कल्पनाशील व दार्शनिक था कि बिना किसी आधार के ही उसने अलौकिक शक्ति की धारणा को जन्म दिया।
2. धर्म एक सामाजिक तथ्य है, अत: उसकी उत्पत्ति के लिए सामाजिक कारक भी उत्तरदायी हैं, परन्तु इस सिद्धान्त में समाज के महत्त्व को स्वीकार नहीं किया गया है।
3. आदिम जातियों में धर्म एवं जादू से सम्बन्धित अनेक विश्वास पाए जाते हैं और उन सभी को मानावाद के आधार पर नहीं समझा जा सकता।
4. इस सिद्धान्त में अशरीरी और अलौकिक शक्ति को स्पष्टत: परिभाषित नहीं किया गया है।
5. दुर्खीम का मत है कि धर्म का सम्बन्ध पवित्र वस्तुओं से है, मानावाद में पवित्र एवं अपवित्र में भेद नहीं किया गया है।

❑

TOUCH 'n' PASS

UNIT-V

संस्कृति एवं सभ्यता

खण्ड-अ अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. संस्कृति से क्या अभिप्राय है?

उत्तर संस्कृति जीवन की सम्पूर्ण विधि है तथा मानसिक, सामाजिक एवं भौतिक साधन है जिससे कि जीवन की वह विधि बनी हुई है। **मजूमदार एवं मदान** लोगों के जीने के ढंग को ही संस्कृति मानते हैं। **हरस्कोविट्स** संस्कृति को पर्यावरण का मानव-निर्मित भाग कहते हैं।

प्र.2. ''संस्कृति सीखी जाती है'' इस कथन से क्या आशय है?

उत्तर **हॉबल** कहते हैं, कि संस्कृति सीखा हुआ व्यवहार है। संस्कृति मनुष्य को अपने माता-पिता द्वारा उसी प्रकार वंशानुक्रमण में प्राप्त नहीं होती, जिस प्रकार से शरीर रचना प्राप्त होती है। संस्कृति मानव के सीखे हुए व्यवहार प्रतिमानों का योग है।

प्र.3. संस्कृति की कोई चार विशेषताएँ बताइए।

उत्तर (i) संस्कृति सीखी जाती है।
(ii) संस्कृति हस्तान्तरित की जाती है।
(iii) संस्कृति में सामाजिक गुण निहित होता है।
(iv) संस्कृति में अनुकूलन करने की क्षमता होती है।

प्र.4. संस्कृति के चार मुख्य उपादानों (अंगों) के नाम बताइए।

उत्तर संस्कृति के चार मुख्य उपादान हैं—(i) सांस्कृतिक तत्त्व, (ii) संस्कृति संकुल, (iii) संस्कृति प्रतिमान तथा (iv) संस्कृति क्षेत्र।

प्र.5. भौतिक व अभौतिक संस्कृति में कोई एक अन्तर बताइए।

उत्तर भौतिक संस्कृति का सम्बन्ध मानव के बाह्य जीवन से है, जबकि अभौतिक संस्कृति का सम्बन्ध आन्तरिक जीवन से है।

प्र.6. ''मैन एण्ड कल्चर'' नामक पुस्तक के लेखक कौन हैं?

उत्तर ''मैन एण्ड कल्चर'' नामक पुस्तक के लेखक **विसलर** हैं। इन्होंने सन् 1917 में इस पुस्तक में अमेरिका की इण्डियन संस्कृतियों का अध्ययन प्रस्तुत किया है।

प्र.7. सांस्कृतिक बहुलतावाद की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

उत्तर भारत विभिन्नताओं का देश है, यही कारण है कि भारत में विभिन्न धर्मों, भाषाओं, प्रथाओं, रीति-रिवाजों, खान-पान, वेशभूषा, विचारों आदि के रूप में बहुलता पाई जाती है। विभिन्न संस्कृतियों का भारत में सह-अस्तित्व ही सांस्कृतिक बहुलतावाद के नाम से जाना जाता है।

प्र.8. सांस्कृतिक सापेक्षवाद से आप क्या समझते हैं?

उत्तर मानव समाज ने अपनी सांस्कृतिक उपलब्धियों में निरन्तर विकास और परिवर्तन किया है। सांस्कृतिक विकास के द्वारा ही उसने प्रकृति पर अधिकाधिक नियन्त्रण प्राप्त करने का प्रयास किया है। मानव की इसी विशेषता के कारण हमें सांस्कृतिक विभिन्नता और सांस्कृतिक सापेक्षता दिखाई देती है। सांस्कृतिक सापेक्षता का अर्थ है विभिन्न संस्कृतियों का पाया जाना। **हर्सकोविट्स** ने सांस्कृतिक सापेक्षवाद का उल्लेख किया है। सांस्कृतिक सापेक्षवाद को मानव ने जीवन-शैली, भाषा, सामाजिक प्रतिमान, नैतिकता तथा संस्थाओं के द्वारा व्यक्त किया है।

TOUCH 'n PASS

प्र.9. बहु-संस्कृतिवाद पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उत्तर बहु-संस्कृतिवाद से तात्पर्य सांस्कृतिक विविधता अर्थात् सांस्कृतिक बहुलता से है। इसमें दो या दो से अधिक संस्कृतियाँ एक देश या समाज में एक लम्बी व्यवस्थापन प्रक्रिया में ऐसे सह-अस्तित्व के उपाय खोज निकालती हैं जिनमें उनकी अलग पहचान भी बनी रहती है और वे परस्पर समायोजन भी करती हैं।

प्र.10. आदर्शात्मक संस्कृति से आप क्या समझते हैं?

उत्तर इस संस्कृति में धर्म एवं विज्ञान, भौतिक एवं आध्यात्मिक सुख दोनों का सन्तुलित रूप में सम्मिश्रण पाया जाता है। इसलिए सोरोकिन ने इसे आदर्शात्मक संस्कृति का नाम दिया है।

खण्ड-ब लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. संस्कृति का समाज एवं मानव जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है?

उत्तर

संस्कृति का समाज/मानव जीवन पर प्रभाव
(Effect of Culture on Society/Human Life)

1. **संस्कृति मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करती है**—संस्कृति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि यह मानव की विभिन्न शारीरिक, सामाजिक एवं मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। मानव की आवश्यकता पूर्ति के लिए ही समय-समय पर अनेक आविष्कार होते रहे और वे संस्कृति के अंग बनते गये।
2. **संस्कृति व्यक्तित्व निर्माण में मौलिक है**—प्रत्येक मनुष्य किसी-न-किसी संस्कृति में जन्म लेता है। उसका पालन-पोषण किसी सांस्कृतिक पर्यावरण में ही होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी संस्कृति को ग्रहण करता है और अपने व्यक्तित्व में उसको आत्मसात कर लेता है। इसीलिए ही कहा जाता है कि व्यक्ति संस्कृति का आत्म-वैषयिक (Subjective) पक्ष है। व्यक्तियों में भिन्नता सांस्कृतिक भिन्नता के कारण ही होती है।
3. **संस्कृति मानव को मूल्य एवं आदर्श प्रदान करती है**—प्रत्येक व्यक्ति अपनी संस्कृति के आदर्शों एवं मूल्यों के अनुरूप ही समाज में व्यवहार करता है। आदर्शों एवं मूल्यों की अवहेलना करने पर व्यक्ति को सामाजिक तिरस्कार का सामना करना पड़ता है।
4. **संस्कृति मानव की आदतों का निर्धारण करती है**—चूँकि प्रत्येक मनुष्य किसी-न-किसी पूर्व-प्रचलित संस्कृति में ही जन्म लेता है, अत: संस्कृति ही व्यक्ति के खान-पान और वेशभूषा से सम्बन्धित तथा आदतों का निर्धारण करती है।
5. **संस्कृति नैतिकता का निर्धारण करती है**—समाज में उचित एवं अनुचित का निर्धारण संस्कृति के प्रतिमानों के आधार पर ही होता है। संस्कृति ही व्यक्ति में नैतिकता एवं उचित और अनुचित के भाव उत्पन्न करती है।
6. **संस्कृति व्यवहारों में एकरूपता लाती है**—एक संस्कृति से सम्बन्धित सभी व्यक्तियों के व्यवहारों, रीति-रिवाजों, प्रथाओं, लोकाचारों, मूल्यों, आदर्शों एवं नैतिकता में समानता पाई जाती है। सभी व्यक्ति उनको समान रूप से मानते हैं और उनके अनुरूप आचरण करते हैं, इससे समाज में समानता एवं एकरूपता पैदा होती है।
7. **संस्कृति अनुभव एवं कार्यकुशलता को बढ़ाती है**—संस्कृति का पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरण होता है। अत: नई पीढ़ी को पुरानी पीढ़ी का अनुभव एवं कौशल प्राप्त होता है।
8. **संस्कृति व्यक्ति को सुरक्षा प्रदान करती है**—संस्कृति में मानव व्यवहार से सम्बन्धित सभी पक्ष पूर्व-निर्धारित होते हैं जिनके पीछे पूर्वजों का अनुभव होता है। अत: उसे हर बार अपने आचरणों को तय करने के बारे में सोचना नहीं पड़ता वरन् वह स्वत: ही समाज सम्मत आचरणों को सीखता जाता है और उनके अनुसार व्यवहार करता रहता है। इससे व्यक्ति को मानसिक एवं सामाजिक सुरक्षा महसूस होती है।
9. **संस्कृति समस्याओं का समाधान करती है**—जब भी व्यक्ति के सम्मुख कोई समस्या या संकट आता है तो वह उसका हल अपनी संस्कृति से प्राप्त अनुभवों, ज्ञान एवं नियमों के अनुसार ढूँढ़ता है।
10. **संस्कृति मानव को मानव की संज्ञा प्रदान करती है**—मानव जन्म से ही एक जैविकीय इकाई होता है। समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा वह अपनी संस्कृति को सीखता है। संस्कृति को आत्मसात करना ही समाजीकरण है। इस प्रकार संस्कृति मानव को पशु-स्तर से उठाकर मानव की संज्ञा प्रदान करती है।

TOUCH 'n' PASS

11. **संस्कृति ही प्रस्थिति एवं भूमिका का निर्धारण करती है**—एक व्यक्ति अपने समाज में कौन-से पद एवं प्रस्थितियाँ प्राप्त कर सकता है। अर्जित एवं प्रदत्त प्रस्थितियों को प्राप्त करने के नियम एवं उनसे सम्बन्धित व्यक्ति की भूमिका, शक्ति, अधिकार, कर्त्तव्य एवं दायित्व का निर्धारण संस्कृति ही करती है।
12. **संस्कृति सामाजिक नियन्त्रण में सहायक होती है**—प्रत्येक संस्कृति में प्रथाएँ, रीति-रिवाज, लोकाचार, परम्पराएँ आदि होते हैं। ये ही व्यक्ति के आचरण एवं व्यवहार को तय करते हैं तथा व्यक्ति पर नियन्त्रण बनाए रखते हैं। वैयक्तिक नियन्त्रण से ही सामाजिक नियन्त्रण बना रहता है।

प्र.2. संस्कृति के विकास में समाज की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

संस्कृति को समाज की देन
(Contribution of Society to Culture)

संस्कृति ही समाज की निर्धारक नहीं है, वरन् समाज भी संस्कृति के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। समाज के बिना संस्कृति अर्थहीन है, उसके निर्माण के लिए समाज ही उत्तरदायी है। संस्कृति के विकास में समाज की भूमिका को हम निम्न प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—

1. **संस्कृति का हस्तान्तरण**—संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में, एक समाज से दूसरे समाज और समूहों में फैलाने, प्रसार और हस्तान्तरण करने में समाज महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। वर्तमान में यातायात और संचार के विकसित साधनों; जैसे—रेल, मोटर, हवाई जहाज, रेडियो, टी०वी०, सिनेमा एवं पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से विश्व के विभिन्न समाजों की संस्कृतियों का बहुत आदान-प्रदान, प्रचार व प्रसार हुआ है। इससे संस्कृति अजर-अमर तो बनती ही है, साथ ही हम एक 'विश्व-संस्कृति' की भी कल्पना करने लगे हैं।
2. **संस्कृति शिक्षण**—संस्कृति की एक विशेषता यह है कि वह सीखी जाती है। विभिन्न व्यक्तियों, समूहों एवं पीढ़ियों के लोगों को समाज ही संस्कृति की शिक्षा देता है। समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति को अपनी संस्कृति का ज्ञान कराया जाता है।
3. **संस्कृति में सन्तुलन**—परिवर्तन प्रकृति का नियम है। कई बार परिवर्तन की गति इतनी तीव्र होती है कि वह सम्पूर्ण संस्कृति को ही अस्त-व्यस्त कर देती है, किन्तु समाज में कुछ ऐसी विशिष्टताएँ भी होती हैं जो ऐसे संकट के क्षणों में भी संस्कृति की आत्मा को जीवित रखती हैं। वही प्राचीनता और नवीनता के बीच सन्तुलन बनाए रखती हैं। भारतीय संस्कृति आज भी सदियों से जीवित और सन्तुलित है। इसके जीवनकाल में कई उतार-चढ़ाव आए, परिवर्तन की आँधियाँ आईं, किन्तु इसकी मूल आत्मा आज भी वही है जिसकी रक्षा यहाँ के समाज ने की है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समाज और संस्कृति का घनिष्ठ सम्बन्ध है और ये परस्पर एक-दूसरे के रक्षण, विकास, परिमार्जन एवं संवर्द्धन में सहयोग प्रदान करते रहते हैं। समाज ही संस्कृति का निर्माता है।

प्र.3. बहुलवाद के आधार स्तम्भों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

बहुलवाद के आधार
(Bases of Pluralism)

बहुलवाद के आधार निम्नलिखित हैं—

1. **परस्पर सहयोग**—बहुलवाद में व्यक्तियों के मध्य परस्पर सहयोग की भावना होती है। सहयोग की यह भावना जीवन के समस्त क्षेत्रों; जैसे—सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन से सम्बन्धित होती है तथा बहुलवाद का आधार होती है।
2. **सहिष्णुता**—सहिष्णुता एक ऐसी स्थिति है जिसमें प्राय: विभिन्न विशेषताओं वाले समूहों के मध्य किसी भी प्रकार का पूर्वाग्रह उत्पन्न न हो तथा उनके मध्य एक दूसरे की संस्कृति एवं व्यवहारों के प्रति आपस में समानता की भावना विद्यमान रहे।
3. **सांस्कृतिक पहचान**—प्राय: भिन्न विशेषताओं वाले समूह किसी भय या दबाव के कारण अपनी सामूहिक विशेषताओं को अन्य बहुसंख्यक समूहों की विशिष्टताओं में विलीन न करके अपनी सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखते हैं। अत: यह स्थिति बहुलवाद कहलाती है तथा उसका आधार होती है।
4. **समूहों के मध्य अच्छे सम्बन्ध**—बहुलवाद का एक प्रमुख आधार समूहों के मध्य अच्छे सम्बन्ध होना भी है। यदि किसी एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य को धार्मिक या भाषाई विभिन्नता के कारण सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है तो बहुलवाद हेतु संकट उत्पन्न हो सकता है। अत: यह बहुलवाद हेतु अत्यन्त आवश्यक है।

प्र.4. बहुलवाद, सांस्कृतिक सापेक्षवाद तथा बहुसंस्कृतिवाद में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

बहुलवाद, सांस्कृतिक सापेक्षवाद तथा बहु-संस्कृतिवाद में अन्तर
(Difference between Pluralism, Cultural Relativism and Multiculturalism)

बहुलवाद, सांस्कृतिक सापेक्षवाद तथा बहु-संस्कृतिवाद में अन्तर निम्नलिखित हैं—

क्र०सं०	बहुलवाद	बहु-संस्कृतिवाद	सांस्कृतिक सापेक्षवाद
1.	बहुलवाद में व्यक्तियों के मध्य परस्पर सहयोग की भावना होती है।	बहु-संस्कृतिवाद के द्वारा विभिन्न व्यक्तियों को जिनके लिंग-भेद या कई प्रकार के पूर्वानुमानों के कारण उपेक्षित माना जाता था।	सांस्कृतिक सापेक्षवाद वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार किसी भी संस्कृति को उसके स्वसन्दर्भ में ही समझा जाना चाहिए।
2.	दूसरे की संस्कृति एवं व्यवहारों के प्रति आपस में समानता की भावना विद्यमान रहे।	इसके अन्तर्गत विभिन्न संस्कृतियों के लोगों को अन्य समूहों की तरह मान्यता के साथ-साथ सम्मान भी आवश्यक होता है।	सांस्कृतिक सापेक्षवाद के अन्तर्गत यह सोच निर्धारित होती है कि जो विचार एक स्थान पर नैतिक हैं, वे दूसरे स्थान पर अनैतिक भी हो सकते हैं।
3.	प्राय: भिन्न विशेषताओं वाले समूहों का किसी भय या दबाव के कारण अपनी सामूहिक विशेषताओं को अन्य बहुसंख्यक समूहों की विशिष्टताओं में विलीन न करके अपनी सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखते हैं।	बहु-संस्कृतिवाद का सम्बन्ध भिन्न समूहों के माध्यम से समाज को प्रदान योगदान के प्रति उन्हें प्रोत्साहन देना और साथ ही इस योग्य बनाना है कि वे मुख्य समाज हेतु उपयोगी भूमिका निभा सकें।	सांस्कृतिक सापेक्षवाद उन सार्वभौतिक सिद्धान्तों पर विश्वास नहीं करता जिसके मूल पर विभिन्न संस्कृतियों की व्याख्या कर दी जाती है।
4.	बहुलवाद का एक प्रमुख आधार समूहों के मध्य अच्छे सम्बन्ध होना भी है।	बहु-संस्कृतिवाद 'विभिन्नता में एकता' पर आधारित ऐसा समाज है, जिसमें भिन्न-भिन्न संस्कृति तथा धार्मिक, क्षेत्रीय, जातिगत के लोग पारस्परिक रूप से आपस में सम्बन्धित होते हैं।	संस्कृति की प्रसिद्धता का निर्धारण एक सापेक्षवादी दृष्टिकोण के आधार पर ही हो सकता है, निरपेक्ष दृष्टिकोण के आधार पर नहीं। यथार्थता संस्कृति में सामंजस्य का लक्षण होता है।

प्र.5. बहुसंस्कृतिवाद की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

बहुसंस्कृतिवाद
(Multiculturalism)

जाति, धर्म, भाषा आदि के आधार पर विकसित कुछ संस्कृतियाँ ऐसी भी होती हैं कि जिनके नैतिक मूल्य एवं मान्यताएँ उन्हें दूसरों से अलग करते हैं। जब इस प्रकार की संस्कृतियों के लोग किसी अन्य देश अथवा समाज में निवास करते हैं तो उन्हें सांस्कृतिक विभिन्नताओं के बावजूद एक-दूसरे के साथ तालमेल बिठाना पड़ता है और एक-दूसरे के सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति सम्मान व स्वीकार की भावना पैदा करनी पड़ती है। किसी समाज में मौजूद ऐसी सांस्कृतिक स्थिति को बहुसंस्कृतिवाद कहा जाता है। इस प्रकार **दो या दो से अधिक संस्कृतियों के मिलने और उससे उत्पन्न होने वाली सांस्कृतिक स्थिति को बहुसंस्कृतिवाद कहा जाता है।**

किमलिका (2012) के अनुसार, "बहुसंस्कृतिवाद एक वैधानिक एवं राजनीतिक समायोजन है। उनके अनुसार पश्चिम में बहुसंस्कृतिवाद का जन्म पुरातन सांस्कृतिक प्रारूपों एवं रंगभेद अथवा नस्लवाद की आनुवंशिक परम्पराओं के स्थान पर आधुनिक लोकतांत्रिक नागरिकों के उदार एवं प्रगतिशील विचारों को स्थापित करने के प्रयासों के परिणामस्वरूप हुआ है।" **अब्राहम** (2006) के अनुसार, "जब विभिन्न संस्कृतियों के लोग किसी देश अथवा समाज में एक साथ निवास करते हैं तो उनकी संस्कृतियों के आपस में मिलने-जुलने से उनके बीच एक आपसी समझ विकसित होती है और एक-दूसरे के सांस्कृति मूल्यों एवं मान्यताओं के प्रति आदर व स्वीकार का भाव उत्पन्न हो जाता है। बहुसंस्कृतिवादी समाज की तुलना सलाद से भरे कटोरे से की जा सकती है। ऐसी स्थिति में विभिन्न समुदाय अपने-अपने सांस्कृतिक मूल्यों को बचाए रखने के लिए उस सीमा तक प्रयास करते हैं कि दूसरों के साथ सांस्कृतिक टकराव की स्थिति उत्पन्न न हो, फिर भी बहुसंख्यकों की संस्कृति प्राय: अल्पसंख्यकों की संस्कृति को निगल जाती हैं अथवा यह कहें कि उन पर भारी पड़ जाती है। जब से समाज में वैश्वीकरण की स्थिति उत्पन्न हुई है

तब से विभिन्न सांस्कृतिक पृष्ठभूमि वाले लोगों की एक साथ रहने और मिलकर काम करने की सम्भावनाएँ बढ़ती गई हैं। इससे बहुसंस्कृतिवाद अस्तित्व में आया है और यह एक ऐसा विषय है जिस पर आजकल खूब चर्चाएँ हो रही हैं और लोग यह पूछने लगे हैं कि क्या बहुसंस्कृतिवादी समाज की अवधारणा को दुनिया भर में व्यापक रूप से स्वीकृति मिल जाएगी?

खण्ड-स विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. संस्कृति का अर्थ, परिभाषा एवं संस्कृति निमार्ण में मानव की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

संस्कृति का अर्थ
(Meaning of Culture)

संस्कृति शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है। **क्रोबर** एवं **क्लुखौन** ने संस्कृति की परिभाषाओं का संकलन कर बताया है कि इस शब्द की एक-सौ आठ परिभाषाएँ हैं। साहित्यकारों ने सामाजिक आकर्षण एवं बौद्धिक श्रेष्ठता को प्रकट करने के लिए संस्कृति शब्द का प्रयोग किया है। प्रसिद्ध आलोचक एवं कवि मैथ्यू आरनोल्ड जीवन के प्रकाश एवं कोमलता को संस्कृति कहते हैं। कई समाजशास्त्रियों ने समाज के बौद्धिक नेताओं के लिए 'सांस्कृतिक अभिजात' (Cultural elite) शब्द का प्रयोग किया है। **दार्शनिक केसिरर** एवं **सोरोकिन** तथा **मैकाइवर** जैसे समाजशास्त्री मानव की नैतिक, आध्यात्मिक और बौद्धिक उपलब्धियों के लिए संस्कृति शब्द का प्रयोग करते हैं।

संस्कृति शब्द संस्कृत भाषा से लिया गया है। संस्कृत और संस्कृति दोनों ही शब्द संस्कार से बने हैं। संस्कार का अर्थ है—कुछ कृत्यों की पूर्ति करना। एक हिन्दू जन्म से ही अनेक प्रकार से संस्कार करता है, जिनमें उसे विभिन्न प्रकार की भूमिकाएँ निभानी पड़ती हैं। संस्कृति का अर्थ होता है विभिन्न संस्कारों के द्वारा सामूहिक जीवन के उद्देश्यों की प्राप्ति। यह परिमार्जन की एक प्रक्रिया है। संस्कारों को सम्पन्न करके ही एक मानव सामाजिक प्राणी बनता है।

नैतिक दृष्टि से संस्कृति का सम्बन्ध नैतिकता, सच्चाई, ईमानदारी, आदर्श नियमों एवं सद्गुणों से है। संस्कृति का सम्बन्ध 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' (The Truth, The God, The Beauty) से है। हीगल, काण्ट एवं लॉबेल आदि ने संस्कृति का नीतिशास्त्रीय अर्थ में प्रयोग किया है। इस अर्थ में संस्कृति का सम्बन्ध उन वस्तुओं से है जो मानव जीवन को आनन्द प्रदान करती हैं, जो सुन्दर हैं, जो ज्ञान से सम्बन्धित हैं, जो सत्य हैं और जो मानव के लिए कल्याणकारी एवं मूल्यवान हैं। नीतिशास्त्र में संस्कृति शब्द का प्रयोग धार्मिक एवं नैतिक गुणों से युक्त आचरण के लिए किया जाता है।

मानवशास्त्र में संस्कृति शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थों में हुआ है। **मजूमदार** एवं **मदान** लोगों के जीने के ढंग को ही संस्कृति मानते हैं। प्रारम्भिक मानवशास्त्रियों में **टायलर** की परिभाषा विस्तृत है। आपके अनुसार, "संस्कृति वह समग्र जटिलता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून तथा और ऐसी ही अन्य क्षमताओं एवं आदतों का समावेश है जो मनुष्य समाज का एक सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है। टायलर की इस परिभाषा में यह स्पष्ट किया गया है कि संस्कृति सामाजिक विरासत है, समाज द्वारा मानव को दिया हुआ उपहार है। टायलर की परिभाषा की व्याख्या करते हुए मैलिनोवस्की कहते हैं कि सामाजिक विरासत को हम भौतिक और अभौतिक या मूर्त और अमूर्त भागों में बाँट सकते हैं। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि संस्कृति जीवन की सम्पूर्ण विधि (Total way of life) है तथा मानसिक, सामाजिक एवं भौतिक साधन है जिससे कि जीवन की वह विधि बनी हुई है। **हाइस्कोविट्स** संस्कृति को "पर्यावरण का मानव निर्मित (Man-made) भाग कहते हैं।"

समाजशास्त्रीय अर्थ में संस्कृति को समाज की धरोहर या विरासत के रूप में परिभाषित किया गया है। समाज द्वारा निर्मित भौतिक एवं अभौतिक दोनों पक्षों को संस्कृति में सम्मिलित करते हुए **रॉबर्ट बीरस्टीड** लिखते हैं, "संस्कृति वह सम्पूर्ण जटिलता है जिसमें वे सभी वस्तुएँ सम्मिलित हैं जिन पर हम विचार करते हैं, कार्य करते हैं और समाज के सदस्य होने के नाते अपने पास रखते हैं।"

वे पुन: लिखते हैं, "इसके अन्तर्गत हम जीवन जीने, कार्य करने एवं विचार करने के उन सभी तरीकों को सम्मिलित करते हैं जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते हैं और समाज के स्वीकृत अंग बन चुके हैं।"

लैंडिस के अनुसार, "संस्कृति वह संसार है जिसमें एक व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु तक निवास करता है, चलता-फिरता है और अस्तित्व को बनाये रखता है।"

ब्लूम एवे **सेल्जनिक**, "संस्कृति को सामाजिक विरासत के रूप में स्वीकार करते हैं।"

मैकाइवर संस्कृति में केवल अभौतिक पक्षों को ही सम्मिलित करते हैं। **फेयरचाइल्ड** के अनुसार, "प्रतीकों द्वारा सामाजिक रूप से प्राप्त और संचारित सभी व्यवहार प्रतिमानों के लिए सामूहिक नाम संस्कृति है।"

मानव संस्कृति निर्माता के रूप में
(Man as a Creator of Culture)

संस्कृति मानव की श्रेष्ठतम धरोहर है, जिसकी सहायता से मानव पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ता जा रहा है, प्रगति की ओर उन्मुख होता जा रहा है। यदि मानव से उसकी संस्कृति छीन ली जाए तो जो कुछ शेष बचेगा, वह मात्र अन्य पशुओं के समान एक प्राणी ही। मानव और पशु में मुख्य अन्तर संस्कृति का ही तो है। संस्कृति मानव जीवन की एक अनोखी घटना है। संस्कृति के आधार पर ही हम एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से, एक समूह को दूसरे समूह से और एक समाज को दूसरे समाज से पृथक् कर सकते हैं। मानव ही विश्व में एक ऐसा प्राणी है जो अपनी शारीरिक एवं बौद्धिक विशेषताओं के कारण संस्कृति का निर्माण कर पाया है, भौतिक क्षेत्र में अनेक वस्तुओं को निर्मित कर पाया एवं अभौतिक क्षेत्र में अनेक विश्वासों तथा व्यवहार के तरीकों को जन्म दे पाया है।

मानव में ही वह अद्‌भुत शक्ति एवं क्षमता मौजूद है कि वह संस्कृति का निर्माता कहलाने का अधिकारी है। ये क्षमताएँ एवं शक्तियाँ मानव की अनोखी शारीरिक बनावट के कारण हैं। **लेस्ली ह्वाइट** ने मानव की उन पाँच विशेषताओं का उल्लेख किया है, जिनके कारण मानव द्वारा संस्कृति का निर्माण सम्भव हुआ है। हम यहाँ उन विशेषताओं का संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

1. **सीधे खड़े हो सकने की क्षमता**—मानव ही एकमात्र ऐसा प्राणी है कि वह सीधा खड़ा हो सकता है, वह अपने दो पाँवों से चलने-फिरने का काम लेता है तथा हाथों की सहायता से अन्य कार्य कर सकता है। अन्य प्राणी अपने इन चारों अंगों से चलने एवं शरीर का भार सँभालने का कार्य करते हैं।
2. **स्वतन्त्रतापूर्वक घुमाए जा सकने वाले हाथ**—मानव के हाथों की बनावट विशेष प्रकार की है, इस कारण उन्हें किसी भी दिशा में आसानी से घुमाया जा सकता है। हाथ की बनावट में अँगूठे की विशिष्ट स्थिति होने के कारण किसी भी वस्तु को पकड़ना सरल हो जाता है। अन्य प्राणियों के हाथों में अँगुलियों और अँगूठे का यह तालमेल नहीं है। यही कारण है कि मानव अपने हाथों द्वारा अनोखे निर्माण कार्य कर सका है। उसने अनेक यन्त्रों, कल-कारखानों, सड़कों, भवनों एवं कलाकृतियों का निर्माण किया है। लेखन कार्य हाथों की विशिष्ट संरचना के कारण ही सम्भव हुआ है जिसके परिणामस्वरूप उसने मानव ज्ञान को सँजोया है और न केवल उसे सुरक्षित ही रखा है वरन् उसे बढ़ाया भी है।
3. **तीक्ष्ण एवं केन्द्रित की जा सकने वाली दृष्टि**—मानव किसी भी वस्तु को टकटकी लगाकर लम्बे समय तक देख सकता है। इसके परिणामस्वरूप उसके द्वारा अवलोकन का कार्य सम्भव हो सका है। इस अवलोकन के आधार पर ही उसने ज्ञान एवं विज्ञान का विकास किया, प्राकृतिक एवं सामाजिक घटनाओं को देखा, निष्कर्ष निकाले और सिद्धान्तों का निर्माण किया।
4. **मेधावी मस्तिष्क**—मानव की सबसे बड़ी क्षमता उसके मेधावी मस्तिष्क में निहित है। उसका मस्तिष्क अन्य प्राणियों की तुलना में कहीं अधिक तर्कशील, विचारशील एवं क्रियाशील है। मानव अपने मेधावी मस्तिष्क के कारण ही अनेक आविष्कार कर पाया है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि मानव मस्तिष्क एवं पशु मस्तिष्क में केवल मात्रा का अन्तर है, प्रकार का नहीं। इस प्रकार के विचार रखने वालों में किंग्सले डेविस, डार्विन एवं लिंटन आदि प्रमुख हैं। डार्विन का तो मत है कि मानसिक क्षमताओं में मानव और उच्चकोटि के स्तनधारी प्राणियों में कोई आधारभूत अन्तर नहीं है, किन्तु इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह मात्रा का अन्तर ही होता तो पशु भी कभी-न-कभी संस्कृति का निर्माण कर ही सकते थे। अत: मानव एवं पशुओं के मस्तिष्क में मात्रा का ही नहीं अपितु प्रकार का भी अन्तर है। इस अन्तर के कारण ही मानव तर्क कर सकता है और कार्यकारण सम्बन्ध ज्ञात कर सकता है। इसी आधार पर मानव ने संस्कृति का विकास किया है।
5. **प्रतीकों के निर्माण की क्षमता**—मानव द्वारा संस्कृति निर्माण को सम्भव बनाने में उसके द्वारा उपयोग किए जाने वाले प्रतीकों एवं भाषा का भी अमूल्य योगदान रहा है। भाषा एवं प्रतीकों के माध्यम से वह अपने विचारों का सरलता से आदान-प्रदान कर सकता है तथा पुरानी पीढ़ी द्वारा नई पीढ़ी को ज्ञान का हस्तान्तरण भी। मानव ही प्रतीकों को अर्थ प्रदान कर सकता है और इसी आधार पर उसने भाषा का विकास किया है। मानव एवं पशु जगत में एक मुख्य भेद यह भी है कि केवल मानव के पास ही भाषा है जबकि पशुओं के पास नहीं। भाषा के द्वारा ही वह संस्कृति का विकास, संशोधन परिमार्जन एवं विस्तार कर सका है।

प्र.2. संस्कृति की मुख्य विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

संस्कृति की विशेषताएँ
(Characteristics of Culture)

संस्कृति की विभिन्न परिभाषाओं का उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ उसे और अधिक स्पष्टत: समझने के लिए हम उसकी विशेषताओं पर विचार करेंगे।

1. **संस्कृति मानव निर्मित**—संस्कृति केवल मनुष्य समाज में ही पाई जाती है। मनुष्य में कुछ ऐसी मानसिक एवं शारीरिक विशेषताएँ हैं; जैसे—विकसित मस्तिष्क, केन्द्रित की जा सकने वाली आँखें, हाथ और उसमें अँगूठे की स्थिति, गर्दन की रचना आदि जो उसे अन्य प्राणियों में भिन्न बनाती है और इसी कारण वह संस्कृति को निर्मित एवं विकसित कर सका है और अपने विकसित मस्तिष्क के कारण ही मानव नए-नए आविष्कार करता और उन्हें मानव-जाति के अनुभवों में सँजोता है। संस्कृति का धनी होने के कारण ही मनुष्य अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ है और वह अति-प्राणी (Super-organic) कहलाने का अधिकारी है।
2. **संस्कृति सीखी जाती है**—**हॉबल** कहते हैं कि संस्कृति सीखा हुआ व्यवहार है। संस्कृति मनुष्य को अपने माता-पिता द्वारा उसी प्रकार वंशानुक्रमण में प्राप्त नहीं होती, जिस प्रकार से शरीर रचना प्राप्त होती है। संस्कृति मानव के सीखे हुए व्यवहार प्रतिमानों (Behaviour patterns) का योग है। एक मनुष्य अपने जन्म के साथ किसी संस्कृति को लेकर पैदा नहीं होता वरन् जिस समाज में पैदा होता है, उसकी संस्कृति को धीरे-धीरे समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा सीखता है। सीखने की क्षमता मानव में ही नहीं वरन् पशुओं में भी होती है, किन्तु पशु द्वारा सीखा हुआ व्यवहार संस्कृति नहीं बन पाता। पशु द्वारा सीखा हुआ व्यवहार मानव की तरह सामूहिक व्यवहार का अंग नहीं है अपितु केवल पशु का व्यक्तिगत व्यवहार है। सामूहिक व्यवहार ही प्रथाओं, जनरीतियों, परम्पराओं, रूढ़ियों आदि को जन्म देते हैं और ये केवल मानव समाज में ही पाए जाते हैं, पशुओं में नहीं।
3. **संस्कृति हस्तान्तरित की जाती है**—संस्कृति चूँकि सीखी जा सकती है इसलिए ही नई पीढ़ी पुरानी पीढ़ी के द्वारा संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करती है। इस प्रकार एक समूह से दूसरे समूह को, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को संस्कृति हस्तान्तरित की जाती है। मानव को अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ घोषित करने में उसकी भाषा का भी महत्त्वपूर्ण हाथ है। भाषा के कारण ही वह अपने ज्ञान को दूसरे लोगों तक पहुँचाता है। वह अपने द्वारा अर्जित ज्ञान को नई पीढ़ी को भाषा, लेखन एवं संकेतों के माध्यम से ही हस्तान्तरित करता है। नई पीढ़ी को अपने पूर्वजों द्वारा अर्जित ज्ञान का भण्डार प्राप्त होता है, जिसमें वे स्वयं का अनुभव भी जोड़ते जाते हैं। इस प्रकार से मानव ज्ञान एवं संस्कृति का कोष दिनों-दिन बढ़ता जाता है।
4. **प्रत्येक समाज की एक विशिष्ट संस्कृति होती है**—एक समाज की भौगोलिक एवं सामाजिक परिस्थियाँ दूसरे समाज से भिन्न होती हैं। अत: प्रत्येक समाज में अपनी एक विशिष्ट संस्कृति पाई जाती है। समाज अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक आविष्कार करता है। आविष्कारों का योग संस्कृति को एक नया रूप प्रदान करता है। हर समाज की आवश्यकताएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं जो संस्कृति भिन्नताओं को जन्म देती हैं। एक समाज की संस्कृति में घटित होने वाले परिवर्तन दूसरी संस्कृति में घटित होने वाले परिवर्तनों से भिन्न होते हैं।
5. **संस्कृति में सामाजिक गुण निहित होता है**—संस्कृति किसी व्यक्ति विशेष की देन नहीं होती वरन् सम्पूर्ण समाज की देन है। उसका जन्म और विकास समाज के कारण ही हुआ है। समाज के अभाव में संस्कृति की कल्पना नहीं की जा सकती। कोई भी संस्कृति पाँच, दस या सौ, दो सौ व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व नहीं करती वरन् समाज या समूह के अधिकांश लोगों का प्रतिनिधित्व करती है। संस्कृति सामूहिक आदतों, व्यवहारों एवं अनुभवों की ही उपज होती है। संस्कृति के अंग; जैसे—प्रथाएँ, जनरीतियाँ, भाषा, परम्परा, धर्म, विज्ञान, कला, दर्शन आदि किसी एक व्यक्ति की विशेषताओं को प्रकट नहीं करते वरन् सम्पूर्ण समाज की जीवन विधि (Way of life) का प्रतिनिधित्व करते हैं।
6. **संस्कृति समूह के लिए आदर्श होती है**—एक समूह के लोग अपनी संस्कृति को आदर्श मानते हैं और वे उसके अनुसार अपने व्यवहारों एवं विचारों को ढालते हैं। जब संस्कृतियों की तुलना की जाती है तो एक व्यक्ति दूसरी संस्कृति की तुलना में अपनी संस्कृति को आदर्श बताने का प्रयास करता है, उसकी अच्छाइयों का उल्लेख करता है। उदाहरणार्थ, हिन्दू संस्कृति की तुलना मुस्लिम संस्कृति से करने के दौरान एक हिन्दू अपनी संस्कृति को ही श्रेष्ठ बताता है।

7. **संस्कृति मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करती है**—संस्कृति की यह विशेषता है कि वह मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। मानव की अनेक सामाजिक, शारीरिक एवं मानसिक आवश्यकताएँ हैं। उनकी पूर्ति के लिए ही मानव ने संस्कृति का निर्माण किया है। प्रकार्यवादियों ने संस्कृति के प्रकार्यों (Functions) पर अधिक बल दिया हैं प्रकार्यवादियों में मैलिनोवस्की एवं रैडक्लिफ ब्राउन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।
8. **संस्कृति में अनुकूलन करने की क्षमता होती है**—संस्कृति में समय, स्थान, समाज एवं परिस्थितियों के अनुरूप अपने आपको ढालने की क्षमता होती है। परिवर्तनशीलता संस्कृति का गुण है। विभिन्न भौगोलिक परिस्थियों के अनुसार संस्कृति अपने आपको बदलती रहती है। पहाड़ी भागों, मैदानों, रेगिस्तान एवं बर्फीले प्रदेशों में निवास करने वाले लोगों की संस्कृति में पर्याप्त अन्तर पाए जाते हैं। इसका कारण यह है कि संस्कृति ने अपने आपको भौगोलिक परिस्थितियों के अनुरूप ही ढाला हैं। शीत प्रदेशों में रहने वाले लोगों के मकान एवं वस्त्रों की बनावट उष्ण प्रदेशों में रहने वालों से भिन्न होती है। संस्कृति में परिवर्तनशीलता एवं अनुकूलता का गुण देखा जा सकता है। भारत में वर्तमान समय की संस्कृति वैदिक युग से भिन्न है क्योंकि समय के साथ-साथ संस्कृति ने अपने को बदला है।
9. **संस्कृति में सन्तुलन एवं संगठन है**—संस्कृति का निर्माण विभिन्न इकाइयों से मिलकर होता है। संस्कृतिक इकाइयाँ जिन्हें हम संस्कृति तत्व (Culture trait) एवं संस्कृति संकुल (Culture complex) कहते हैं, परस्पर एक-दूसरे से पृथक नहीं हैं वरन् एक-दूसरे से बँधे हुए हैं। ये सभी इकाइयाँ संगठित रूप से मिलकर ही सम्पूर्ण संस्कृति की व्यवस्था को बनाए रखती हैं। **समनर** का मत है कि संस्कृति की विभिन्न इकाइयों में "एकरूपता की ओर खिंचाव" होता है जिसके परिणामस्वरूप सभी इकाइयाँ संगठित होकर एक सामूहिकता या समग्रता का निर्माण करती हैं, उसे ही संस्कृति कहते हैं। लघु समाजों में संस्कृति के विभिन्न पक्षों में एकता स्पष्टत: देखी जा सकती है, क्योंकि वहाँ संस्कृति में तनाव एवं संघर्ष पैदा करने वाली शक्तियाँ अधिक क्रियाशील नहीं होतीं।
10. **संस्कृति मानव-व्यक्तित्व के निर्माण में मौलिक होती है**—एक मनुष्य का पालन-पोषण किसी सांस्कृतिक पर्यावरण में ही होता है। जन्म के बाद बच्चा अपनी संस्कृति को सीखकर उसे आत्मसात करता है। एक संस्कृति में पले हुए व्यक्ति का व्यक्तित्व दूसरी संस्कृति के व्यक्ति से भिन्न होता है। इसका कारण यह है कि संस्कृति में प्रचलित रीति-रिवाजों, धर्म, दर्शन, कला, विज्ञान, प्रथाओं एवं व्यवहारों की छाप व्यक्ति के व्यक्तित्व पर होती है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति में पला हुआ व्यक्ति जापानी संस्कृति में पले हुए व्यक्ति से भिन्न होता है।
11. **संस्कृति अधि-वैयक्तिक एवं अधि-सावयवी है**—क्रोबर ने संस्कृति की इन विशेषताओं का उल्लेख किया है। अधि-वैयक्तिक का अर्थ है कि संस्कृति का निर्माण किसी व्यक्ति विशेष ने नहीं किया है और वह संस्कृति के एक भाग का ही उपयोग कर पाता है, सम्पूर्ण का नहीं। संस्कृति का निर्माण समूह द्वारा ही होता है। कभी-कभी समाज में कुछ महान सामाजिक कार्यकता, वैज्ञानिक एवं नेता आदि पैदा होते हैं। वे समाज और संस्कृति के पुरातन मूल्यों, विचारों, प्रथाओं धर्म, आदि में अनेक परिवर्तन लाते हैं और उनके स्थान पर नवीन मूल्य, विचारों, प्रथाओं एवं धर्म की स्थापना करते हैं। तब ऐसा प्रतीत होता है जैसे वे ही सम्पूर्ण संस्कृति के वाहक एवं निर्माता हैं, किन्तु यह विचार भी त्रुटिपूर्ण है क्योंकि इन महान व्यक्तियों ने जो विचार ग्रहण किये, वे भी उनसे पूर्व समाज में विद्यमान थे। अत: कोई भी व्यक्ति सम्पूर्ण संस्कृति का निर्माता नहीं हो सकता। यह केवल अपनी ओर से उसमें कुछ योगदान ही देता है। प्रत्येक संस्कृति का निर्माण, विकास, विस्तार एवं परिमार्जन होता रहता है जिसे रोकने या वश में करने की क्षमता किसी व्यक्ति विशेष में नहीं होती है। इस अर्थ में भी संस्कृति अधि-वैयक्तिक है।

प्र.3. भौतिक व अभौतिक संस्कृति से क्या आशय है? दोनों में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति
(Material and Non-Material Culture)

अमरीकन समाजशास्त्री **ऑगबर्न** ने संस्कृति को भौतिक और अभौतिक दो भागों में बाँटा है। उनके इस वर्गीकरण को अन्य वैज्ञानिकों ने भी स्वीकार किया है।

भौतिक संस्कृति (Material Culture)

भौतिक संस्कृति के अन्तर्गत मानव द्वारा निर्मित सभी भौतिक एवं मूर्त वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है **जिन्हें हम देख सकते हैं, छू सकते हैं और इन्द्रियों द्वारा जिनका आभास कर सकते हैं।** भौतिक संस्कृति में हम घड़ी, पेन, पंखा, मोटर, मशीन, औजार,

वस्त्र, वाद्य-यन्त्र, रेल, जहाज, वायुयान, टेलीफोन आदि अनेक वस्तुओं को गिन सकते हैं। भौतिक संस्कृति के सभी तत्त्वों को गिनना सरल नहीं है। सरल एवं आदिम समाजों की अपेक्षा जटिल एवं आधुनिक समाजों में इनकी संख्या अधिक है। इसी प्रकार से पुरानी पीढ़ी की अपेक्षा नयी पीढ़ी के पास भौतिक संस्कृति अधिक है। भौतिक संस्कृति की विशेषताओं को हम संक्षेप में निम्न प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—

(1) भौतिक संस्कृति मूर्त होती है। (2) भौतिक संस्कृति संचयी है, अत: इसके अंगों में निरन्तर वृद्धि होती जाती है। (3) चूँकि भौतिक संस्कृति मूर्त है, अत: उसे मापा जा सकता है। (4) भौतिक संस्कृति की उपयोगिता एवं लाभ का मूल्यांकन सरल है। (5) भौतिक संस्कृति में परिवर्तन शीघ्र होते हैं। (6) एक स्थान से दूसरे स्थान पर संस्कृति का प्रसार होने पर भौतिक संस्कृति में बिना परिवर्तन हुए ही उसे ग्रहण किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, अमरीकन फर्नीचर की डिजायन, पेन, वेष-भूषा एवं मशीनों को हम बिना परिवर्तन के ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर सकते हैं।

अभौतिक संस्कृति (Non-Material Culture)

मैकाइवर एवं अन्य कई समाज-वैज्ञानिकों ने संस्कृति में केवल अभौतिक तत्वों को ही सम्मिलित किया हैं। **सोरोकिन** इसे भावात्मक संस्कृति कहते हैं। **अभौतिक संस्कृति के अन्तर्गत उन सभी सामाजिक तथ्यों को सम्मिलित किया जाता है जो अमूर्त हैं, जिनका कोई माप-तौल, आकार व रंग-रूप नहीं होता, इन्द्रियों द्वारा जिनका स्पर्श नहीं होता वरन् जिन्हें हम केवल महसूस कर सकते हैं,** वह हमारे विचारों एवं कार्यों में निहित है। **सामान्यत: अभौतिक संस्कृति में हम सामाजिक विरासत में प्राप्त विचार, विश्वास, मानदण्ड, व्यवहार, प्रथा, रीति-रिवाज, कानून, मनोवृत्तियाँ, साहित्य, ज्ञान, कला, भाषा, नैतिकता आदि को सम्मिलित करते हैं।** अभौतिक संस्कृति समाजीकरण एवं सीखने की प्रक्रिया द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती है। अभौतिक संस्कृति की विशेषताओं को हम संक्षेप में निम्न प्रकार प्रकट कर सकते हैं—

(1) अभौतिक संस्कृति अमूर्त होती है। (2) चूँकि अभौतिक संस्कृति अमूर्त होती है, अत: उसकी माप नहीं की जा सकती। (3) अभौतिक संस्कृति जटिल होती है। (4) अभौतिक संस्कृति की उपयोगिता एवं लाभ का मूल्यांकन भौतिक वस्तुओं की तरह प्रकट नहीं किया जा सकता। (5) अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन बहुत कम और धीमी गति से होते हैं। (6) सांस्कृतिक प्रसार के दौरान अभौतिक संस्कृति के तत्वों को उसी रूप में ग्रहण नहीं किया जाता वरन् उनमें थोड़ा बहुत परिवर्तन आ जाता है। (7) अभौतिक संस्कृति का सम्बन्ध मानव के आध्यात्मिक एवं आन्तरिक जीवन से है।

भौतिक व अभौतिक संस्कृति में अन्तर
(Distinction Between Material and Non-Material Culture)

भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति सम्पूर्ण संस्कृति के दो अंग हैं। इनमें निम्नांकित अन्तर पाए जाते हैं—

1. अभौतिक संस्कृति **अमूर्त** होती है जबकि भौतिक संस्कृति **मूर्त** होती है।
2. अभौतिक संस्कृति भौतिक संस्कृति की अपेक्षा **धीमी गति से** परिवर्तित होती है, अत: वह भौतिक संस्कृति की अपेक्षा **स्थिर** होती है।
3. अभौतिक संस्कृति का सम्बन्ध मानव के **आन्तरिक जीवन** से है, जबकि भौतिक संस्कृति का सम्बन्ध **बाह्य जीवन** से।
4. अभौतिक संस्कृति में वृद्धि **धीमी गति से** होती है, जबकि भौतिक संस्कृति में **तीव्र गति** से। उदाहरण के लिए, पिछले डेढ़ सौ वर्षों में कितने ही भौतिक आविष्कार हुए, कितने ही प्रकार की नई मशीनें एवं नई वस्तुएँ बनीं जबकि हमारे विचारों, प्रथाओं, लोकरीतियों आदि में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है।
5. अभौतिक संस्कृति की अपेक्षा भौतिक संस्कृति **शीघ्र ग्राह्य** है। जब दो भिन्न सांस्कृतिक समूह सम्पर्क में आते हैं तो एक-दूसरे की भौतिक संस्कृति शीघ्र स्वीकार कर ली जाती है, बजाय उनकी प्रथाओं एवं रीति-रिवाजों के।
6. भौतिक संस्कृति के मूर्त होने से उसका **सरलता से माप** किया जा सकता है, जबकि अभौतिक संस्कृति के अमूर्त होने से उसका **माप-तौल नहीं किया जा सकता।**
7. भौतिक संस्कृति **सरल** होती है, जबकि अभौतिक संस्कृति की प्रकृति **जटिल** है।
8. भौतिक संस्कृति **संचयी** होती है, आविष्कारों के कारण उसमें वृद्धि होती जाती है, अभौतिक संस्कृति में भौतिक के समान **संचय एवं वृद्धि नहीं होती है।**

9. भौतिक संस्कृति का **मूल्यांकन लाभ एवं उपयोगिता के आधार पर** किया जाता है, अभौतिक संस्कृति का **मूल्यांकन** भौतिक वस्तुओं की तरह **उपयोगिता से नहीं किया जा सकता**, क्योंकि इसका सम्बन्ध मानव के आत्मिक पक्ष से है जिसे महसूस किया जा सकता है, किन्तु मापा नहीं जा सकता।

प्र.4. संस्कृति के उपादानों (अंगों) का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

संस्कृति के उपादान
(Components of Culture)

संस्कृति का निर्माण करने वाले प्रमुख अंग या उपादान निम्नांकित हैं—

1. **सांस्कृतिक तत्व**—संस्कृति की वह छोटी-से-छोटी इकाई जिसका और अधिक विभाजन नहीं किया जा सके, सांस्कृतिक तत्व कहलाता है। जिस प्रकार से पदार्थ की छोटी-से-छोटी इकाई परमाणु है, शरीर की छोटी-से-छोटी इकाई कोष तथा सामाजिक संरचना की परिवार है, उसी प्रकार से "संस्कृति की सबसे छोटी अविभाज्य इकाई संस्कृति-तत्व है। इसकी परिभाषा करते हुए **डॉ. दुबे** लिखते हैं, संस्कृति-तत्वों को हम संस्कृति के गठन की सरलतम व्यावहारिक इकाइयाँ मान सकते हैं।" **हरस्कोविट्स** इसे एक निर्दिष्ट संस्कृति में पहचानी जाने वाली सबसे छोटी इकाई (the smallest identifiable unit in a given culture) मानते हैं। **क्रोबर** भी इसे 'संस्कृति का अल्पतम परिभाषित तत्व' कहते हैं। **जेकब्स तथा स्टर्न** के अनुसार, "सांस्कृतिक तत्व तत्व की वह आविष्कृत तथा हस्तान्तरित इकाइयाँ हैं जिनको विवरण या सैद्धान्तिक अध्ययन के लिए विभिन्न भागों में विभाजित नहीं किया जा सकता।"

   सांस्कृतिक तत्व के अविभाज्य होने का यह तात्पर्य नहीं है कि उसका और विभाजन नहीं हो सकता वरन् इसका यह अर्थ है कि उसका विभाजन होने पर वह अर्थपूर्ण नहीं रह जाएगा। उदाहरण के लिए, पेन एक सांस्कृतिक तत्व है। यदि इसका और विभाजन कर इसकी निब, पोला आदि को अलग कर देते हैं तो यह विभाजन अर्थपूर्ण इकाई के रूप में नहीं होगा। अत: सांस्कृतिक तत्वों की रचना में भी जटिलता होती है और उनका निर्माण भी तत्वों से मिलकर होता है; जैसे—घड़ी का निर्माण कई पुर्जों से होता है, रेडियो और पंखे में भी कई पुर्जे होते हैं, साइकिल के भी अनेक पुर्जे हैं। अत: स्पष्ट है कि सांस्कृतिक तत्व मानव के काम आने की दृष्टि से सबसे सरल, छोटी और आगे विभाजित न होने वाली इकाई है। मानवशास्त्रियों ने तत्व के विभिन्न अंगों की व्याख्या की है। सन् 1917 में **विसलर** ने अपनी पुस्तक **'मैन एण्ड कल्चर'** में अमेरिका की इण्डियन संस्कृतियों का अध्ययन प्रस्तुत किया, उसी दौरान आपने संस्कृति की रचना का उल्लेख किया और उसके दो मुख्य अंग बताए—प्रथम संस्कृति-तत्व एवं द्वितीय संस्कृति संकुल। विसलर के बाद अनेक मानवशास्त्रियों ने 'संस्कृति के विभिन्न अंगों एवं संरचना का उल्लेख किया। सांस्कृतिक तत्व की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं—

   (i) प्रत्येक सांस्कृतिक तत्व का एक इतिहास होता है जो उसकी उत्पत्ति को प्रकट करता है। उदाहरण के लिए, हवाई जहाज का भी एक इतिहास है जो इसके निर्माण एवं विकास की कहानी बताता है।

   (ii) सांस्कृतिक तत्व, संस्कृति की तरह ही स्थिर नहीं होता है वरन् उसमें परिवर्तन एवं गतिशीलता पाई जाती है। किसी अन्य सांस्कृतिक समूह के सम्पर्क में आने पर ये तत्व बदलते रहते हैं और कभी-कभी सांस्कृतिक तत्वों में परिवर्तन संस्कृति रचना में परिवर्तन ला देता है।

   (iii) सांस्कृतिक तत्व पृथक्-पृथक् नहीं रहते वरन् अन्य तत्वों के साथ घुल-मिलकर रहते हैं। अनेक सांस्कृतिक तत्वों का अध्ययन सम्पूर्ण संस्कृति को अर्थपूर्ण बनाता है।

   गिलफोर्ड, क्रोबर, रे एवं **क्लिमेक** आदि ने सांस्कृतिक तत्वों के आधार पर ही विभिन्न संस्कृतियों का अध्ययन किया। **टायलर** एवं **बोआस** ने भी सांस्कृतिक तत्वों के आधार पर विभिन्न संस्कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन किया। किसी भी संस्कृति का अध्ययन सांस्कृतिक तत्वों के सहारे करना इतना सरल नहीं है, क्योंकि सांस्कृतिक तत्व एक-दूसरे से इतने घुले-मिले होते हैं कि उन्हें अलग करके मूल्यांकन करना एक कठिन कार्य है।

2. **संस्कृति संकुल**—जिस प्रकार कई कोषों (Cells) से मिलकर एक अंग बनता है, कई परिवारों से एक समुदाय बनता है, कई परमाणुओं से एक अणु बनता है, उसी प्रकार कई सांस्कृतिक तत्वों से मिलकर एक सांस्कृतिक-संकुल बनता है,

किन्तु ये सांस्कृतिक तत्व अव्यवस्थित रूप से सम्बद्ध न होकर अर्थपूर्ण ढंग से परस्पर बँधे होते हैं। **डॉ. दुबे** इसे परिभाषित करते हुए लिखते हैं, "संस्कृति संकुल, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, समान धर्मों अथवा पूरक संस्कृति-संकुल सांस्कृतिक तत्वों का वह समग्र समूह है जो कि इनके अर्थपूर्ण ढंग से परस्पर सम्बन्धित होने से बनता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि **जब सांस्कृतिक तत्व परस्पर अर्थपूर्ण ढंग से जुड़ जाते हैं और वे मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं तो उसे हम सांस्कृतिक-संकुल कहते हैं।**

सांस्कृतिक-तत्वों एवं संकुलों से मिलकर ही एक संस्कृति विशेष का विकास होता है। **पारसन्स** ने प्यूबलो इण्डियनों के धार्मिक अनुष्ठानों और **बेनेडिक्ट** ने उत्तरी अमेरिका में संरक्षक प्रेतात्मा (Guardian Spirit) के चारों ओर केन्द्रित अनुष्ठानों और विश्वासों के संकुलों का अध्ययन किया है।

3. **संस्कृति प्रतिमान**—गेस्टाल्ट 'मनोविज्ञान के सिद्धान्तों एवं मेलीनोवस्की के संस्कृति-सिद्धान्त से प्रभावित होकर **रूथ बेनेडिक्ट** ने अपनी पुस्तक **"पैटर्न्स ऑफ कल्चर"** में संस्कृति प्रतिमान की अवधारणा को विकसित किया। संस्कृति प्रतिमान की अवधारणा संस्कृति की मूलभूत प्रेरणाओं और आदर्शों का अध्ययन करती है जो कि संस्कृति को एक विशेष दिशा एवं स्वरूप देते हैं। **रूथ बेनेडिक्ट** ने संस्कृति-प्रतिमान की अवधारणा का उल्लेख तीन संस्कृतियों-प्यूबलो, डोबू एवं क्वाकिउट्ल-के अध्ययन के दौरान किया है। एक संस्कृति प्रतिमान में संस्कृति तत्व एवं संकुल एक विशेष प्रकार से व्यवस्थित होते हैं। जिस प्रकार से घड़ी, रेडियो, मकान आदि की विभिन्न इकाइयाँ एक निश्चित तरीके से सुसज्जित हैं, उनमें एक क्रम एवं व्यवस्था है, उसी प्रकार से संस्कृति-संकुल जब एक विशिष्ट ढंग से व्यवस्थित हो जाते हैं तो वे संस्कृति-प्रतिमान का निर्माण करते हैं। कई संस्कृति-प्रतिमानों के व्यवस्थित संगठन से एक सम्पूर्ण संस्कृति निर्मित होती है। **हरस्कोविट्स** के अनुसार, "संस्कृति-प्रतिमान एक संस्कृति के तत्वों का वह डिजाइन है जो कि उस समाज के सदस्यों के व्यक्तिगत व्यवहार प्रतिमान के माध्यम से व्यक्त होता हुआ जीवन के इस तरीके को सम्बद्धता, निरन्तरता एवं विशिष्टता प्रदान करता है।" बेनेडिक्ट प्रतिमानों को 'आदर्श' या प्रेरक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करती हैं, जो मानव व्यवहार को निर्धारित करते हैं। प्रत्येक संस्कृति में हमें कुछ मूलभूत प्रेरणाएँ, आदर्श या सिद्धान्त देखने को मिलेंगे जो दूसरी संस्कृतियों से भिन्न होंगे। इन आदर्शों या सिद्धान्तों को सभी लोग स्वीकार करते हैं एवं उन्हें सीखते हैं, जिससे लोगों के व्यवहारों में एकरूपता उत्पन्न होती है।

4. **संस्कृति क्षेत्र**—किसी भी संस्कृति के अध्ययन में उसके भौगोलिक पक्ष की अवहेलना नहीं की जा सकती। प्रत्येक संस्कृति एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र तक ही विस्तृत होती है। यदि हम एशिया या यूरोप महाद्वीप की यात्रा करें तो हमें अनेक प्रकार की संस्कृतियों के क्षेत्र देखने को मिलेंगे। यदि हम इन संस्कृतियों की तुलना करें तो पाएँगे कि इन संस्कृतियों में जो भौगोलिक दृष्टि से निकट हैं, दूर की संस्कृतियों की तुलना में अधिक समानता है। इससे स्पष्ट है कि सांस्कृतिक तत्वों, संकुलों एवं प्रतिमानों का प्रसार एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र तक होता है जिसे हम सांस्कृतिक क्षेत्र कहते हैं। **सांस्कृतिक क्षेत्र की अवधारणा का प्रयोग सर्वप्रथम विसलर ने अमरीकी इण्डियन संस्कृतियों के अध्ययन के दौरान किया था।** हरस्कोविट्स, क्रोबर, सापिर आदि ने भी सांस्कृतिक क्षेत्र की अवधारणा का प्रयोग संस्कृतियों के अध्ययन में किया और विभिन्न महाद्वीपों को सांस्कृतिक क्षेत्रों में विभाजित किया। सांस्कृतिक क्षेत्र को परिभाषित करते हुए **डॉ. दुबे** लिखते हैं, "कतिपय संस्कृति तत्व या सांस्कृतिक-संकुल एक विशेष भौगोलिक क्षेत्र में फैलकर संस्कृति-क्षेत्र का निर्माण करते है।" **हरस्कोविट्स** के अनुसार, "वह क्षेत्र जिसमें समान संस्कृतियाँ पाए जाती हैं, एक संस्कृति क्षेत्र कहलाता है।" **हॉबल** के शब्दों में, " एक संस्कृति क्षेत्र भौगोलिक क्षेत्र के उस भाग के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिससे संस्कृति इतनी मात्रा में समानता प्रकट करती है कि उसे उन संस्कृतियों से पृथक कर देती है जो क्षेत्र के बाहर हैं।"

विसलर एवं क्रोबर ने अमरीका के आदिवासी क्षेत्रों को पन्द्रह स्वतन्त्र सांस्कृतिक क्षेत्रों में विभाजित किया। ऐसा ही प्रयास अफ्रीका के लिए **हरस्कोविट्स** ने किया और उसे नौ सांस्कृतिक क्षेत्रों में विभाजित किया। **विसलर** का कहना है कि यदि हम नयी दुनिया के आदिवासियों को उनके सांस्कृतिक तत्वों के आधार पर विभाजित करें तो हमें खाद्य क्षेत्र, वस्त्र और धर्म क्षेत्र देखने को मिलेंगे। चूँकि संस्कृति सीखी जाती है, अत: कोई भी व्यक्ति किसी भी संस्कृति को सीख सकता है।

संस्कृति क्षेत्र की अवधारणा सांस्कृतिक समानताओं के भौगोलिक क्षेत्र को प्रकट करती है, जिसके आधार पर विभिन्न संस्कृतियों की तुलना की जा सकती है। **हरस्कोविट्स** लिखते हैं, "संस्कृति क्षेत्र महत्त्वपूर्ण है। चूँकि यह, यह दिखाता है कि किस प्रकार से आन्तरिक संगठन की भाँति भूमि के विस्तार में भी मानव सभ्यता की एकताएँ कायम रहती हैं।" संस्कृति-क्षेत्र की अवधारणा से उन केन्द्रों को ज्ञात करना सरल हो जाता है जहाँ संस्कृति-तत्व एवं संस्कृति-संकुल अपने शुद्ध रूप में पाए जाते हैं। वर्तमान में संस्कृति क्षेत्र की सीमा निर्धारण का कार्य कठिन होता जा रहा है, क्योंकि यातायात एवं संचार के साधनों ने इसकी सीमा तोड़ दी है। आज सम्पूर्ण विश्व में अनेक समान संस्कृति तत्व पनप रहे हैं। यहाँ यह ध्यान रखना जरूरी है कि संस्कृति-क्षेत्र की अवधारणा संस्कृतियों के अध्ययन के लिए उपयोगी यन्त्र है, एक युक्ति है जो विद्यार्थियों को एक संस्कृति विशेष का विस्तार ज्ञात करने एवं उससे सम्बन्धित आँकड़ों के संकलन में योग देती है।

प्र.5. सभ्यता से क्या तात्पर्य है? इसका अर्थ, परिभाषा तथा विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर

सभ्यता का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Civilization)

अंग्रेजी भाषा के 'Civilized' शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के 'Civitas' और 'Civis' से हुई है, जिसका अर्थ 'नगर' या 'नगर निवासी' है जो एक स्थान पर स्थायी रूप से रहते तथा शिक्षित हैं और जिनका व्यवहार जटिल है। **फिचर** कहते हैं, एक सभ्य समाज के लोग घुमन्तू जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा बड़ी संख्या में स्थायी निवासी बनाकर रहते हैं। उनकी लिखित भाषा होती है, उनमें कार्य विभाजन एवं विशेषीकरण पाया जाता है, उनका व्यवहार औपचारिक रूप से आदिम समाजों की अपेक्षा संस्थाकृत एवं जटिल होता है।

फेयरचाइल्ड भी मॉगर्न की तरह उच्च एवं विकसित संस्कृति को ही सभ्यता कहते हैं। वे कहते हैं कि "हम असभ्य व्यक्तियों के सन्दर्भ में ही सभ्य व्यक्तियों की चर्चा कर सकते हैं। उच्च सभ्यता का निर्णय बौद्धिक, ललित कला, प्रौद्योगिकी और आध्यात्मिक उपलब्धियों के आधार पर ही किया जा सकता है।"

टायलर का मत है, "सभ्यता मानव जाति की वह विकसित अवस्था है जिसमें उच्च श्रेणी के वैयक्तिक एवं सामाजिक संगठन पाए जाते हैं जिसका उद्देश्य मानव के गुणों, शक्ति और प्रसन्नता में वृद्धि करना है।"

बूम एवं **सेल्जनिक** का मत है कि "एक सभ्य समाज वह है जिसमें उच्च प्रौद्योगिकी, श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण पाया जाता है। यह एक 'अच्छा' समाज भी हो सकता है और नहीं भी, इनकी संस्कृति सरल प्रौद्योगिकी वाले समाज से उच्च श्रेणी की हो भी सकती है और नहीं भी।"

मैकाइवर एवं **पेज** 'सभ्यता में उन भौतिक तत्वों को गिनते हैं जो हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं और जो हमारे उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए साधन के रूप में प्रयुक्त होते हैं।" टाइपराइटर, टेलीफोन, प्रेस, फैक्ट्री, बैंक, डाक-तार, यातायात के साधन, अस्त्र-शस्त्र, आदि सभी का उपयोग हम मानवीय आवश्यकताओं एवं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए करते हैं और ये हमें आनन्द एवं सन्तुष्टि प्रदान करते हैं। वे सभी सभ्यता की श्रेणी में आते हैं। वे लिखते हैं, "सभ्यता से हमारा अर्थ उस सम्पूर्ण यन्त्र पद्धति और संगठन से है जिसको मनुष्य ने अपने जीवन की दशाओं को नियन्त्रित करने के लिए निर्मित किया है।"

गिलिन और **गिलिन** ने संस्कृति के अधिक जटिल और विकसित रूप को ही सभ्यता कहा है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर सभ्यता की निम्नांकित विशेषताएँ प्रकट होती हैं–

1. सभ्यता में हम मानव द्वारा निर्मित भौतिक वस्तुओं को सम्मिलित करते हैं।
2. सभ्यता मूर्त होती है।
3. सभ्यता मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन है। यह मानव को आनन्द और सन्तुष्टि प्रदान करती है।
4. सभ्यता संस्कृति के विकास के उच्च स्तर को व्यक्त करती है।
5. सभ्यता **प्रगतिशील** है और सदैव आगे की ओर बढ़ती रहती है।
6. सभ्यता में **परिवर्तन** शीघ्र होते हैं।
7. सभ्यता का **हस्तान्तरण एवं प्रसार सरलता** से किया जा सकता है।

प्र.6. सभ्यता और संस्कृति में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

सभ्यता और संस्कृति में अन्तर
(Distinction Between Civilization and Culture)

सभ्यता एवं संस्कृति परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। अत: कई बार दोनों का प्रयोग समान अर्थों में किया जाता है, किन्तु इन दोनों में प्रर्याप्त अन्तर है। **मैकाइवर** एवं **पेज** ने इन दोनों में पाए जाने वाले भेद को, इस प्रकार प्रकट किया है—

1. **सभ्यता की माप सरल है, परन्तु संस्कृति की नहीं**—सभ्यता को मापना सरल है क्योंकि इसका सम्बन्ध भौतिक वस्तुओं की उपयोगिता से है। सभ्यता को वस्तुओं के गुणों एवं कुशलता के आधार पर मापा जा सकता है। सभ्यता साधन है जिसके द्वारा हम अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। अत: वस्तु की उपयोगिता एवं गुणों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि कौन-सी वस्तु किसकी तुलना में अधिक उपयोगी है। उदाहरणार्थ, बैलगाड़ी की तुलना में रेल और कुएँ से पानी खींचने के चरस की अपेक्षा पम्पिंग सेट अधिक उपयोगी है। वस्तुओं के गुणों एवं उपयोगिता का मूल्यांकन हम इस आधार पर करते हैं कि वे हमारे उद्देश्यों की पूर्ति में कहाँ तक सहायक हैं। इसके विपरीत, संस्कृति की माप सम्भव नहीं है। मूल्यों में भिन्नता के कारण कोई ऐसा सर्वमान्य पैमाना नहीं है जिसके आधार पर किसी संस्कृति को मापा जा सके और एक की तुलना में दूसरी को अच्छी या बुरी कहा जा सके।
2. **सभ्यता सदैव आगे बढ़ती है, किन्तु संस्कृति नहीं**—सभ्यता उन्नतिशील है और वह एक दिशा में उस समय तक निरन्तर प्रगति करती है जब तक कि उसके मार्ग में कोई बाधाएँ न आएँ। सभ्यता की प्रत्येक उपलब्धि का पूरा-पूरा लाभ उठाने एवं उसमें सुधार करने का कार्य तब तक जारी रहता है जब तक कि उससे श्रेष्ठ कोई नया आविष्कार न हो जाए। प्रारम्भ में सभ्यता इतनी समृद्ध नहीं थी, आविष्कारों एवं खोजों के कारण उसमें कई नवीन तत्व जुड़ते गए और आज वह पहले की अपेक्षा कई गुना समृद्ध है। बैलगाड़ी से प्रारम्भ होकर आज हमने रेल, वायुयान एवं रॉकेट तक का निर्माण किया है, किन्तु संस्कृति के बारे में यह बात नहीं कही जा सकती। हम यह कह सकते हैं कि शेक्सपियर के नाटक आज के नाटकों से अच्छे या बुरे थे। वैदिककालीन साहित्य, मनोरंजन, नैतिक आदर्श, प्रथाएँ, धर्म, कला, चित्रकारी आदि को आज के युग से कम या अधिक श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता क्योंकि संस्कृति की प्रगति की कोई दिशा निर्धारित नहीं है।
3. **सभ्यता बिना प्रयत्न के आगे बढ़ती है, परन्तु संस्कृति नहीं**—सभ्यता का हस्तान्तरण संस्कृति की अपेक्षा सरल है। संस्कृति का संचार समान मस्तिष्क वालों में ही हो सकता है। कोई भी व्यक्ति जिसे कला का बिल्कुल ज्ञान नहीं है, कला की प्रशंसा नहीं कर सकता, जो संगीत में रुचि नहीं रखता वह संगीत की प्रशंसा नहीं कर सकता, लेकिन सभ्यता के लिए यह आवश्यक नहीं है। हमने किसी वस्तु के निर्माण और आविष्कार में कोई भी सहयोग नहीं दिया हो, फिर भी हम उसका उपयोग कर सकते हैं, लाभ उठा सकते हैं। यही कारण है कि सभ्यता का प्रसार एवं हस्तान्तरण सरलता से हो जाता है। सभ्यता संस्कृति की वाहक है। संस्कृति मानव आत्मा की अभिव्यक्ति है, इसकी प्रगति तभी सम्भव है जब हमारी आत्मा उत्कृष्ट प्रयत्न करे और जो कुछ श्रेष्ठ है, उसे अभिव्यक्त करे।
4. **सभ्यता को बिना किसी प्रयत्न एवं हानि के ग्रहण किया जा सकता है, किन्तु संस्कृति को नहीं**—एक समाज से दूसरे समजा में सभ्यता का हस्तान्तरण बिना किसी परिवर्तन के किया जा सकता है किन्तु संस्कृति का नहीं। उदाहरण के लिए, रेल, वायुयान, टाइपराइटर, उत्पादन की मशीनें, सिलाई मशीन, मोटर, स्कूटर आदि का एक समाज से दूसरे समाज में वैसा-का-वैसा हस्तान्तरण हो सकता है, किन्तु एक समाज के रीति-रिवाजों, धर्म, दर्शन, मूल्यों, कला, विचारों एवं विश्वासों को बिल्कुल उसी रूप में हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता। उनमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन अवश्य आ जाता है, कुछ नए तत्व जुड़ जाते हैं तो कुछ पुराने तत्व छूट जाते हैं।
5. **सभ्यता साधन है जबकि संस्कृति साध्य है**—संस्कृति से मानव को सन्तुष्टि एवं आनन्द का अनुभव होता है। संस्कृति को प्राप्त करना अपने आप में एक उद्देश्य, एक साध्य है। इस संस्कृति रूपी साध्य को प्राप्त करने के लिए सभ्यता का साधन के रूप में प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ, धर्म, कला एवं संगीत आदि हमें मानसिक शान्ति एवं आनन्द प्रदान करते हैं, इन्हें प्राप्त करने के लिए हम कई पवित्र भौतिक वस्तुओं, कलाकारी के उपकरणों एवं यन्त्रों का प्रयोग करते हैं जो कि सभ्यता के अंग हैं।
6. **सभ्यता बाह्य है जबकि संस्कृति आन्तरिक**—सभ्यता का सम्बन्ध जीवन की भौतिक वस्तुओं से है जिनका अस्तित्व मूर्त रूप में मानव अस्तित्व के बाहर है। उदाहरणार्थ, पेन, घड़ी, रेडियो, रेल, वायुयान, पंखा ये सभी सभ्यता के अंग हैं जो

मानव के बाह्य जीवन और व्यवहार से सम्बन्धित हैं। संस्कृति का सम्बन्ध मानव के आन्तरिक गुणों से है, उसके विचारों, विश्वासों, मूल्यों, भावनाओं एवं आदर्शों से है।

7. **सभ्यता में परिवर्तन व सुधार संस्कृति की अपेक्षा सरल है**—सभ्यता का सम्बन्ध भौतिक वस्तुओं से है जिसमें नवीन आविष्कारों एवं खोजों के कारण परिवर्तन एवं सुधार सरल है, जैसे हमने हल के स्थान पर ट्रैक्टर का, बैलगाड़ी के स्थान पर रेल, वायुयान एवं रॉकेट का आविष्कार किया। किन्तु संस्कृति का सम्बन्ध व्यक्ति के विचारों, आन्तरिक गुणों एवं मनोभावों से है, अत: कठिन परिश्रम के बिना संस्कृति में परिवर्तन एवं सुधार सम्भव नहीं है।
8. सभ्यता मूर्त है जबकि संस्कृति अमूर्त है।
9. सभ्यता शारीरिक सुख प्रदान करती है जबकि संस्कृति का सम्बन्ध मानव के मानसिक एवं आध्यात्मिक सुख से है।
10. सभ्यता में रैखिक परिवर्तन होता है जबकि संस्कृति में चक्रीय।
11. सभ्यता के प्रति कोई मानसिक लगाव नहीं होता जबकि एक व्यक्ति संस्कृति के प्रति मानसिक लगाव रखता है और उसका आदर करता है।
12. सभ्यता का मूल्यांकन करना सरल है, किन्तु संस्कृति का नहीं।
13. सभ्यता में गहराई का अभाव होता है, उसका ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति प्राप्त कर सकता है, किन्तु संस्कृति का नहीं।
14. संस्कृति का प्रसार केवल एक ही दिशा में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को होता है जबकि सभ्यता का प्रसार चारों ओर होता है।

प्र.7. संस्कृति का समाज अथवा मानव जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

संस्कृति का समाज/मानव जीवन पर प्रभाव
(Effect of Culture on Society/Human Life)

1. **संस्कृति मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करती है**—संस्कृति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि यह मानव की विभिन्न शारीरिक, सामाजिक एवं मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। मानव की आवश्यकता पूर्ति के लिए ही समय-समय पर अनेक आविष्कार होते रहे और वे संस्कृति के अंग बनते गए।
2. **संस्कृति व्यक्तित्व निर्माण में मौलिक है**—प्रत्येक मनुष्य किसी-न-किसी संस्कृति में जन्म लेता है। उसका पालन-पोषण किसी सांस्कृतिक पर्यावरण में ही होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी संस्कृति को ग्रहण करता है और अपने व्यक्तित्व में उसको आत्मसात कर लेता है, इसीलिए ही कहा जाता है कि व्यक्ति संस्कृति का आत्म-वैषयिक (Subjective) पक्ष है। व्यक्तियों में भिन्नता सांस्कृतिक भिन्नता के कारण ही होती है।
3. **संस्कृति मानव को मूल्य एवं आदर्श प्रदान करती है**—प्रत्येक व्यक्ति अपनी संस्कृति के आदर्शों एवं मूल्यों के अनुरूप ही समाज में व्यवहार करता है। आदर्शों एवं मूल्यों की अवहेलना करने पर व्यक्ति को सामाजिक तिरस्कार का सामना करना पड़ता है।
4. **संस्कृति मानव की आदतों का निर्धारण करती है**—चूँकि प्रत्येक मनुष्य किसी-न-किसी पूर्व-प्रचलित संस्कृति में ही जन्म लेता है, अत: संस्कृति ही व्यक्ति के खान-पान और वेशभूषा से सम्बन्धित तथा आदतों का निधारण करती है।
5. **संस्कृति नैतिकता का निर्धारण करती है**—समाज में उचित एवं अनुचित का निर्धारण संस्कृति के प्रतिमानों के आधार पर ही होता है। संस्कृति ही व्यक्ति में नैतिकता एवं उचित और अनुचित के भाव उत्पन्न करती है।
6. **संस्कृति व्यवहारों में एकरूपता लाती है**—एक संस्कृति से सम्बन्धित सभी व्यक्तियों के व्यवहारों, रीति-रिवाजों प्रथाओं, लोकाचारों, मूल्यों, आदर्शों एवं नैतिकता में समानता पाई जाती है। सभी व्यक्ति उनको समान रूप से मानते हैं और उनके अनुरूप आचरण करते हैं, इससे समाज में समानता एवं एकरूपता पैदा होती है।
7. **संस्कृति अनुभव एवं कार्यकुशलता को बढ़ाती है**—संस्कृति का पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरण होता है। अत: नई पीढ़ी को पुरानी पीढ़ी का अनुभव एवं कौशल प्राप्त होता है।
8. **संस्कृति व्यक्ति को सुरक्षा प्रदान करती है**—संस्कृति में मानव व्यवहार से सम्बन्धित सभी पक्ष पूर्व-निर्धारित होते हैं जिनके पीछे पूर्वजों का अनुभव होता है। अत: उसे हर बार अपने आचरणों को तय करने के बारे में सोचना नहीं पड़ता वरन् वह स्वत: ही समाज सम्मत आचरणों को सीखता जाता है और उनके अनुसार व्यवहार करता रहता है। इससे व्यक्ति को मानसिक एवं सामाजिक सुरक्षा महसूस होती है।

9. **संस्कृति समस्याओं का समाधान करती है**—जब भी व्यक्ति के सम्मुख कोई समस्या या संकट आता है तो वह उसका हल अपनी संस्कृति से प्राप्त अनुभवों, ज्ञान एवं नियमों के अनुसार ढूँढ़ता है।
10. **संस्कृति मानव को पशु से मानव बनाती है**—मानव जन्म से ही एक जैविकीय इकाई होता है। समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा वह अपनी संस्कृति को सीखता है। संस्कृति को आत्मसात करना ही समाजीकरण है। इस प्रकार संस्कृति मानव को पशु-स्तर से उठाकर मानव की संज्ञा प्रदान करती है।
11. **संस्कृति सामाजिक नियन्त्रण में सहायक होती है**—प्रत्येक संस्कृति में प्रथाएँ, रीति-रिवाज, लोकाचार, परम्पराएँ आदि होते हैं। ये ही व्यक्ति के आचरण एवं व्यवहार को तय करते हैं तथा व्यक्ति पर नियन्त्रण बनाए रखते हैं। वैयक्तिक नियन्त्रण से ही सामाजिक नियन्त्रण बना रहता है।

प्र.8. बहुलवाद से आप क्या समझते हैं? इसका अर्थ, परिभाषा एवं विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर

बहुलवाद का अर्थ एवं परिभाषाएँ
(Meaning and Definitions of Pluralism)

बहुलवाद को विचारधारा के रूप में स्थापित करने का श्रेय जर्मन समाजशास्त्री **गीयर्क** तथा ब्रिटिश विद्वान **मेटलैंड** को है। बहुलवाद सामाजिक विविधता की व्याख्या है। इसे **सांस्कृतिक, राजनीतिक या दार्शनिक व्यवहार** के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इनमें से किसी भी संस्करण में, बहुलवाद सामाजिक अन्त:क्रिया का एक लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है जिसे परस्पर विरोधी और प्रतिस्पर्धी स्थितियों के परस्पर क्रिया के रूप में समझा जाता है जिसे एक-दूसरे के लिए मूल रूप से कम नहीं किया जा सकता है। बहुलवादी दृष्टिकोण से सामाजिक विविधता समाप्त नहीं होती है। फिर भी इनमें से प्रत्येक प्रकार का बहुलवाद विभिन्न प्रकार के संघर्षों के इर्द-गिर्द घूमता है—जिसमें नैतिक मूल्य, सामाजिक या सांस्कृतिक प्रथाएँ आदि शामिल हैं।

प्राय: किसी भी देश की व्यवस्थाओं; जैसे—सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक व्यव्था के अन्तर्गत अनेक उपव्यवस्थाएँ एक साथ विद्यमान रहती हैं जो समग्र रूप से बहुलवाद कहलाती हैं। भारत में अनेक सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक समूह विभिन्नताओं के पश्चात् भी एक साथ इस देश में निवास करते हैं तथा देश के उत्तरोत्तर विकास में सहयोग प्रदान करते हैं, बहुलवाद आधारभूत रूप से इसी मान्यता पर आधारित है। बहुलवाद से तात्पर्य एक ऐसी स्थिति से है जिसमें विभिन्न धर्म, भाषा, जाति, क्षेत्र या विश्वासों से सम्बन्धित समूहों में किसी को अविश्वास की दृष्टि से नहीं देखा जाता बल्कि उन्हें राष्ट्रीय मामलों में भागीदारी करने के पूर्ण अवसर प्रदान किए जाते हैं।

प्रो. एस. सी. दुबे के अनुसार, "आधुनिकीकरण के कारण भारत की वर्तमान सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था केवल समाज के सम्भ्रान्त् वर्ग से प्रभावित नहीं हैं, बल्कि सभी क्षेत्रों में मध्यम वर्ग और विभिन्न जाति-समूहों का प्रभाव बढ़ता जा रहा है।" संचार के क्षेत्र में होने वाली क्रान्तियों ने सामाजिक गतिशीलता को बढ़ावा दिया है जिससे बहुलवाद को प्रोत्साहन मिला है।

हरलम्बोस (Haralambos) के अनुसार, "बहुलवाद एक ऐसी अवधारणा है जिसके द्वारा लोकतान्त्रिक समाजों में शक्ति के वितरण की प्रकृति को समझा जाता है।" इसके अतिरिक्त इनका मानना है कि समस्त व्यावसायिक समूहों की आवश्यकताएँ एवं हित अलग-अलग होने के कारण ऐसे संगठनों का निर्माण होने लगा जो अपनी शक्ति की वृद्धि करके स्वहितों को पूर्ण कर सकें। इससे सांस्कृतिक विशेषताओं वाले समूहों को विकास के स्वतन्त्र आयाम प्राप्त हो गए।

एम.एन. श्रीनिवास ने बहुलवाद के विषय में मत दिया है कि भारत में स्वतन्त्रता से पहले तक पवित्रता एवं अपवित्रता के आधार पर विभिन्न जातियों एवं उप-जातियों की दूरी निरन्तर बढ़ रही थी, वही आज ऐसी संस्कृति को प्रोत्साहन मिला है जिसमें विभिन्न जातियाँ संगठित होकर अपने बड़े-बड़े संघों की स्थापना कर रही हैं जिससे उनकी आर्थिक एवं राजनीतिक पहचान स्पष्ट होने लगी है। भारत में बहुलवाद निम्नलिखित रूप में स्पष्ट होता है—

1. **सांस्कृतिक अभिसरण**—हमारे देश में बहुलवाद विशेष रूप से सांस्कृतिक अभिसरण (Cultural Convergence) में देखने को मिलता है। विभिन्न संस्कृतियों वाले समूहों की सांस्कृतिक विशेषताओं, विचारों, व्यवहार के तरीकों एवं भौतिक लक्षणों का एक सामान्य बिन्दु पर मिलना ही अभिसरण कहलाता है।
2. **सांस्कृतिक समूहों की अपनी पहचान**—अभिसरण के माध्यम से किसी समूह की स्वयं की पहचान समाप्त न होकर एक ऐसा परिवर्तन जिसमें धार्मिक, क्षेत्रीय, भाषाई एवं जातिगत समूह अपनी आधारभूत एवं मौलिक विशेषताएँ बनाए रखते हैं। भारत में प्राचीन काल से ही अनेक धर्मों, जातियों के लोग निवास करते हैं तथा सभी अपने धार्मिक विश्वासों को बनाए हुए हैं।

बहुलवाद की विशेषताएँ
(Characteristics of Pluralism)

बहुलवाद की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. बहुलवाद विभिन्न समूहों में आपसी सौहार्द को बढ़ाता है।
2. यह पारस्परिक सहयोग पर आधारित है।
3. विभिन्न समूहों के मध्य सहिष्णुता को बढ़ाता है।
4. बहुलवाद में प्रत्येक समूह की अपनी विशिष्ट पहचान विद्यमान रहती है।
5. इससे प्रत्येक समूह आपसी मतभेद भुलाकर अपनी आवश्यकताओं को एक-दूसरे के सहयोग से पूरा करते हैं।
6. बहुलवाद देश की विविधता में अपना योगदान देता है।

प्र.9. सांस्कृतिक बहुलवाद के सन्दर्भ में भारतीय समाज का वर्णन कीजिए।

उत्तर

सांस्कृतिक बहुलवाद के सन्दर्भ में भारतीय समाज
(Indian Society in the Context of Cultural Pluralism)

भारत विभिन्नताओं का देश है तथा इसके प्रत्येक भाग में विविधता का समावेश है। विविधता से तात्पर्य प्राय: भौगोलिक, शारीरिक, सांस्कृतिक धार्मिक आदि में असमानता से है। इस असमानता के द्वारा ही उपरोक्त सभी तथ्यों में भिन्नता परिलक्षित होती है। ये भिन्नताएँ भारतीय समाज के मौलिक आधारों और उनमें होने वाले परिवर्तनों को समझने में सहायक हैं। भारत में प्रजाति, जाति, जनजाति, धर्म, भाषा, जलवायु, भौगोलिक परिस्थितियाँ, खान-पान और वेश-भूषा आदि के आधार पर पर विविधता देखने को मिलती है। यहाँ अनेक संस्कृतियों के सह-अस्तित्व पाया जाता है।

हमारे देश में कुछ बाहरी संस्कृतियों का भी समावेश होने के कारण हमारे देश में विभिन्न धर्मों, भाषाओं, प्रथाओं, रीति-रिवाज, वेश-भूषा, विचारों की विविधता तथा समाज में उच्च एवं निम्न वर्गों के आधार पर दृष्टिगोचर होती है। वर्तमान में विभिन्न ऐसे समूह बन गए हैं। जो प्राय: समाज में अलग अस्तित्व की माँग करते रहते हैं। इस विविधता के परिणामस्वरूप बहुलतावादी समूहों का जन्म होता है जिनके कारण कभी-कभी जातीय एवं साम्प्रदायिक दंगे होने लगते हैं। अत: हमारे देश में विविधता का स्वरूप अत्यन्त विस्तृत है। जो देश के प्रत्येक प्रान्त, क्षेत्र, भाषा, संस्कृति के आधार पर विभिन्न स्तरों में बाँटती है।

भारत में विभिन्न आधार पर विविधता निम्नलिखित रूप में स्पष्ट होती है—

1. भाषा स्तर पर विविधता
2. क्षेत्रीय स्तर पर विविधता
3. सांस्कृतिक स्तर पर विविधता
4. जाति एवं जनजाति स्तर पर विविधता
5. वैयक्तिक स्तर पर विविधता
6. धार्मिक स्तर पर विभिन्नता

भाषा स्तर पर विविधता (Diversity at Linguistic Level)

भाषा एवं मनुष्य का अत्यन्त गहरा सम्बन्ध है। मनुष्य अपने विचारों का प्रकटीकरण भाषा के माध्यम से ही करता है तथा भाषा द्वारा ही मानव समूह परस्पर अन्त: क्रिया करते हैं। भाषा ही एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा संस्कृति से सम्बन्धित विभिन्न तत्त्व लिखित रूप में संचित एवं पीढ़ी-दर-पीढ़ी स्थानान्तरित होते हैं। वास्तव में भाषा हमारे सामुदायिक जीवन का आधार है। भारत एक बहुभाषीय राष्ट्र है। भाषा पर किए गए सर्वेक्षणों से ज्ञात हुआ है कि भारत में लगभग 179 भाषाएँ तथा 544 बोलियाँ (Dilects) प्रचलित हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि भारत में 1650 भाषाएँ एवं बोलियाँ पाई जाती हैं। प्रत्येक भौगोलिक क्षेत्र या उपक्षेत्र स्तर पर भाषाओं की विविधता परिलक्षित होती है।

इन भाषाओं को तीन भाषाई परिवारों में विभक्त किया गया है—

1. **इण्डो-आर्यन भाषा परिवार**—भारत में आर्य भाषा 78.8 प्रतिशत लोगों द्वारा बोली जाती है। इसमें पंजाबी, सिन्धी, हिन्दी, बिहारी, बांग्ला, असमिया, राजस्थानी, गुजराती, मराठी, उड़िया, कश्मीरी आदि भाषाएँ सम्मिलित हैं।
2. **द्रविड़ भाषा परिवार**—भारत में 20.6 प्रतिशत लोग द्रविड़ भाषा बोलते हैं। इसमें तेलगु, कन्नड़, तमिल, मलयालम, कोडग, गोंडी आदि भाषाएँ आती हैं।

3. **आस्ट्रिक भाषा परिवार**—इसमें मुंडार, बौन्दो, जुआंग, भूमिय, सन्थाली, खासी इत्यादि भाषाएँ आती हैं।

भाषायी विविधता की अधिकता के कारण भाषाओं का वर्गीकरण भी निश्चित नहीं रह पाता है। मंगोल जाति के लोग तिब्बती-चीनी परिवार की भाषाएँ बोलते हैं। इस भाषा पर आर्य भाषाओं का प्रभाव भी देखने को मिलता है। तमिल, तेलुगु, कन्नड़ एवं मलयालम द्रविड़ परिवार की मुख्य भाषाएँ हैं जो तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक एवं केरल में बोली जाती हैं।

उदाहरणार्थ—बलूचिस्तान की ब्रहुई भाषा द्रविड़ समूह की भाषा मानी जाती है जबकि झारखण्ड के प्रमुख आदिवासियों द्वारा बोली जाने वाली ओरांव भाषा द्रविड़ों से मिलती-जुलती है।

क्षेत्रीय स्तर पर विविधता
(Diversity at Regional Level)

भारत देश एक विशाल देश है जो विभिन्न भागों में विभाजित है। यहाँ प्रत्येक क्षेत्र में समान सामाजिक व्यवस्था सम्भव नहीं हो पाती एवं क्षेत्रीय भिन्नताएँ इतनी अधिक हैं कि कहीं-कहीं तो आज भी अभावमय जीवन तो कहीं विलासितापूर्ण जीवन। कहीं लोग पशुपालन करते हैं तो कहीं उद्योग-धन्धों की सहायता से आजीविका कमा रहे हैं। क्षेत्रीय स्तर पर किसी भी क्षेत्र की उसकी भाषा संस्कृति, रीति-रिवाजों आदि में विविधता पाई जाती है।

ये विविधताएँ उस क्षेत्र में विभिन्न समस्याओं को जन्म देती हैं। इस असमानता के भी कुछ स्तर प्राकृतिक अर्थात् स्वाभाविक हैं जबकि कुछ सामाजिक अर्थात् मानव निर्मित हैं। इन दोनों प्रकार की असमानताओं से सम्पूर्ण राष्ट्र के विकास में बाधा उत्पन्न हो जाती है।

अत: इन स्तरों के बारे में जानकारी आवश्यक है—

1. **सांस्कृतिक परम्पराएँ**—किसी भी क्षेत्र की सांस्कृतिक परम्पराएँ यदि अपने मूल रूप में स्वस्थ एवं स्वच्छ होती हैं तो वे सामाजिक विकास में बाधा उत्पन्न नहीं करती हैं किन्तु जब इन्हीं सांस्कृतिक संस्कृतियों में कट्टरता एवं संकीर्णता परिलक्षित होने लगती है तो वे सामाजिक विकास में बाधक बन जाती हैं।
2. **प्रशासनिक कारण**—चूँकि कोई भी प्रशासन अलग-अलग राजकीय एवं राष्ट्रीय योजनाओं में धनराशि का वितरण समान एवं समुचित रूप से नहीं करता है, इसी कारण क्षेत्रीय विषमता उत्पन्न हो जाती है।
3. **प्राकृतिक एवं आर्थिक संसाधनों में अन्तर**—प्राकृतिक एवं आर्थिक संसाधनों में अन्तर क्षेत्रीय असमानता को बढ़ावा देता है। यदि किसी क्षेत्र विशेष में प्राकृतिक एवं आर्थिक संसाधनों की कमी है तो वहाँ के व्यक्ति क्षेत्रीय दृष्टि से अधिक पिछड़े हुए होते हैं जबकि आर्थिक संसाधनों से परिपूर्ण क्षेत्रों में रहने वाले लोगों की आर्थिक स्थिति अधिक सुदृढ़ होती है। अत: प्राकृतिक एवं आर्थिक संसाधन भी क्षेत्रीय असमानता के लिए उत्तरदायी हैं।
4. **भाषा की समस्या**—भाषा की समस्या असमानता का एक प्रमुख कारण है क्योंकि भारत में भाषा के आधार पर प्रान्तों की स्थापना की जाती है तथा भाषा के ही आधार पर प्रान्तों का विभाजन किया जाता है।
5. **निवेश की मात्रा में पर्याप्त अन्तर**—अधिक विकसित क्षेत्रों में अधिक निवेश तथा कम विकसित देशों में कम निवेश क्षेत्रीय विषमता का कारण है क्योंकि किसी क्षेत्र विशेष में जिस अनुपात में पूँजी का निवेश होगा उस क्षेत्र में उसी अनुपात में विकास एवं समृद्धि हो सकती है।

सांस्कृतिक स्तर पर विविधता
(Diversity at Cultural Level)

सांस्कृतिक विविधता अलग-अलग संस्कृतियों की गुणवत्ता है जो अपने में भाषा, धर्म, जाति, यौन अभिविन्यास, लिंग, आयु और जातियता को समेटे हुए हैं। यह विविधता विभिन्न स्थानों और प्रवृत्तियों के कारण होती है। भारत में प्रथाओं, वेश-भूषा, खान-पान, रहन-सहन, कला आदि की विविधता पाई जाती है। सदियों से दुनिया के हर कोने में मानव बसे हुए हैं। लोग समूहों में एक साथ काम करते हैं और एक विशेष संस्कृति का विकास करते हैं। प्रत्येक संस्कृति में व्यक्तिगत सम्पर्क, बातचीत की भाषा सामाजिक सम्बन्धों की समझ के लिए बुनियादी मानक होते हैं।

भारत में इस प्रकार की विविधता बहुत सशक्त है। इसके प्रत्येक राज्य में बोलने, सम्पर्क करने का तरीका भिन्न होता हैं। यदि हम इसकी तुलना अमेरिका से करें तो हमारा देश हर तरह से समृद्ध है। खान-पान की दृष्टि से भी हमारे देश में काफी भिन्नता पाई जाती है। यहाँ जितने प्रकार के लोग हैं उतनी ही संस्कृतियाँ हैं जिनके अपने खान-पान हैं। पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चारों ओर अलग-अलग संस्कृति के व्यंजन प्रख्यात हैं। **उदाहरण के लिए**—लखनऊ में मुगलई कबाव, रेवड़ी, चाट, दक्षिण भारत में

नारियल से बने व्यंजन प्रसिद्ध हैं। वहीं अन्य देशों में इस प्रकार की विविधता कम पाई जाती है। अमेरिकी संस्कृति के खाने में भी भारतीय संस्कृति की झलक दिखती है।

कुछ जातियों, समुदायों एवं सम्प्रदायों के व्यक्तिगत लोकाचार हैं जिनका क्षेत्र की जनसंख्या के तत्त्वों से सावयवी सम्बन्ध रहता है। जिसके कारण किसी देश व समाज की संस्कृति के व्यक्तित्व का विकास होता है; जैसे—भारत अनेक भूखण्डों में विभाजित है या प्रत्येक भू-भाग की अपनी एक विशेषता है। प्रत्येक प्रदेश की अपनी संस्कृति है; जैसे—मध्य प्रदेश की नगरीय संस्कृति की विशेषता जनजातियों के क्षेत्र से बिल्कुल भिन्न है जबकि दोनों एक ही राज्य के निवासी हैं फिर भी इनके रहन-सहन, वेशभूषा, खान-पान, बोली व्यवहार, रीति-रिवाज आदि में विविधताएँ सरलता से देखी जा सकती हैं। इसी प्रकार सामाजिक विविधता के अन्तर्गत समाज में भिन्नता आने का कारण धार्मिक विश्वासों की विविधताएँ, जातीय संरचना व सांस्कृतिक विविधताएँ आदि भी होती हैं।

इसके अतिरिक्त कला, संगीत और नृत्य की दृष्टि से भी भिन्नता पाई जाती है। भारत के अलग-अलग क्षेत्र में कई प्रकार की नृत्य शैलियाँ पाई जाती हैं; जैसे—बिहू, घूमर, लोहड़ी, भरतनाट्यम आदि नृत्य शैलियाँ होती हैं। वहीं विदेशों में बैले, हिप-हॉफ, डिस्को, कन्टेम्परी नृत्य शैलियाँ हैं। इसके अतिरिक्त स्थानीय देवी-देवताओं में भी विभिन्नता होती है। मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, चर्च, स्तूप आदि को कहीं पूजा जाता है तो कहीं पवित्र स्थान के रूप में समझा जाता है। लोगों के विश्वासों, नैतिकता सम्बन्धी धारणाओं और वैवाहिक कार्यक्रमों में विभिन्नता पाई जाती है। यहाँ पर एक-विवाह, बहुपति एवं बहुपत्नी विवाह को मानने वाले लोग भी हैं।

जाति एवं जनजाति स्तर पर विविधता
(Diversity at Caste and Tribe Level)

भारत एक विशाल जातीय विविधता वाला देश है। भारत में लगभग तीन हजार जातिगत समूह हैं। प्रत्येक जाति के अपने खान-पान, विवाह तथा सामाजिक सहवास के नियम हैं। जाति स्तर पर विविधता प्राय: ऊँच-नीच एवं निश्चित व्यवसाय के आधार पर छुआ-छूत की भावना द्वारा परिलक्षित होती है। कुछ जातियाँ एक क्षेत्र स्तर तक ही सीमित रहती है। अत: भारत में जाति स्तर पर उनका खान-पान, विवाह, परिवार एवं नातेदारी व्यवस्था में विविधता देखने को मिलती है। भारतीय समाज में जाति के आधार पर भी विविधता दिखाई देती है। यह विविधता प्राकृतिक या बाह्य कारणों से नहीं बल्कि हिन्दू संस्कृति की ही देन है। भारतीय उपमहाद्वीप में अन्य कई धर्म जैसे कि मुस्लिम एवं ईसाई धर्म के कुछ समूहों में ऐसी व्यवस्थाएँ देखी जाती हैं। सामान्यत: जाति के आधार पर प्रमुख विभाजन निम्न प्रकार से देखने को मिलता है—

1. **ब्राह्मण**—विद्वान समुदाय—जिसमें याचक (Priest) विद्वान, विधि विशेषज्ञ, मन्त्री एवं राजनयिक सम्मिलित हैं।
2. **क्षत्रिय**—उच्च एवं निम्न मान्यवर या सरदार जिनमें राजा, उच्च पद के लोग, सैनिक एवं प्रशासक भी सम्मिलित हैं।
3. **वैश्य**—व्यापारी एवं कारीगर समुदाय—जिनमें सौदागर, दुकानदार, व्यापारी एवं खेत के मालिक सम्मिलित हैं।
4. **शूद्र**—सेवक या सेवा प्रदान करने वाली प्रजाति में अधिकतर गैर-प्रदूषित कार्यों में लगे शारीरिक श्रम करने वाले व्यक्ति व कृषक सम्मिलित होते हैं।

भारत में आधुनिक सभ्यता से कोसों दूर रहने वाले मानव समूह को जनजाति अथवा वन्यजाति कहते हैं। सन् 1991 की जनगणना के अनुसार भारत में 6.78 करोड़ जनजातीय लोग रहते हैं। इन सभी जनजातियों की भाषा, पूजा विधि तथा संस्कृति भी अलग-अलग है। इसलिए इन सभी जनजातियों में सांस्कृतिक विविधता पाई जाती है। भारतीय संविधान में इनकी संख्या 216 है। परन्तु इनके अतिरिक्त भी बहुत ऐसे समुदाय हैं जो जनजातीय जीवन व्यतीत कर रहे हैं। सम्पूर्ण भारत को जनजातियों की दृष्टिकोण से चार क्षेत्रों में बाँटा गया है।

1. **मध्य क्षेत्र**—मध्य क्षेत्र में मध्य प्रदेश, बिहार, ओडिशा तथा पश्चिम बंगाल की जातियाँ आती हैं।
2. **उत्तर-पूर्वी क्षेत्र**—हिमालय की तराई, असम और बंगाल की जनजातियाँ आती हैं।
3. **दक्षिण क्षेत्र**—केरल, मैसूर, मद्रास तथा पूर्वी-पश्चिमी घाट में रहने वाली जनजातियाँ आती हैं।
4. **पश्चिमी क्षेत्र**—राजस्थान, गुजरात एवं महाराष्ट्र में रहने वाली जनजातियाँ आती हैं।

इस प्रकार देश के सभी भागों; जैसे—मध्य प्रदेश, बिहार, ओडिशा, गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान, आन्ध्र प्रदेश एवं असम आदि में ये जनजातियाँ मुख्य रूप से पाई जाती हैं। इनमें भी मध्य प्रदेश में इन जातियों का प्रतिशत सर्वाधिक है। जनजातियों की कुल जनसंख्या का विवरण निम्न है—

हिमालय का क्षेत्र (11.35), मध्य भारत का क्षेत्र (56.88), पश्चिमी भारत का क्षेत्र (24.86) तथा दक्षिणी भारत का क्षेत्र (6.21) है। इन जनजातियों के व्यवसाय खान-पान, रहन-सहन, वैवाहिक सम्बन्ध और रीति-रिवाजों में अनेक विविधताएँ मिलती हैं। ये लोग अपनी सामाजिक व्यवस्था का निर्वाह करते हुए समूहों में रहते हैं। इस समय भारत की अनेक जनजातियाँ पर-संस्कृतिकरण की प्रक्रिया से गुजर रही हैं। जनजातीय संस्कृतियों के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए इन्हें विकास के उचित अवसर प्रदान किए जाने चाहिए तथा इन्हें भरतीय संस्कृति की मुख्य धारा में आने का अवसर भी प्रदान किया जाना चाहिए।

वैयक्तिक स्तर पर विविधता
(Diversity at Individual Level)

भारत एक वैयक्तिक विभिन्नता वाला देश है। वैयक्तिक आधार पर यहाँ गोरे, काले रंग, लम्बे, छोटे एवं मोटे लोगों में भेद, पतले-मोटे स्तर पर विविधता आदि देखने को मिलती है। प्रत्येक व्यक्ति में कुछ-न-कुछ विषमताएँ अवश्य पाई जाती हैं। कोई व्यक्ति अधिक सुन्दर तो कोई कुरूप होता है। भारत के प्रत्येक प्रान्त में वैयक्तिक भिन्नता के आधार पर विविधता देखने को मिल जाती है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति प्राय: विशेष पहनावे एवं क्षेत्र से भी प्रभावित होते हैं जिससे उनमें भिन्नताएँ उत्पन्न हो जाती है।

धार्मिक स्तर पर विभिन्नता
(Diversity at Religious Level)

सामान्य रूप से भारत में अनेक धर्मों का समावेश पाया जाता है। विश्व में शायद ही अन्य ऐसा कोई देश हो जहाँ धर्मों की इतनी विविधता एवं बहुलता पाई जाती है। हमारे देश में मुख्यत: हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, बौद्ध, जैन आदि धर्म पाए जाते हैं। मुख्य धर्मों में भी अनेक समुदाय और मत-मतान्तर पाए जाते हैं। भारत में धार्मिक रूप से हिन्दुओं की जनसंख्या सबसे अधिक है। चूँकि भारत एक धर्मनिरपेक्ष देश है इसलिए यहाँ सभी धर्मों को अपना विकास करने का पूर्ण अधिकार है। भारतीय समाज एवं जनजीवन में धार्मिक विविधता भी अधिक पाई जाती है। 1991 की जनगणना के अनुसार भारत में सात धर्मों को मान्यता दी गई है—हिन्दू, मुस्लिम, इसाई, सिक्ख, बौद्ध, जैन एवं पारसी आदि धर्म हैं। सिक्ख धर्म एकेश्वरवादी धर्म है जिसमें एक ही ईश्वर को परमसत्ता माना गया है। बौद्ध धर्म पहले भारत में पर्याप्त रूप से फैला था लेकिन वैदिक हिन्दूवाद के बाद यह कुछ स्तरों तक ही सीमित हो गया। बौद्ध धर्म अनात्मवाद सिद्धान्त में विश्वास करता है। बौद्ध धर्म के अनुसार आत्मा पाँच स्कन्धों—रूप, संज्ञा, वेदना, संस्कार तथा विज्ञान या चेतना का योग है। इस प्रकार ये पाँच स्कन्ध अनित्य, क्षणिक एवं सतत् परिवर्तनशील हैं। इसी प्रकार बौद्ध धर्म क्षणिकवाद पर भी विश्वास करता है। जैन धर्म का तात्पर्य निग्रन्थ (मुक्ति) से है। जिस प्रकार विष्णु एवं शिव के अनुयायी को क्रमश: वैष्णव एवं शैव कहा जाता है उसी प्रकार जैन धर्म के अनुयायियों को जैनी या निग्रन्थी कहा जाता है।

पारसी एक लघु समुदाय है। भारत में इनका आगमन 8वीं शताब्दी में पर्सिया से हुआ तथा ये भारत की जनसंख्या में घुल-मिल गए। भारत में इनकी जनसंख्या के आकार की तुलना में योगदान अधिक रहा है। पारसी धर्म की ऐतिहासिक भूमिका पर प्रभाव डालते हुए **ए०आर० वाडिया** ने लिखा है—"वर्षों से इस धर्म ने अन्य लोगों में अपना नैतिक एवं आध्यात्मिक उत्साह खुले दिल से हस्तान्तरित किया है। अच्छे विचार, अच्छे वचन तथा अच्छे कर्म जरथ्रुस्त्रियों के ही एकाधिकार नहीं हैं। अति प्राचीनकाल में जरथ्रुस्त्र ने जो सीख दी थी कि उनका पुरस्कार (परिणाम) यह है कि आज यह धर्म समस्त मानवता की विरासत बन गया है।"

अत: उपरोक्त सभी स्तरों पर विविधता का व्यापक स्वरूप देखा जा सकता है। भारत में वैयक्तिक, जातीय, क्षेत्रीय, भाषाई आदि के आधार पर विविधता पाई जाती है। यहाँ समाज के विभिन्न खण्डों में विभाजित करने वाली शक्तियाँ काफी प्रभावशाली हैं, साथ ही धर्म के क्षेत्र में सम्मिलित कर उनके पालन पर विशेष जोर दिया गया है। यहाँ प्रत्येक व्यक्ति से आशा की गई है कि वह अपनी प्रास्थिति से जुड़े हुए सभी दायित्वों को भली-भाँति निभाए ताकि विविधता के होते हुए भी एकता का विकास हो।

प्र.10. सांस्कृतिक सापेक्षवाद का अर्थ एवं परिभाषा दीजिए तथा इसके महत्त्वों पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।

उत्तर

सांस्कृतिक सापेक्षवाद का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Cultural Relativism)

सांस्कृतिक सापेक्षवाद इस विचार को संदर्भित करता है कि लोगों के मूल्यों, ज्ञान और व्यवहार को उनके अपने सांस्कृतिक सन्दर्भ में समझा जाना चाहिए। सांस्कृतिक सापेक्षवाद का सिद्धान्त पहली बार बोअज फ्रांज द्वारा 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में स्थापित और समझाया गया था। यह समाजशास्त्र में सबसे मौलिक अवधारणाओं में से एक है, क्योंकि यह अधिक सामाजिक संरचना और प्रवृत्तियों और व्यक्तिगत लोगों के दैनिक जीवन के बीच सम्बन्धों को पहचानता है और पुष्टि करता है।

सांस्कृतिक सापेक्षवाद व्यक्तियों को सहिष्णु होना और अन्य संस्कृतियों को शामिल करना सिखाता है। यह वह सिद्धान्त है जो यह बताता है कि किसी भी संस्कृति को उसके स्वसन्दर्भ में ही समझा जाना चाहिए। एक संस्कृति की व्याख्या करने में दूसरी संस्कृतियों के मापक नहीं लगाए जाने चाहिए। 'सांस्कृतिक सापेक्षवाद के अन्तर्गत माना जाता है कि विश्व की कई संस्कृतियों की अपनी मान्यताएँ, मूल्य और प्रथाएँ हैं जो विशेष रूप से ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक, भौतिक और पारिस्थितिक संदर्भों में विकसित हुई हैं और कोई भी सस्कृति सही या गलत अथवा अच्छा या बुरी नहीं होती है।

'हर्षकोविट्स' ने सांस्कृतिक सापेक्षवाद को इस प्रकार स्पष्ट किया है कि संस्कृति में समानता और असमानता को समझने हेतु हम विभिन्न संस्कृतियों के प्रतीकों, नैतिक मूल्यों की तुलना कर सकते है। सांस्कृतिक सापेक्षवाद के अन्तर्गत यह सोच निर्धारित होती है कि जो विचार एक स्थान पर नैतिक हैं, वे दूसरे स्थान पर अनैतिक भी हो सकते हैं। सांस्कृतिक सापेक्षवाद नैतिक सापेक्षवाद के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है, जो सत्य को पूर्ण नहीं अपितु स्पष्ट किए जाने के रूप में देखता है। सत्य और असत्य केवल व्यक्ति या समाज द्वारा ही निश्चित किया जाता है तथा अन्य समाज दूसरे को सत्य या असत्य नहीं सिद्ध कर सकता क्योंकि सभी समाजों के नियमों में भिन्नताएँ दृष्टिगोचर होती है।

'पीटर विन्च' (Peter Winch) ने स्वयं के लेख 'अण्डरस्टैंडिंग ए प्रिमिटिव सोसाइटी' (understanding a Primitive Society) में यह स्पष्ट किया है कि जीवन की यथार्थता से सम्बन्धित हमारे विचार एक वृहत स्तर तक समाज में परस्पर स्थापित होते हैं। जिन विचारों को हम सत्य, नैतिक रूप से योग्य और समाज हेतु उपयोगी समझते हैं, उन्हीं को हम स्वयं की संस्कृति का भाग मानते हैं। इसका आशय है कि सांस्कृतिक सापेक्षवाद उन सार्वभौमिक सिद्धान्तों पर विश्वास नहीं करता जिसके मूल पर विभिन्न संस्कृतियों की व्याख्या कर दी जाती है। इसका आशय है कि संस्कृति की प्रसिद्धता का निर्धारण एक सापेक्षवादी दृष्टिकोण के आधार पर ही हो सकता है, निरपेक्ष दृष्टिकोण के आधार पर नहीं। यथार्थता संस्कृति में सामंजस्य का लक्षण होता है। संस्कृति का सम्बन्ध जिन मूल्यों, व्यवहारों के नियमों, कार्य पद्धतियों तथा विश्वासों से होता है, वे सभी उससे सम्बन्धित जनों को स्वयं पर्यावरण से अभियोजन करने की क्षमता प्रदान करती हैं।

'लिण्टन' ने व्यवहार प्रतिमान की भिन्नता के आधार पर सांस्कृतिक सापेक्षवाद को स्पष्ट किया है। उनके अनुसार, प्रत्येक संस्कृति में सम्मान एवं शिष्टता के भिन्न-भिन्न ढंग उसकी प्रमुख विशेषता होती है। हालाँकि ये विभिन्न तरीके से अभिव्यक्त किए जाते है। भारत में नमस्कार हेतु हाथ जोड़कर अभिवादन किया जाता है तथा बड़ों को सम्मान देने हेतु 'प्रणाम' किया जाता है। वहीं पाश्चात्य संस्कृति में हाथ मिलाकर एवं झुककर व टोपी उतारकर किया जाता है।

सांस्कृतिक सापेक्षवाद का महत्त्व
(Importance of Cultural Relativism)

सांस्कृतिक सापेक्षवाद के महत्त्व को निम्नलिखित रूप में समझ सकते हैं—

1. यह एक ऐसी प्रणाली है जो सहयोग को बढ़ावा देती है।
2. सांस्कृतिक सापेक्षवाद एक ऐसे समाज का निर्माण करता है जिसमें समानता सम्भव है।
3. यह मानव संस्कृतियों को संरक्षित करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।
4. संस्कृतियों की व्यक्तियों को आपस में सहिष्णुता होना और अन्य संस्कृतियों को शामिल करना सिखाता है।
5. मानवता का विकास करने की दृष्टि से सांस्कृतिक सापेक्षवाद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।
6. सांस्कृतिक सापेक्षवाद उस कठोरता को समाप्त करता है जो समाज में नैतिकता, आचरण और तर्क के संबंध में है।

❑

UNIT-VI

सामाजिक सांस्कृतिक प्रक्रियाएँ

खण्ड-अ अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. सामाजिक प्रक्रिया से आप क्या समझते हैं? संक्षेप में बताइए।

उत्तर एक-दूसरे के सम्पर्क एवं अन्त:क्रियाओं के परिणामस्वरूप समाज में बनने वाले सम्बन्धों के भिन्न-भिन्न रूपों को हम सामाजिक प्रक्रिया कहते हैं।

प्र.2. सामाजिक सम्पर्क से क्या आशय है?

उत्तर यह सामाजिक अन्तर्क्रिया की आरम्भिक स्थिति है। इस-क्रिया में व्यक्ति एक-दूसरे के सम्पर्क के माध्यम से स्वयं की विभिन्न क्रियाओं के द्वारा एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं।

प्र.3. सहयोग की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

उत्तर सहयोग एक लम्बी और अनवरत् प्रक्रिया है जिसके माध्यम से किसी उद्देश्य की प्राप्ति होती है। सहयोग के अन्तर्गत दीर्घकालीन पारस्परिक निर्भरता का होना आवश्यक है।

प्र.4. ऑगबर्न और निमकॉफ ने सहयोग के कितने प्रकारों का उल्लेख किया है?

उत्तर ऑगबर्न और निमकॉफ ने सहयोग के तीन मुख्य प्रकारों का उल्लेख किया है—(i) सामान्य सहयोग, (ii) मित्रवत् सहयोग तथा (iii) विभेदीकृत सहयोग।

प्र.5. संघर्ष की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

उत्तर संघर्ष की अवधारणा के मूल तत्त्व निम्नलिखित हैं—(i) संघर्ष एवं तनावपूर्ण स्थिति है, (ii) संघर्ष का जन्म तब होता है जब दो या दो से अधिक इच्छाएँ एक साथ ही उत्पन्न हो तथा (iii) ये इच्छाएँ एक दूसरे की विरोधी होती हैं, विरोधात्मक प्रवृत्ति होने के कारण दोनों इच्छाओं की तृप्ति एक साथ सम्भव नहीं होती है।

प्र.6. प्रजातीय संघर्ष से आप क्या समझते हैं?

उत्तर प्रजातीय संघर्ष सामूहिक संघर्ष की श्रेणी में आते हैं। प्रत्येक प्रजाति अपने शारीरिक बनावट एवं रहन-सहन से एक-दूसरे से भिन्न होती है, ऐसे में जब वह कभी एक-दूसरे के सम्पर्क में आती है, तो प्राय: उनमें संघर्ष छिड़ जाता है। इसलिए इसे प्रजातीय संघर्ष कहते हैं।

प्र.7. प्रतिस्पर्धा की कोई पाँच विशेषताएँ लिखिए।

उत्तर (i) अवैयक्तिक प्रक्रिया, (ii) निरन्तरता का गुण, (iii) सार्वभौमिकरण, (iv) नियमों का समावेश, तथा (v) अप्रत्यक्ष संघर्ष।

प्र.8. वैयक्तिक एवं अवैयक्तिक प्रतियोगिता की अवधारणा किसने प्रस्तुत की है?

उत्तर वैयक्तिक एवं अवैयक्तिक प्रतियोगिता की अवधारणा **गिलिन और गिलिन** ने प्रस्तुत की है।

प्र.9. पर-संस्कृतिग्रहण की कोई पाँच विशेषताएँ लिखिए।

उत्तर (i) सांस्कृतिक सम्पर्क का परिणाम, (ii) आंशिक परिवर्तन, (iii) बहुपक्षीय प्रक्रिया, (iv) स्वैच्छिक प्रक्रिया, तथा (v) एकीकरण की प्रक्रिया।

प्र.10. सात्मीकरण के बाधक तत्त्व कौन-कौन से हैं?

उत्तर सात्मीकरण के बाधक तत्त्व निम्नलिखित हैं—(i) अलगाव, (ii) सांस्कृतिक भिन्नता, (iii) श्रेष्ठ एवं हीन भावना, (iv) शारीरिक लक्षणों में भिन्नता, तथा (v) आत्म उत्पीड़न।

TOUCH 'n' PASS

प्र.11. एकीकरण को प्रभावित करने वाले कारकों के नाम लिखिए।

उत्तर एकीकरण को प्रभावित करने वाले कारक—(i) समूह का आकार, (ii) स्थानीय गतिशीलता, तथा (iii) समरूपता।

प्र.12. सांस्कृतिक मूल्यात्मक एकीकरण से क्या आशय है?

उत्तर सभी समाजों में स्वयं की एक संस्कृति होती है। समाज में पाए जाने वाले सांस्कृतिक मूल्य एवं प्रतिमान एकीकरण में सहायक होती है; जैसे—समान भाषा, प्रतीक, रीति-रिवाज आदि।

खण्ड-ब लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. सहयोग के सामाजिक महत्त्वों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

सहयोग का महत्त्व
(Importance of Co-operation)

सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में सहयोग का काफी महत्त्व है। आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक, पारिवारिक, आदि क्षेत्रों में सहयोग का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। सहयोग सामाजिक जीवन का स्थायी आधार है। सहयोग के बिना समाज की कल्पना तक नहीं की जा सकती।

1. व्यक्ति की दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं **कि सहयोग समाजीकरण और व्यक्तित्व के विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है।** यदि बालक को अपने माता-पिता, परिवारजनों, पड़ोसियों, मित्रों, गुरुजनों आदि का सहयोग प्राप्त नहीं हो तो उसका पालन-पोषण, विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति, मानवोचित गुणों एवं व्यक्तित्व का विकास असम्भव हो जाएगा। क्या कोई व्यक्ति स्वयं के एकाकी प्रयत्नों से अपनी सभी प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है, कदापि नहीं। उसे पग-पग पर दूसरों के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। सहयोग के अभाव में तो उसकी स्थिति वन्य-बालक (Feral child) के समान ही हो जाएगी।
2. सामूहिकता का विकास, हम की भावना, समूह-कल्याण का दृष्टिकोण आदि सहयोग पर ही निर्भर करते हैं। यदि किसी समाज विशेष के व्यक्तियों में व्यक्तिवादिता अधिक हो, यदि वे अपने स्वयं के स्वार्थों या लक्ष्यों की पूर्ति के दृष्टिकोण से ही सोचते हों, तो ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण समूह, समाज या राष्ट्र के कल्याण और प्रगति की कल्पना नहीं की जा सकती। जहाँ व्यक्तियों और विभिन्न समूहों में आपस में सहयोग पाया जाता है, वहाँ समूह अथवा समाज एकता के दृढ़ सूत्र में बँधा रहता है, समाज-व्यवस्था बनी रहती है और विभिन्न व्यक्ति अपनी-अपनी प्रस्थितियों के अनुरूप भूमिका निभाते रहते हैं। परिणामस्वरूप सामाजिक संगठन बना रहता है, प्रत्येक के उद्देश्य की पूर्ति होती रहती है। स्पष्ट है कि **समूह-कल्याण, सामाजिक एकता और दृढ़ता तथा सम्पूर्ण राष्ट्र की प्रगति की दृष्टि से सहयोग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।** जिस समाज के व्यक्तियों और समूहों में सहयोग का अभाव पाया जाता है, वह समाज विघटन की दिशा में आगे बढ़ता है, वहाँ अनेक समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं जो सामाजिक जीवन को अस्त-व्यस्त कर देती हैं।
3. **आर्थिक क्षेत्र** में सहयोग का महत्त्व स्पष्टत: दिखाई पड़ता है। **श्रम विभाजन और विशेषीकरण का आधार सहयोग ही है।** आज के जटिल आर्थिक संगठनों में प्रमुखत: द्वितीयक प्रकार का या अप्रत्यक्ष सहयोग पाया जाता है। एक ही वस्तु के निर्माण में विभिन्न व्यक्तियों के श्रम का योग आवश्यक है। कारखानों में श्रमिकों और अधिकारियों के बीच सहयोग अनिवार्य है जिसके अभाव में उत्पादन को नहीं बढ़ाया जा सकता, कम लागत पर अच्छी वस्तुएँ नहीं बनाई जा सकती और देश को आर्थिक दृष्टि से सशक्त नहीं बनाया जा सकता। आज भारत जैसे विकासशील देश में जहाँ निर्धनता और बेकारी पाई जाती है, विभिन्न विकास-योजनाओं के माध्यम से देश को प्रगति के पथ पर आगे बढ़ाने के लिए जनता और विकास कार्यों में लगे लोगों के बीच सहयोगात्मक सम्बन्ध का होना नितान्त आवश्यक है।
4. **मानव सभ्यता और संस्कृति के विकास, प्रसार एवं प्रचार आदि के दृष्टिकोण से भी सहयोग काफी महत्त्वपूर्ण है।** विभिन्न व्यक्तियों के बीच **सहयोग के परिणामस्वरूप ही अनेक आविष्कार** हो पाते हैं जो मानव-जीवन को सुखी बनाने में योग देते हैं। आज ज्ञान, कला, साहित्य और संगीत के क्षेत्र में जो कुछ प्रगति हुई है, वह किसी एक या कुछ व्यक्तियों के प्रयत्नों का परिणाम नहीं होकर कई पीढ़ियों के अनेक लोगों के लगातार प्रयत्नों और उनके बीच पाए जाने वाले सहयोग का परिणाम है।

TOUCH 'n' PASS

5. **अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी शान्ति की स्थापना में सहयोग का विशेष योगदान रहा है।** विभिन्न राष्ट्रों के बीच पाए जाने वाले सहयोग के फलस्वरूप ही 'संयुक्त राष्ट्र संघ' (United Nations Organization) एक विश्व संगठन के रूप में शान्ति स्थापना और मानव-मात्र के कल्याण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। आज विभिन्न राष्ट्रों के बीच आर्थिक क्षेत्र में सहयोग बढ़ता जा रहा है। एक राष्ट्र को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य राष्ट्रों पर निर्भर रहना पड़ता है।
6. अन्य सामाजिक प्रक्रियाओं; जैसे—**प्रतिस्पर्धा, संघर्ष आदि की सफलता के लिए भी सहयोग आवश्यक है।** वास्तव में, **समाज के किसी भी कार्य को सहयोग के अभाव में पूर्ण नहीं किया जा सकता।** व्यवसाय, व्यापार, दफ्तर, शिक्षण संस्था, कारखाने, बाजार, परिवार, धार्मिक संगठन, राजनीतिक दल आदि में सहयोग का महत्त्व सर्वत्र दिखाई देता है। सहयोग के अभाव में किसी भी प्रकार की व्यवस्था नहीं रह सकती। यही कारण है कि आदिम से आधुनिक समाजों तक में किसी न किसी रूप में सहयोग अवश्य देखने को मिलता है।

प्र.2. संघर्ष के समाधान के मुख्य उपायों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

संघर्ष के समाधान के उपाय
(Measures for Resolving Conflicts)

संघर्ष के समाधान के लिए उन सभी कारकों को नियन्त्रित करना आवश्यक है। जिसके कारण समाज में संघर्ष की उत्पत्ति होती है। इसके नियंत्रण हेतु निम्न विधियों का प्रयोग किया जाता है—

1. **उचित अनौपचारिक शिक्षा**—सामाजिक संघर्ष के समाधान का एक उपाय अनौपचारिक शिक्षा है। अनौपचारिक शिक्षा का अर्थ वह शिक्षा है जो माता-पिता के द्वारा बच्चों को दी जाती है। माता-पिता तथा परिवार के अन्य सदस्य बच्चों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से शिक्षा देते हैं कि उन्हें अपने समूह तथा दूसरे समूह या समूहों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए। यही शिक्षा बच्चों के प्राथमिक समाजीकरण का आधार बनती है। अत: माता-पिता को चाहिए कि बच्चों को ऐसी शिक्षा दे जिससे उनमें दूसरे समूह या समूहों के प्रति अनुकूल मनोवृत्ति विकसित हो।
2. **सामाजिक ढाँचा में परिवर्तन**—वर्तमान सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन लाना होगा। भारतीय परिवेश में आवश्यक है कि उच्च, मध्य तथा निम्न सामाजिक, आर्थिक स्थिति में परिवर्तन लाया जाए तथा इनके बीच की दूरी को कम किया जाए। समाज में ब्राह्मणों तथा उच्च जाति के हिन्दुओं के साथ-साथ हरिजनों तथा निम्न जाति के हिन्दुओं को भी उचित सम्मान मिले, तभी छुआछत समाप्त हो तभी सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक समूहों से वर्ग संघर्ष समाप्त होगा।
3. **राष्ट्रीय सम्पत्ति का समान वितरण**—सामाजिक संघर्ष के समाधान के लिए आवश्यक है कि राष्ट्रीय सम्पत्ति का वितरण देश की जनता के बीच यथासम्भव समान रूप से किया जाए हमारे भारतीय समाज में बहुत असमानता है। कुछ लोग निर्धन हैं और कुछ अमीर हैं। ऐसी स्थिति में उनके बीच संघर्ष होना स्वाभाविक है तथा इस संघर्ष का स्थायी समाधान तभी होगा जब सम्पत्ति का वितरण इस प्रकार से हो कि सबको रोटी, वस्त्र तथा आवास की सुविधा उपलब्ध हो सके। हमारी सरकार ने जमीन की चकबन्दी तथा बटाई से सम्बन्धित कानून बनाकर राष्ट्रीय सम्पत्ति के वितरण की विषमता को दूर करने का प्रयास अवश्य किया है।

प्र.3. समाज में संघर्ष का परिणाम एवं महत्त्व स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

समाज में संघर्ष का परिणाम एवं महत्त्व
(Importance and Results of Conflict in Society)

समाज में संघर्ष का महत्त्व निम्नलिखित रूप में स्पष्ट होता है—

1. **सामाजिक विकास का आधार—कार्ल मार्क्स** (Carl Marks) ने सामाजिक संघर्ष के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए वर्णित किया है कि "मानव जीवन के विकास का सम्पूर्ण इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है।" इसके आधार पर कहा जा सकता है कि प्राचीन सभ्यता से आज की विकसित सभ्यता तक पहुँचना संघर्ष से ही सम्भव हो सका। जब कभी भी विभिन्न वर्गों तथा व्यवस्था का उद्‌भव होता है जिसमें संघर्ष की कम सम्भावना हो जाती है, यह स्थिति सामाजिक विकास का यथार्थ आधार है।
2. **सामूहिकता में वृद्धि**—जब विभिन्न समूहों और सदस्यों को संघर्ष की स्थिति में कुछ नई समस्याओं से टकराव होता है परिणामस्वरूप वे पुन: अपने आचरण के तरीके पर विचार करने लगते हैं। इससे उनमें समान विचार एवं भावनाएँ विकसित होती हैं। समाज में यह स्थिति सामूहिकता में वृद्धि करती है।

3. **व्यक्तित्व के विकास का आधार—मैकाइवर** एवं **पेज** द्वारा वर्णित है कि संघर्ष व्यक्तित्व के निर्माण एवं विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। जब किसी समाज में संघर्ष की प्रक्रिया प्रभावपूर्ण हो जाती है तब उस प्रक्रिया में सभी व्यक्ति स्वयं की आन्तरिक क्षमताओं का अधिक-से-अधिक उपयोग करने लगते हैं। इससे व्यक्तित्व के वास्तविक गुण अनुकूलन, आत्मसात एवं निर्भीकता के गुणों में वृद्धि होती हैं।
4. **समाजिक एकीकरण में वृद्धि—डेविस** द्वारा संघर्ष को अनेक स्थितियों में एक अलगाववादी प्रक्रिया न रहकर एकीकरण की प्रक्रिया के रूप में माना गया है, क्योंकि जब विशेष दशाओं में समाज का संगठन सहयोग के आधार पर संगठित नहीं हो पाता है, तब अधिकांशत: समाज की विभिन्न समस्याओं का अन्त संघर्ष की सहायता से किया जाता है।
5. **सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण—मैरिल** तथा **एलरिज** (Merrill and Eldrige) ने संघर्ष के महत्त्व को व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति के आधार पर स्पष्ट किया। उनके अनुसार संघर्ष वह प्रक्रिया है जिससे व्यक्ति की योग्यता, कुशलता तथा उसकी शक्ति को निर्धारित किया जा सकता है, इस विचार को कुछ विद्वानों द्वारा अमान्य कर दिया गया है।

प्र.4. संघर्ष एवं प्रतिस्पर्धा में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

संघर्ष एवं प्रतिस्पर्धा में अन्तर
(Differences between Conflict and Competition)

क्र०सं०	संघर्ष	प्रतिस्पर्धा
1.	संघर्ष एक प्रत्यक्ष प्रक्रिया है क्योंकि इसमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के बारे में अधिक जानकारी प्राप्त कर उस पर शासन करना चाहता है।	प्रतिस्पर्धा एक अप्रत्यक्ष प्रक्रिया है, क्योंकि एक इसमें व्यक्ति दूसरे पक्ष की स्थिति समझे बिना ही लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास करता है।
2.	संघर्ष एक वैयक्तिक प्रक्रिया है। इसमें व्यक्ति एक विशेष सदस्य या विशेष समूह पर ही प्रभुत्व स्थापित करने की कोशिश करता है।	प्रतिस्पर्धा अवैयक्तिक होती है क्योंकि इसमें व्यक्ति विशेष से नहीं बल्कि उस लक्ष्य से जुड़े सभी व्यक्तियों से प्रतिस्पर्धा करता है।
3.	इसमें एक पक्ष दूसरे पक्ष पर स्वयं के निर्णयों को अपनाने के लिए बाध्य करता है।	प्रतिस्पर्धा में अपने निर्णयों को एक-दूसरे पर नहीं थोपा जाता बल्कि दोनों पक्ष आपस में कोई समझौता न करते हुए समान लक्ष्यों को प्राप्त करते हैं।
4.	संघर्ष में अनैतिकता का तत्त्व समावेश होता है।	प्रतिस्पर्धा में नैतिकता का समावेश होता है।
5.	संघर्ष में प्रतिस्पर्धा की अपेक्षा निरन्तरता कम पाई जाती है।	इसमें निरन्तरता अधिक पाई जाती है, क्योंकि यह व्यक्ति जीवन के सभी भागों से सम्बन्धित होता है।

प्र.5. पर-संस्कृतिग्रहण के अनुकूल परिस्थितियों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

उत्तर

पर-संस्कृतिग्रहण के अनुकूल परिस्थितियाँ
(Conditions Favourable to Acculturation)

पर-संस्कृतिग्रहण के अनुकूलन हेतु निम्नलिखित परिस्थितियाँ होती हैं—

1. **मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध**—यह प्रक्रिया प्रभावपूर्ण तभी हो सकती है जब सभी अलग-अलग समूहों के मध्य मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध हों। विभिन्न समूहों के मध्य ऐसे सम्बन्ध होने से उन्हें पारस्परिक रूप से निकटतम सम्पर्क में आने और एक-दूसरे की विशेषताओं को धारण करने हेतु अधिक प्रोत्साहन मिलता है।
2. **सांस्कृतिक सम्पर्क—'गिलिन एवं गिलिन'** ने पर-संस्कृतिग्रहण हेतु सांस्कृतिक सम्पर्क को कुछ समूहों के बीच अनिवार्य दशा के रूप में स्वीकार किया है। इस सम्पर्क के परिणामस्वरूप किसी भी समूह की, कोई भी समूह की सांस्कृतिक विशेषताओं को स्वीकार कर सकता है।
3. **सांस्कृतिक समानताएँ**—पर-संस्कृतिग्रहण की प्रक्रिया हेतु यह आवश्यक है कि विभिन्न समूहों के मध्य अधिक सांस्कृतिक गुणों में अन्तर न हो। उदाहरण के लिए, आदिवासी क्षेत्रों में इनके और हिन्दू समूहों के बीच यह प्रक्रिया अत्यन्त प्रभावपूर्ण है क्योंकि आदिवासी समूह हिन्दू संस्कृति से अधिक भिन्न नहीं थे।
4. **ऐतिहासिक स्थितियों का प्रभाव—'हर्सकोविट्स'** के अनुसार, पर-संस्कृतिग्रहण की प्रक्रिया के प्रोत्साहन में कुछ ऐतिहासिक स्थितियाँ महत्त्वपूर्ण होती हैं। **उदाहरण के लिए**, अगर किसी समूह को यह भरोसा हो जाए कि उसके

निकटवर्ती दूसरे समूह ने आपदा-विपत्ति के समय उसका सहयोग किया है या उसके आर्थिक पक्ष को ऊँचा उठाने में योगदान किया है तब प्राय: उस समूह से अपने से भिन्न सांस्कृतिक विशेषताओं वाले समूह के गुणों को महत्त्व दिया जाने लगता है तथा अपनाया भी जाता है।

5. **उपयोगिता का विश्वास**—दूसरे समूह की सांस्कृतिक विशेषताओं को तभी स्वीकार किया जाता है जब वह उस एक समूह के लिए उपयोगी होती है। इस भावना के नाते वृहत आकार वाले समुदाय में यह प्रक्रिया शीघ्र ही क्रियाशील होने लगती है।

प्र.6. पर-संस्कृतिग्रहण के लाभ एवं हानियों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

पर-सस्कृतिग्रहण के लाभ
(Advantages of Acculturation)

पर-संस्कृतिग्रहण के महत्त्व को निम्नलिखित रूप में समझ सकते हैं—

1. इस प्रक्रिया के द्वारा विभिन्न समूहों के मध्य सहयोग की वृद्धि होती है।
2. इसमें उन दूसरे समूह के सांस्कृतिक तत्त्वों को त्याग दिया जाता है जो किसी विशेष समूह हेतु अनुपयुक्त होते हैं।
3. पर-संस्कृतिग्रहण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप व्यवहार के नवीन ढंगों को समूह में प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि आदिवासी समूह में व्यवसाय एवं स्वास्थ्य से सम्बन्धित जिन नए तरीकों का विकास होता है वह इस प्रक्रिया के फलस्वरूप हुआ है।

पर-संस्कृतिग्रहण की हानियाँ
(Disadvantages of Acculturation)

पर-संस्कृतिग्रहण की प्रक्रिया में कुछ हानियाँ भी उत्पन्न होती हैं जिनका संक्षेप में वर्णन निम्नवत् है—

1. किसी एक समूह के सदस्यों को रूढ़िगत सांस्कृतिक तत्त्वों के स्थान पर नई सांस्कृतिक विशेषताओं को स्वीकारने में उन्हें मानसिक तनाव से गुजरना पड़ता है क्योंकि नए सांस्कृतिक तत्त्वों को शीघ्र अपनाना संवेगात्मक रूप से कठिन होता है।
2. अधिकतम व्यक्ति स्वयं के सामाजिक और सांस्कृतिक तत्त्वों से व्यवहार के नवीन प्रकारों के कारण अनुकूलन करने में असमर्थ हो जाते हैं।
3. सामूहिक क्रियाओं में रूढ़िगत विचारों वाले लोग वास्तविक रूप से सहयोग नहीं कर पाते हैं। इससे लोग अपने पद के दायित्वों को पूर्ण करने में असफल हो जाते हैं।
4. आधुनिक और पुरानी पीढ़ी के मध्य संघर्ष भी इस प्रक्रिया का ही परिणाम है।
5. पर-संस्कृतिग्रहण की प्रक्रिया में जो समूह स्वयं के सांस्कृतिक तत्त्वों की अपेक्षा दूसरे समूह के सांस्कृतिक तत्त्वों को अधिक स्वीकारता है जिसके कारण वह स्वयं की संस्कृति से दूर होता जाता है।

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर स्पष्ट होता है कि प्राय: यह प्रक्रिया उतनी सरल नहीं है जितना लोगों द्वारा इसे सरल माना जाता है। वास्तविकता में स्वयं से अतिशक्तिशाली तथा प्रभावी समूह के सांस्कृतिक तत्त्वों को निम्न-कमजोर समूहों द्वारा ग्रहण किया जाता है।

प्र.7. एकीकरण को प्रभावित करने वाले कारकों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

एकीकरण के कारक
(Factors of Integration)

ऑगवर्न एवं **निमकॉफ** ने उन कारकों का उल्लेख किया है जो एकीकरण की मात्रा को प्रभावित करते हैं। वे कारक तीन है—समूह का आकार, सजातीयता या समरूपता तथा भौतिक (भौगोलिक) गतिशीलता।.

1. **समूह का आकार**—बड़े और द्वैतीयक समूहों की तुलना में छोटे और प्राथमिक समूहों में एकीकरण की मात्रा अधिक पाई जाती है क्योंकि छोटे समूहों में ही सदस्यों की भावनाओं और विचारों को अच्छी तरह समझकर संगठन बनाया जा सकता है।
2. **सजातीयता या समरूपता**—समूह के आकार और सजातीयता में घनिष्ठ सम्बन्ध है। छोटे समूह प्राय: सजातीय होते हैं जबकि बड़े समूहों में धर्म, भाषा, जाति, प्रजाति, शिक्षा एवं पारिवारिक पृष्ठभूमि के आधार पर अनेक भिन्नताएँ पाई जाती

हैं। सजातीयता का अर्थ है किसी सम्पूर्णता की विभिन्न इकाइयों का एक समान होना। शारीरिक और मानसिक समरूपता भी एकीकरण को बढ़ावा देती है। भारत जैसे देश में जहाँ धर्म, भाषा, जाति, प्रजाति को लेकर अनेक विविधताएँ पाई जाती हैं, एकीकरण की समस्या भी अधिक जटिल है।

3. **भौतिक (भौगोलिक) गतिशीलता**—भौतिक या भौगोलिक गतिशीलता का अर्थ है लोगों द्वारा एक सांस्कृतिक एवं भौगोलिक क्षेत्र को छोड़कर निवास के लिए दूसरे क्षेत्र में जाना। भौतिक गतिशीलता एवं प्रवास के कारण भी एकीकरण में बाधा उत्पन्न होती है क्योंकि इससे व्यक्ति का समूह बदल जाता है तथा उसे नए समूह से एकीकरण करना पड़ता है।

प्र.8. एकीकरण एवं सात्मीकरण में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

एकीकरण एवं सात्मीकरण में अन्तर
(Difference between Integration and Assimilation)

एकीकरण एवं सात्मीकरण में निम्नलिखित अन्तर हैं—

क्र०सं०	एकीकरण	सात्मीकरण
1.	एकीकरण को प्राय: एक समाज में विभिन्न समूहों के सदस्यों को समान रूप में शामिल करने के रूप में परिभाषित किया जाता है।	सात्मीकरण दूसरी संस्कृति के तरीकों को अपनाने और पूर्णत: से एक अलग समाज का हिस्सा बनने के रूप में परिभाषित किया जाता है।
2.	एकीकरण समाज के विभिन्न संगठनों की इकाइयों में एकता उत्पन्न करता है।	सात्मीकरण सांस्कृतिक समूहों में एकता उत्पन्न करता है।
3.	इसमें समरूपता कम या अधिक हो सकती है।	सात्मीकरण में इकाइयों में पूर्णत: समरूपता स्पष्ट होती है।
4.	इसमें समाज के संगठनों की इकाइयों की पृथकता बनी रहती है।	सात्मीकरण में एक संस्कृति दूसरी संस्कृति को पूर्णत: अपना लेती है। अर्थात् वह पृथक नहीं रह पाती है।
5.	एकीकरण एक प्रथम स्वतन्त्र प्रक्रिया है।	सात्मीकरण एकीकरण को प्राप्त करने का भाग है।

प्र.9. पर-संस्कृतिग्रहण और सात्मीकरण में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

पर-संस्कृतिग्रहण और सात्मीकरण में अन्तर
(Difference between Acculturation and Assimilation)

पर-संस्कृतिग्रहण एवं सात्मीकरण में निम्नलिखित अन्तर हैं—

क्र०सं०	पर-संस्कृतिग्रहण	सात्मीकरण
1.	पर-संस्कृतिग्रहण सांस्कृतिक परिवर्तन से सम्बन्धित एकीकरण करने वाली एकीकरण की प्रक्रिया है।	यह सामाजिक एकीकरण से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है।
2.	पर-संस्कृतिग्रहण की प्रकृति स्थायी न होकर तुलनात्मक रूप से परिवर्तनशील होती है।	सात्मीकरण की प्रक्रिया अत्यन्त स्थायी होती है।
3.	यह प्रक्रिया सांस्कृतिक सम्पर्क का परिणाम होती है।	सात्मीकरण की प्रक्रिया अनेक स्तरों से होते हुए धीरे-धीरे स्वयं से विकसित होती है।
4.	इसमें केवल सांस्कृतिक तत्त्वों का ही आदान-प्रदान किया जाता है और उन्हीं में एकता स्पष्ट होती है।	इस प्रक्रिया में सामाजिक सांस्कृतिक दोनों तत्त्वों में एकता स्पष्ट होती है।
5.	यह प्रक्रिया किसी समूह के सांस्कृतिक जीवन में होने वाले आंशिक परिवर्तन को स्पष्ट करती है।	यह सम्पूर्ण सामाजिक सांस्कृतिक जीवन के परिवर्तन को स्पष्ट करती है।
6.	इसके अन्तर्गत अन्य सांस्कृतिक विशेषताओं को भी ग्रहण किया जाता है।	सात्मीकरण में सांस्कृतिक विशेषताओं के साथ सामाजिक विशेषताओं को भी ग्रहण किया जाता है।
7.	इसमें भिन्न-भिन्न समूहों के साथ सभी व्यक्ति सम्बन्धित होते हैं।	सात्मीकरण में समान समूह तथा समान उद्देश्यों के साथ एक-दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं।

खण्ड-स विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. सामाजिक प्रक्रिया का अर्थ, परिभाषा एवं विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर

सामाजिक प्रक्रियाएँ
(Social Processes)

अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition)

एक व्यक्ति या समूह की दूसरे के साथ अन्त:क्रिया होती है और वह अन्त:क्रिया सहयोग, संघर्ष, प्रतिस्पर्धा आदि किसी भी रूप में हो सकती है। **अन्त:क्रिया के विभिन्न स्वरूपों को ही सामाजिक प्रक्रिया** (Social process) **के नाम से पुकारा गया है।** जब अन्त:क्रिया में निरन्तरता पाई जाती है और साथ ही जब वह किसी निश्चित परिणाम की ओर बढती है तो ऐसी अन्त:क्रिया सामाजिक प्रक्रिया के नाम से जानी जाती है। यदि दो व्यक्ति समय-समय पर एक-दूसरे से मिलते रहते हैं, आवश्यकता पड़ने पर एक-दूसरे की सहायता करते रहते हैं, एक-दूसरे के सुख-दुख में हाथ बँटाते रहते हैं तो उनकी इस अन्त:क्रिया में निरन्तरता पाई जाती है। धीरे-धीरे उनके सम्बन्ध घनिष्ठ और मधुर होते जाते हैं और इसका परिणाम मित्रता के रूप में निकलता है, उनमें सहयोग पनपता है। यही सामाजिक प्रक्रिया है। सामाजिक प्रक्रियाएँ व्यक्ति, समूह और समाज के जीवन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं।

सामाजिक प्रक्रिया का अर्थ स्पष्ट करते हुए **गिलिन** और **गिलिन** ने लिखा है, "सामाजिक प्रक्रियाओं से हमारा तात्पर्य अन्त:क्रिया करने के उन तरीकों से है जिन्हें हम, जब व्यक्ति और समूह मिलते हैं और सम्बन्धों की व्यवस्था स्थापित करते हैं या जब परिवर्तन जीवन के प्रचलित तरीकों को अव्यवस्थित कर देते हैं, देख सकते हैं।"

बीसंज तथा **बीसंज** ने लिखा है, "अन्त:क्रिया के विभिन्न स्वरूपों को ही सामाजिक प्रक्रिया कहते हैं।"

लुण्डबर्ग तथा **अन्य** ने लिखा है, "प्रक्रिया का अर्थ एक अपेक्षाकृत विशिष्ट तथा पूर्वानुमानित परिणामों की ओर ले जाने वाली सम्बन्धित घटनाओं के अनुक्रम (Sequence) से है।"

मैकाइबर तथा **पेज** के अनुसार, "एक प्रक्रिया का अर्थ परिस्थिति में पहले से ही मौजूद शक्तियों की क्रियाशीलता के माध्यम से एक निश्चित तरीके से होने वाले निरन्तर परिवर्तन से है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि **सामाजिक प्रक्रिया सामाजिक जीवन में सदैव बनी रहने वाली और साथ ही परस्पर सम्बन्धित घटनाओं का वह क्रम है जो एक विशिष्ट परिणाम या परिवर्तन को जन्म देने के लिए उत्तरदायी हैं।**

सामाजिक प्रक्रिया के आवश्यक तत्व (विशेषताएँ)
(Essentials or Characteristics of Social Process)

सामाजिक प्रक्रिया के निम्नलिखित आवश्यक तत्व या विशेषताएँ हैं—

1. **घटनाओं का एक क्रम**—किसी एक घटना को चाहे वह कितनी ही कम या अधिक महत्त्वपूर्ण क्यों न हो सामाजिक प्रक्रिया नहीं कहा जा सकता। सामाजिक प्रक्रिया के लिए यह आवश्यक है कि उसमें विभिन्न घटनाओं का एक क्रम (Sequence) हो।
2. **घटनाओं की पुनरावृत्ति**—सामाजिक प्रक्रिया के अन्तर्गत कुछ घटनाओं का बार-बार घटित होना आवश्यक है। यदि कोई घटना एक बार घटित हो जाए तो उसे सामाजिक प्रक्रिया नहीं माना जाएगा। यहाँ तो घटनाओं की पुनरावृत्ति आवश्यक है।
3. **घटनाओं के बीच सम्बन्ध होना**—सामाजिक प्रक्रिया के अन्तर्गत विभिन्न घटनाओं की प्रकृति अलग-अलग हो सकती है, उनका क्षेत्र पृथक-पृथक हो सकता है, परन्तु उन सभी घटनाओं के बीच सम्बन्ध का होना अत्यन्त आवश्यक है। इस सम्बन्ध के अभाव में केवल घटनाएँ मात्र सामाजिक प्रक्रिया नहीं कहला सकती।
4. **निरन्तरता**—सामाजिक प्रक्रिया के लिए घटनाओं की पुनरावृत्ति या बार-बार होना ही काफी नहीं है। इसके लिए घटनाओं का निरन्तर बने रहना आवश्यक है। उदाहरण के रूप में, सहयोग एक सामाजिक प्रक्रिया है। इसका कारण यह है कि सामाजिक जीवन में सहयोग की आवश्यकता सदैव बनी रहती है। सहयोग को व्यक्त करने वाली घटनाएँ समाज में घटित होती ही रहती हैं, उनमें निरन्तरता पाई जाती है। इतना अवश्य है कि किसी समय सहयोग की मात्रा कम और किसी समय अधिक हो सकती है।

5. **विशिष्ट परिणाम**—परिणाम सामाजिक घटना का एक परम आवश्यक तत्व है। सामाजिक प्रक्रिया तो घटनाओं का ऐसा क्रम है जिसमें निरन्तरता का गुण पाया जाता है और जिसके कुछ निश्चित परिणाम अवश्य निकलते हैं। उदाहरण के रूप में, सहयोग एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया है जो व्यक्तियों और समूहों को एकता के सूत्र में बाँधती है, जो संगठन पनपाती है, जो प्रगति में योग देती है।

प्र.2. सहयोग का अर्थ एवं परिभाषा स्पष्ट करते हुए सहयोग के विविध स्वरूपों (प्रकार) का वर्णन कीजिए।

उत्तर

सहयोग का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Co-operation)

सहगामी सामाजिक प्रक्रियाओं में सहयोग एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामाजिक प्रक्रिया है। सहयोग सामाजिक जीवन का एक मूलभूत आधार है। इसके अभाव में सामूहिक जीवन, समाज और राष्ट्र की कल्पना तक नहीं की जा सकती। मनुष्य अपनी विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं के एकाकी प्रयत्नों से नहीं कर सकता। इस सहयोग के अभाव में न तो बालक का ठीक से पालन-पोषण हो सकता है और न ही समुचित ढंग से उसके व्यक्तित्व का विकास। पारिवारिक जीवन में पाया जाने वाला सहयोग ही सदस्यों को अच्छा नागरिक बनाने में योग देता है। यह कहा जा सकता है कि जन्म से लेकर मृत्यु तक व्यक्ति को अनेक अन्य व्यक्तियों और समूहों के सहयोग पर निर्भर रहना पड़ता है। यह सहयोग ही है जो व्यक्तियों को एक साथ मिलकर काम करने और समाज को संगठित बनाने में योग देता है। अब तो सहयोग न केवल स्थानीय स्तर पर बल्कि राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी देखने को मिलता है।

सहयोग के अर्थ को भली-भाँति समझने के लिए इसकी कुछ परिभाषाओं पर विचार करना आवश्यक है। सहयोग का अर्थ स्पष्ट करते हुए **प्रो० ग्रीन** ने लिखा है, "सहयोग दो या दो से अधिक व्यक्तियों द्वारा किसी कार्य को करने या किसी समान इच्छित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए किया जाने वाला निरन्तर एवं सामूहिक प्रयत्न है।"

प्रो० डेविस के अनुसार, "एक सहयोगी समूह वह है जो एक ऐसे उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मिल-जुलकर कार्य करता है जिसको सभी चाहते हैं।"

सदरलैण्ड तथा **वुडवर्ड** के अनुसार, "किसी समान लक्ष्य के लिए विभिन्न व्यक्तियों या समूहों का परस्पर मिलकर कार्य करना ही सहयोग है।"

लुण्डबर्ग तथा **अन्य** के अनुसार, "सहयोग दो या अधिक व्यक्तियों या समूहों द्वारा लक्ष्य प्राप्ति के लिए इस प्रकार साथ-साथ कार्य करने को व्यक्त करता है, जहाँ एक व्यक्ति या समूह द्वारा लक्ष्य प्राप्ति दूसरों के लक्ष्य प्राप्ति में सहायक हो।"

फेयरचाइल्ड द्वारा सम्पादित समाजशास्त्र के शब्दकोश के अनुसार, "सहयोग वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति या समूह कम या अधिक संगठित रूप से सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अपने प्रयत्नों को संयुक्त करते हैं।"

मैरिल तथा **एलड्रिज** सामाजिक अन्त:क्रिया के उस स्वरूप को सहयोग कहते हैं जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति एक सामान्य लक्ष्य की पूर्ति के लिए साथ-साथ कार्य करते हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि **सहयोग सामाजिक अन्त:क्रिया का वह स्वरूप है जिसमें दो या अधिक व्यक्ति अथवा समूह किसी सामान्य रूप से इच्छित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए संगठित रूप से मिलकर प्रयत्न करते हैं।**

इन परिभाषाओं के आधार पर सहयोग की कुछ विशेषताएँ भी उभरकर सामने आती हैं, जो निम्न हैं—

1. दो या दो से अधिक व्यक्तियों अथवा समूहों का होना।
2. एक सामान्य उद्देश्य का होना।
3. 'हम की भावना' का पाया जाना।
4. सहयोग करने वालों का एक-दूसरे के प्रति जागरूक होना (चेतन प्रक्रिया)।
5. पारस्परिक सहायता एवं साथ-साथ मिलकर काम करने की भावना का पाया जाना।
6. लक्ष्य प्राप्ति के लिए निरन्तर और संगठित प्रयत्न करना।

सहयोग के स्वरूप (प्रकार) (Forms of Co-operation)

विभिन्न समूहों, संगठनों, समितियों एवं संस्थाओं में अलग-अलग अवसरों पर सहयोग के भिन्न-भिन्न स्वरूप देखने को मिलते हैं। इतना अवश्य है कि जीवन के सभी क्षेत्र में कम या अधिक मात्रा में सहयोग पाया जाता है। युद्ध-काल और शान्ति-काल के सहयोग में अन्तर दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी सहयोग के भिन्न-भिन्न रूप देखने को मिलते हैं। यहाँ हम कुछ विद्वानों द्वारा प्रस्तुत सहयोग के विभिन्न स्वरूपों का उल्लेख करेंगे—

मैकाइवर तथा **पेज** ने सहयोग के निम्नलिखित दो प्रकार बताए हैं—1. **प्रत्यक्ष सहयोग**, तथा 2. **अप्रत्यक्ष सहयोग**।

1. **प्रत्यक्ष सहयोग**—जब दो या दो से अधिक व्यक्ति अथवा समूह समान उद्देश्य के लिए एक-दूसरे के साथ मिलकर समान कार्य करें, तो इसे प्रत्यक्ष सहयोग कहा जाएगा। इसमें व्यक्तियों के बीच आमने-सामने के सम्बन्ध पाए जाते हैं। खेल के मैदान में विरोधी टीम को हराने के उद्देश्य से जब किसी टीम के सदस्यों में सहयोग पाया जाए और सभी मिलकर कार्य करें तो इसे प्रत्यक्ष सहयोग कहा जाएगा। चुनाव में किसी प्रत्याशी को विजयी बनाने के लिए कुछ लोगों के द्वारा मिलकर प्रचार करना प्रत्यक्ष सहयोग का ही उदाहरण है। इस प्रकार के सहयोग में सदस्यों को एक-दूसरे से अन्त:प्रेरणा प्राप्त होती है।
2. **अप्रत्यक्ष सहयोग**—जब किसी समान उद्देश्य की पूर्ति के लिए सहयोग करने वाले लोग असमान या भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य करते है तो इसे अप्रत्यक्ष सहयोग कराते हैं। इसमें उद्देश्य तो समान होता है, परन्तु कार्य भिन्न-भिन्न होते हैं। किसी महाविद्यालय या विश्वविद्यालय के विभिन्न कर्मचारियों के बीच पाया जाने वाला सहयोग अप्रत्यक्ष सहयोग का ही उदाहरण है। यहाँ कर्मचारी अलग-अलग कार्य करते हुए समान उद्देश्य की पूर्ति में सहयोग देते हैं। श्रम-विभाजन भी अप्रत्यक्ष सहयोग का ही उदाहरण है। एक कपड़ा बनाने वाली फैक्ट्री में लोग अलग-अलग कार्यों में लगे होते हैं, परन्तु उन सबका उद्देश्य एक ही है और वह है—कपड़ा बनाना। आज के आधुनिक जटिल समाजों में जहाँ द्वैतीयक सम्बन्धों और समूहों की प्रधानता है, अप्रत्यक्ष सहयोग का महत्त्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है।

प्रो० ग्रीन ने सम्बन्धों की प्रकृति के आधार पर सहयोग के निम्नलिखित तीन प्रकार बताए हैं—

1. **प्राथमिक सहयोग**—इस प्रकार का सहयोग सामान्यत: प्राथमिक समूहों में पाया जाता है जहाँ घनिष्ठ व आमने-सामने के सम्बन्ध होते हैं। इसमें व्यक्ति और समूह के स्वार्थ में कोई अन्तर नहीं रह जाता। व्यक्ति समूह के हित और कल्याण को ही अपना हित और कल्याण समझता है। परिवार, पड़ोस, मित्र-मण्डली, छोटे आदिम और ग्रामीण समुदायों में प्राय: इसी प्रकार का सहयोग पाया जाता है।
2. **द्वितीयक सहयोग**—इस प्रकार का सहयोग आधुनिक जटिल समाजों की प्रमुख विशेषता है। ऐसे समाजों में द्वितीयक समूह विशेषत: पाए जाते हैं। इन समूहों में पाया जाने वाला औपचारिक सहयोग द्वितीयक सहयोग के अन्तर्गत आता है। इसमें व्यक्ति समूह से सहयोग करता है, परन्तु अपने व्यक्तिगत स्वार्थ या हित को ध्यान में रखकर इसमें समूह-कल्याण की प्रधानता नहीं होकर व्यक्ति कल्याण की प्रधानता होती है।
3. **तृतीयक सहयोग**—जब व्यक्ति अथवा समूह अपने हित को ध्यान में रखकर एक समय विशेष में परिस्थितियों के साथ अनुकूलन करना चाहते हैं तो उसे तृतीयक सहयोग कहते हैं। व्यवस्थापन (Accommodation) इस प्रकार के सहयोग का ही उदाहरण है। जब दो समूह या राष्ट्र एक-दूसरे के साथ संघर्ष करते-करते थक जाते हैं और बदली हुई परिस्थितियों में परस्पर अनुकूलन कर लेते हैं तो उनमें पाए जाने वाले सहयोग को तृतीयक सहयोग कहा जाएगा।

ऑगबर्न और निमकॉफ ने सहयोग के निम्नलिखित तीन प्रकार बताए हैं—

1. **सामान्य सहयोग**—इस प्रकार के सहयोग में कुछ लोग मिलकर समान या एक-सा कार्य करते हैं। ऐसा किसी समान लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए किया जाता है। इस प्रकार के सहयोग में सभी व्यक्तियों के विचारों एवं व्यवहारों में सामान्यत: समानता पाई जाती है। बाढ़ में फँसे लोगों को सुरक्षित स्थानों पर पहुँचाना या दलदल में फँसी किसी गाड़ी को बाहर निकालना सामान्य सहयोग ही है।
2. **मित्रवत् सहयोग** (Friendly Co-operation)—जब आनन्द या सुख की प्राप्ति के लिए एक-दूसरे के साथ सहयोग किया जाता है तो उसे मित्रवत् सहयोग कहते हैं। परिवारजनों, पड़ोसियों, मित्रों, साथियों एवं रिश्तेदारों के साथ सामान्य सुख के लिए मिल-जुलकर काम करना मित्रवत् सहयोग का ही उदाहरण है। आनन्द के लिए साथ-साथ गाना गाना या नृत्य करना मित्रवत् सहयोग ही है।
3. **विभेदीकृत सहयोग** (Differentiated Co-operation)—इसे विभिन्न श्रमों के एकीकरण के नाम से भी पुकारा जाता है। जब समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए व्यक्ति असमान कार्य करते हैं तो इसे विभेदीकृत सहयोग कहते हैं। इसमें पारस्परिक सहायता पर जोर दिया जाता है। श्रमदान के आधार पर बनाए जाने वाले पंचायत भवन या विद्यालय के लिए विभिन्न व्यक्ति अलग-अलग कार्य करते हुए अपना सहयोग प्रदान करते हैं। यहाँ प्रत्येक के द्वारा किया जाने वाला कार्य

तो असमान है, परन्तु उद्देश्य समान है। बाढ़ या अकाल के समय भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य करते हुए लोगों की सहायता करना विभेदीकृत सहयोग का उदाहरण है।

प्र.3. संघर्ष का अर्थ, परिभाषा एवं विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर

संघर्ष का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Conflict)

जब कोई व्यक्ति या समूह अपने किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विरोधी को नुकसान पहुँचाने, नष्ट करने, उसके हितों को चोट पहुँचाने या उसके कार्य में बाधा डालने का प्रयत्न करता है तो इसे संघर्ष के नाम से पुकारा जाता है। ऐसे प्रयत्न में शक्ति, हिंसा, प्रतिकार या विरोध का सहारा लिया जाता है। इनकी सहायता से अन्य व्यक्तियों या समूहों के लक्ष्य-प्राप्ति के मार्ग में बाधा उत्पन्न की जाती है।

संघर्ष का अर्थ स्पष्ट करते हुए **मैकाइवर** तथा **पेज** (MacIver and Page) ने लिखा है, "सामाजिक संघर्ष में वे सभी क्रिया-कलाप सम्मिलित हैं जिनमें मनुष्य किसी भी उद्देश्य के लिए एक-दूसरे के विरुद्ध लड़ते या विवाद करते हैं।"

ए०डब्ल्यू० ग्रीन (A.W. Green) के अनुसार, "संघर्ष दूसरे या दूसरों की इच्छा के विरोध, प्रतिकार या बलपूर्वक रोकने के विचारपूर्वक प्रयत्न को कहते हैं।"

गिलिन तथा **गिलिन** (Gillin and Gillin) ने लिखा है, "संघर्ष वह सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति अथवा समूह अपने लक्ष्यों की प्राप्ति विरोधी को प्रत्यक्ष हिंसा या हिंसा की चुनौती देकर करते हैं।"

स्पष्ट है कि **अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए बल-प्रयोग या हिंसा की धमकी द्वारा दूसरों की इच्छाओं को दबाना या उनके उद्देश्यों की प्राप्ति के मार्ग में बाधा उपस्थित करना ही संघर्ष है।** विभिन्न विद्वानों ने संघर्ष में हिंसा, आक्रमण एवं उत्पीड़न को साधारणत: आवश्यक माना है। **किंग्सले डेविस** के अनुसार, जहाँ प्रतिस्पर्धियों का ध्यान प्रतिस्पर्धा से हटकर प्रतिद्वन्द्वियों पर केन्द्रित हो जाता है, वहीं संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है।

संघर्ष की विशेषताएँ (Characteristics of Conflict)

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर संघर्ष की निम्नलिखित विशेषताएँ सामने आती हैं जो संघर्ष की प्रकृति को स्पष्ट करने में योग देती हैं—

1. संघर्ष के लिए दो या दो से अधिक व्यक्तियों अथवा समूहों का होना आवश्यक है जो **एक-दूसरे के हितों को हिंसा** (Voilence) **की धमकी, आक्रमण, विरोध या उत्पीड़न के माध्यम से चोट पहुँचाने की कोशिश करते हैं।**
2. संघर्ष एक **चेतन प्रक्रिया** (Conscious Process) है जिसमें संघर्षरत व्यक्तियों या समूहों को एक-दूसरे की गतिविधियों का ध्यान रहता है। वे अपने लक्ष्य की प्राप्ति के साथ-साथ विरोधी को मार्ग से हटाने का प्रयत्न भी करते हैं।
3. संघर्ष एक **वैयक्तिक प्रक्रिया** (Personal Process) है। इसका तात्पर्य यह है कि संघर्ष में ध्यान लक्ष्य पर केन्द्रित न होकर प्रतिद्वन्द्वियों पर केन्द्रित हो जाता है। यहाँ सामान्य व्यक्तियों या समूहों के साथ संघर्ष नहीं किया जाता बल्कि व्यक्ति विशेष या समूह विशेष के साथ संघर्ष किया जाता है। परिणामस्वरूप प्रतिद्वन्द्वी एक-दूसरे को भली-भाँति जानते हैं और इसीलिए इसे वैयक्तिक प्रक्रिया माना गया है।
4. संघर्ष एक **अनिरन्तर प्रक्रिया** (Intermittent Process) है। इसका अर्थ यही है कि संघर्ष सदैव नहीं चलता रहता बल्कि रुक-रुक कर चलता है। इसका कारण यह है कि संघर्ष के लिए शक्ति और अन्य साधन जुटाने पड़ते हैं जो किसी भी व्यक्ति या समूह के पास असीमित मात्रा में नहीं पाए जाते। परिणामस्वरूप कोई भी व्यक्ति या समूह सदैव संघर्षरत नहीं रह सकता। इतिहास बताता है कि मानव ने युद्ध में जितना समय बिताया उससे कई गुना अधिक समय शान्ति में बिताया है।
5. संघर्ष एक **सार्वभौमिक प्रक्रिया** (Universal Process) है। इसका तात्पर्य यह है कि संघर्ष किसी-न-किसी रूप में प्रत्येक समाज और प्रत्येक काल में कम या अधिक मात्रा में अवश्य पाया जाता है। जहाँ व्यक्तियों और समूहों के स्वार्थ एक-दूसरे से टकराते हैं, वहीं संघर्ष उत्पन्न हो जाता है।

प्र.4. संघर्ष के विविध स्वरूपों का उल्लेख कीजिए।
***अथवा* मैकाइवर और पेज द्वारा वर्णित संघर्ष के प्रकारों पर प्रकाश डालिए।**

उत्तर

संघर्ष के स्वरूप
(Forms of Conflict)

संघर्ष के विभिन्न स्वरूपों में **गिलिन** तथा **गिलिन** द्वारा बताये हुए निम्नलिखित पाँच स्वरूप प्रमुख हैं—

1. **वैयक्तिक स्वरूप**—आपसी हितों के टकराने से व्यक्ति-व्यक्ति के बीच होने वाला संघर्ष वैयक्तिक संघर्ष के अन्तर्गत आता है। ऐसे संघर्ष में विरोधियों में एक-दूसरे के प्रति घृणा, वैमनस्य या शत्रुता के भाव पाए जाते हैं। व्यक्ति प्रारम्भ में अपने विरोधी से घृणा करता है, उसे नीचा दिखाने का प्रयत्न करता है, डराता या धमकाता है, गाली-गलौज और मौका आने पर मारपीट तक करता है। व्यक्तिगत संघर्ष प्रमुखत: धन, स्त्री और जमीन को लेकर होते हैं। इस प्रकार के संघर्षों को देखने का मौका साधारणत: प्रत्येक को मिलता रहता है। इस प्रकार के संघर्ष को समूह प्रोत्साहित नहीं करता।
2. **प्रजातीय संघर्ष**—यह समूहगत संघर्ष में आता है। एक प्रजाति और दूसरी प्रजाति में शारीरिक अन्तर स्पष्टत: दिखायी पड़ते हैं और जब दो भिन्न प्रजातियाँ एक-दूसरे के सम्पर्क में आती हैं तो कई बार उनमें संघर्ष भड़क उठता है। इसे ही प्रजातीय संघर्ष कहते हैं। इस प्रकार के संघर्ष अमरीका में श्वेत और नीग्रो प्रजातियों और अफ्रीका में श्वेत और श्याम प्रजातियों के लोगों के बीच पाए जाते हैं। प्रजातीय संघर्ष का एक प्रमुख कारण अपनी प्रजाति को अन्य प्रजातियों की तुलना में श्रेष्ठ समझने की अवैज्ञानिक धारणा है। यद्यपि प्रजातीय संघर्ष के लिए शारीरिक अन्तरों को उत्तरदायी माना जाता है, परन्तु वास्तव में इसके लिए सांस्कृतिक भिन्नता और विशेषत: आर्थिक हितों का टकराव प्रमुख रूप से उत्तरदायी है।
3. **वर्ग संघर्ष**—आज वर्ग संघर्ष विश्व के अनेक देशों में भीषण रूप धारण करता जा रहा है। जब एक समूह अपने को श्रेष्ठ और अन्य को हीन समझकर अपने स्वार्थ या हितों के लिए उसे अपने अधिकार में रखने का प्रयत्न करता है तो वर्ग-संघर्ष देखने को मिलता है। इस प्रकार के हितों में आर्थिक लाभ, राजनीतिक शक्ति या सामाजिक प्रतिष्ठा आदि आते हैं। औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप बढ़ते हुए पूँजीवाद ने वर्ग संघर्ष को बढ़ाने में योग दिया है। पूँजीवाद के विकास के कारण उद्योगपतियों और मजदूरों में आर्थिक विषमताएँ या अन्तर बढ़ते गए। मिल-मालिक अधिक-से-अधिक लाभ कमाने हेतु मजदूरों का शोषण करने लगे। पूँजीपति वर्ग या उच्च वर्ग के पास प्रतिष्ठा एवं धन की जबकि श्रमिक या निम्न वर्ग के पास संख्या, संगठन एवं श्रम की शक्ति है। इन दोनों वर्गों के हितों के टकराने से हड़ताल, घेराव, तालाबन्दी, तोड़-फोड और मारपीट तक की घटनाएँ होती हैं।
4. **राजनीतिक संघर्ष**—राजनीतिक संघर्ष के दो रूप देखने को मिलते हैं; प्रथम, एक ही राष्ट्र के विभिन्न राजनीतिक दलों के बीच होने वाला संघर्ष और द्वितीय, विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के बीच होने वाला संघर्ष जिसे अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष कहा जाता है। जिन राष्ट्रों में विचार व्यक्त करने और संगठन बनाने की स्वतन्त्रता होती है और प्रजातन्त्रात्मक प्रकार की शासन-व्यवस्था पाई जाती है, वहाँ अनेक राजनीतिक दल बन जाते हैं। ये दल अपने सिद्धान्तों, नीतियों और कार्यक्रमों के आधार पर शान्तिमय तरीके से जनता का समर्थन प्राप्त कर अपनी-अपनी सरकार बनाने का प्रयत्न करते हैं। इसे राजनीतिक दलों के बीच पाई जाने वाली प्रतिस्पर्धा कहा जाएगा, लेकिन कई बार एक राजनीतिक दल दूसरे दल या विरोधी नेताओं के विरुद्ध घृणा फैलाता है, भ्रामक प्रचार करता है, चरित्र-हनन का प्रयत्न करता है और जब ये बातें बढ़ जाती हैं तो टकराव होता है, मारपीट होती है, हत्या तक का सहारा लिया जाता है। यह राजनीतिक संघर्ष ही है।
5. **अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष**—इस प्रकार का संघर्ष सामूहिक संघर्ष का ही एक प्रकार है। विभिन्न राष्ट्रों के बीच समय-समय पर होने वाले युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष के ही उदाहरण हैं। भारत और पाकिस्तान तथा भारत और चीन के बीच होने वाले युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष के अन्तर्गत ही आते हैं। आज संसार के प्रमुख राष्ट्र दो विरोधी गुटों में विभक्त हैं, जो एक-दूसरे के विरुद्ध घृणा फैलाते हैं, विषैला प्रचार करते हैं जिससे आपसी तनाव और संघर्ष की सम्भावना बढ़ती जाती है।

मैकाइवर और पेज ने संघर्ष के दो प्रकार—प्रत्यक्ष संघर्ष और अप्रत्यक्ष संघर्ष बताए हैं—

1. **प्रत्यक्ष संघर्ष**—व्यक्ति-व्यक्ति और समूह-समूह के बीच होने वाले आमने-सामने के संघर्ष प्रत्यक्ष संघर्ष ही हैं। इस प्रकार के संघर्ष में रत व्यक्तियों या समूहों को प्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता है। दो या कुछ व्यक्तियों, जातियों, सम्प्रदायों तथा राष्ट्रों के बीच होने वाली मारपीट, हत्या, झगड़े, दंगे, युद्ध, क्रान्ति आदि इसी श्रेणी में आते हैं। यहाँ दो पक्ष एक-दूसरे के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आकर लड़ाई-झगड़ा या संघर्ष शुरू कर देते हैं।

2. **अप्रत्यक्ष संघर्ष**—इसमें दो विरोधी प्रत्यक्ष रूप से एक-दूसरे के सम्पर्क में नहीं आकर इस प्रकार से कार्य करते हैं कि एक-दूसरे के हितों या लक्ष्यों की पूर्ति में बाधा पड़ती है। अनियन्त्रित प्रतिस्पर्धा और विभिन्न राष्ट्रों के बीच चलने वाला शीत-युद्ध (Cold War) अप्रत्यक्ष संघर्ष के ही उदाहरण हैं। इस प्रकार के संघर्ष में विरोधी के प्रति घृणा, अविश्वास एवं शत्रुता के भाव पाए जाते हैं, हिंसा के प्रयोग और नुकसान पहुँचाने की बलवती इच्छा पाई जाती है, परन्तु इन सबकी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति नहीं होकर अप्रत्यक्ष तरीके से अभिव्यक्ति होती है। दो उद्योगपति एक-दूसरे को प्रत्यक्ष रूप से नहीं जानते हुए भी एक-दूसरे को अपना शत्रु मानकर अपनी क्रियाओं का संचालन इस प्रकार से कर सकते हैं कि दूसरे के उद्देश्य प्राप्ति के मार्ग में बाधा उपस्थित हो जाए। यह अप्रत्यक्ष संघर्ष ही है जिसमें संघर्ष के सभी लक्षण मौजूद रहते हैं।

प्र.5. संघर्ष के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख करते हुए इसके मुख्य कारणों या कारकों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

संघर्ष के प्रकार
(Types of Conflict)

संघर्ष के विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग रूप बताए हैं। **मैकाइवर** एवं **पेज** ने सहयोग को 'प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष' रूप में विभाजित किया। **गिलिन और गिलिन** ने संघर्ष को निम्नलिखित पाँच रूपों में स्पष्ट किया है—

1. **वैयक्तिक संघर्ष**—दो व्यक्तियों के मध्य संघर्ष को वैयक्तिक संघर्ष कहा जाता है। हम अक्सर दो व्यक्तियों के बीच हाथा-पाई जैसे अनेक हिंसात्मक कार्यों को देखते हैं, इस प्रकार संघर्ष के कई कारण हो सकते है; जैसे—घृणा, द्वेष, क्रोध, शत्रुता आदि। दो व्यक्ति हिंसात्मक उपायों को अपनाने से पहले एक-दूसरे की दुर्बलता का चित्रण करते हैं, डराते हैं, अपशब्दों का प्रयोग करते हैं; उसके बाद शारीरिक बल तथा अस्त्रों का प्रयोग करते हैं।
2. **प्रजातीय संघर्ष**—प्रजातीय संघर्ष सामूहिक संघर्ष की श्रेणी में आते हैं। प्रत्येक प्रजाति अपने शारीरिक बनावट एवं रहन-सहन से एक-दूसरे से भिन्न होती है, ऐसे में जब वह कभी एक-दूसरे के सम्पर्क में आती है तो प्राय: उनमें संघर्ष छिड़ जाता है। इसलिए इसे प्रजातीय संघर्ष कहा जाता है। इस प्रकार के संघर्ष का स्वरूप अफ्रीका में श्वेत और श्याम प्रजातियों तथा अमरीका में श्वेत और निग्रो प्रजातियों के मध्य पाए जाते हैं। प्रजातीय संघर्ष का मुख्य आधार अपनी प्रजाति को अन्य प्रजातियों की तुलना में श्रेष्ठ समझने की अवैज्ञानिक धारणा है। इसके साथ ही प्रजातीय संघर्ष का प्रमुख कारण आर्थिक हितों का टकराव, सांस्कृतिक भेद की भिन्नता आदि है।
3. **वर्ग संघर्ष**—वर्तमान समय में वर्ग संघर्ष बहुत तेजी से बढ़ता जा रहा है। जब भी एक समूह अपने आप को श्रेष्ठ तथा अन्य को हीनता की नजर से देखता है तथा हीनता के साथ-साथ अपने स्वार्थ एवं हितों (जैसे—आर्थिक लाभ, राजनीतिक शक्ति या सामाजिक प्रतिष्ठा आदि) के लिए उन पर अधिकार स्थापित करने का प्रयत्न करता है तो ऐसी स्थिति में वर्ग-संघर्ष उत्पन्न होता है। औद्योगीकरण के फलस्वरूप पूँजीवाद के विकास के कारण वर्ग संघर्ष को बढ़ावा मिला है। पूँजीवाद के विकास के परिणामस्वरूप मजदूरों तथा उद्योगपतियों में आर्थिक असमानताओं का अन्तर बढ़ता गया; जैसे—मिल-मालिक द्वारा आधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से मजदूरों का शोषण किया जाए। इन दोनों वर्गों के बीच आपसी मतभेद, हड़ताल, तोड़फोड़ आदि बढ़ने लगे और वर्ग संघर्ष व्यापक रूप से बढ़ता गया।
4. **राजनीतिक संघर्ष**—राजनीतिक संघर्ष क्रमश: दो रूपों में होता है; पहला, विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के बीच संघर्ष (अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष) तथा दूसरा एक ही राष्ट्र के भीतर विभिन्न राजनीतिक दलों के मध्य होने वाला राजनीतिक संघर्ष। लोकतान्त्रिक राष्ट्रों में अलग-अलग राजनीतिक दल होते है, जिसमें सभी के अपने विचार, सिद्धान्त, उद्देश्य एवं कार्य-शैली होती है। ऐसे में सत्तादल के अलावा बाकी सभी विरोधी दल होते हैं जो सत्तादल के साथ प्रतिस्पर्धा करते हैं तथा कुछ समय में प्रतिस्पर्धा इतनी उग्र हो जाती है कि उनमें नेताओं तथा दलों के प्रति भ्रामक प्रचार, घृणा तथा कार्यकर्ताओं के मतभेद के साथ-साथ आपसी टकराव भी हो सकता है, जिसे राजनीतिक संघर्ष कहा जाता है।
5. **अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष**—यह संघर्ष का ही एक भाग है। विभिन्न राष्ट्रों के बीच होने वाले मतभेद, युद्ध आदि अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों का ही उदाहरण है। वर्तमान समय में राष्ट्रों में आपसी टकराव, मतभेद, दुष्प्रचार तथा जमीनी स्तर पर भी तनावपूर्ण स्थिति बन जाती है, जिसे अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष कहा जाता है; जैसे—भारत और चीन तथा भारत और पकिस्तान के बीच होने वाले युद्ध।

संघर्ष के कारण या कारक
(Causes or Factors of Conflict)

समाज में संघर्ष के कारण एवं कारकों का वर्णन निम्नलिखित प्रकार से किया गया है—

1. **दोषपूर्ण पालन-पोषण**—सामाजिक संघर्ष का एक कारण बच्चों के दोषपूर्ण पालन-पोषण की पद्धति से है। **मीड** (Mead 1953) ने अपने अध्ययन के आधार पर बतलाया कि बच्चों के व्यक्तित्व के निर्माण में पालन-पोषण की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। भारतीय परिवेश में विभिन्न समाजों में बच्चों के पालन-पोषण तथा समाजीकरण के दोषपूर्ण होने के कारण दोनों समाजों के लोगों में एक-दूसरे के प्रति बैर-भाव, नापसन्दगी, घृणा आदि का विकास होता है। जो सामाजिक संघर्ष का कारण बनता है।
2. **धार्मिक विश्वास**—परस्पर विरोधी धार्मिक विश्वास तथा सँकरी मानसिकता भी सामाजिक संघर्ष का एक बहुत बड़ा कारण देखा गया है कि धार्मिक कट्टरपन के कारण भी देश-विदेश में बड़े-बड़े युद्ध हुए हैं तथा मासूम लोगों का खून बहा है।
3. **राष्ट्रीय सम्पत्ति का असमान वितरण**—निर्धन तथा अमीर के बीच संघर्ष एक लम्बे समय से लेकर आज तक जारी है तथा आगे भी जारी रहेगा यदि दोनों के बीच आर्थिक दूरी को कम न किया गया। अमीर लोग निर्धन लोगों पर अत्याचार करते हैं। उनके साथ अमानवीय व्यवहार करते हैं तथा उन पर अपना आधिपत्य जमाते हैं। दूसरी तरफ निर्धन लोग उन्हें शोषक समझते हैं तथा उनकी सम्पत्ति को हड़पने का प्रयास करते हैं परिणामस्वरूप संघर्ष शुरू हो जाता है।
4. **दोषपूर्ण सामाजिक ढाँचा**—सामाजिक ढाँचे के दोषपूर्ण होने के कारण कुछ सामाजिक प्रतिष्ठा के शिखर पर स्थान पाते हैं, कुछ जमीन पर तो कुछ मध्य में। हमारा समाज तीन वर्गों में विभाजित है—उच्च मध्य तथा निम्न। इस आर्थिक असमानता के साथ-साथ सामाजिक असमानता भी दु:खदायी है। भारतीय समाज मे पिछड़ा वर्ग तथा उन्नत वर्ग के बीच संघर्ष का सबसे बड़ा कारण सामाजिक असमानता है।
5. **सांस्कृतिक विभिन्नताएँ**—सामाजिक संघर्ष को उत्पन्न करने में सांस्कृतिक भिन्नताओं का भी हाथ होता है। भिन्न संस्कृति मे प्रतिरूपों में भी भिन्नताएँ पाई जाती हैं। उनके विश्वास, मूल्य, परम्परा, मान्यता आदि भिन्न व विरोधी स्वरूप के होते हैं। ये विरोध ही उनके बीच संघर्ष का कारण बन जाता है तथा विरोधी मान्यता दोनों सम्प्रदायों के बीच संघर्ष का आधार है।
6. **निराशा**—सामाजिक संघर्ष का एक महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक कारण है जब किसी समूह को अपने लक्ष्य को पूरा करने में असफलता होती है तो वह निराशा का शिकार बन जाता है। इसके समाधान हेतु वह अपने से भिन्न तथा कमजोर समूह के प्रति आक्रामक तथा हिंसक हो जाता है। यहाँ यह ध्यान रखने योग्य बात है कि आक्रमण करने वाला प्राय: प्रधान समूह का होता है तथा आक्रमण का शिकार निम्न समूह होता है।

प्र.6. प्रतिस्पर्धा प्रतियोगिता का अर्थ, परिभाषा एवं विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर

प्रतिस्पर्धा/प्रतियोगिता का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Competition)

प्रतिस्पर्धा या प्रतियोगिता को एक असहगामी सामाजिक प्रक्रिया माना गया है। इसका कारण यह है कि प्रतिस्पर्धियों में कम या अधिक मात्रा में एक-दूसरे के प्रति कुछ ईर्ष्या-द्वेष के भाव पाए जाते हैं। प्रत्येक दूसरों को पीछे रखकर स्वयं आगे बढ़ना चाहता है, अपने उद्देश्य को प्राप्त करना चाहता है। अत्यधिक या अनियन्त्रित प्रतिस्पर्धा समाज में संगठन को ठेस पहुँचाती है और उसे विघटन की ओर ले जाती है, परन्तु साथ ही प्रतिस्पर्धा व्यक्तियों, समूहों और राष्ट्रों को प्रगति करने, आगे बढ़ने तथा अपनी स्थिति को ऊँचा उठाने की प्रेरणा भी देती है, कुशलतापूर्वक निरन्तर प्रयत्न करते रहने को प्रोत्साहित करती है, कार्य को उत्तमता के साथ पूरा करने में मदद देती है। आधुनिक समय में प्रतिस्पर्धा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पाई जाती है। खिलाड़ी, विद्यार्थी, व्यापारी, उद्योगपति, वकील, डॉक्टर, राजनीतिज्ञ, कवि, साहित्यकार आदि हर समय एक-दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते हैं। जहाँ माँग पूर्ति से अधिक होती है, वहाँ सीमित वस्तु को प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति एक-दूसरे से होड़ करते हैं, उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं। जहाँ दो या दो से अधिक व्यक्ति या समूह किसी ऐसे लक्ष्य की प्राप्ति का नियमों के अन्तर्गत प्रयत्न करते हैं जो माँग की तुलना में कम है, वहाँ इसे प्रतिस्पर्धा कहते हैं। प्रतिस्पर्धा में लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नियम, प्रथा या परम्परा के अनुसार प्रयत्न करना होता है, इसमें हिंसा का सहारा नहीं लिया जाता। जब बल प्रयोग, हिंसा या छल-कपट को काम में लेते हुए लक्ष्य प्राप्ति का प्रयत्न किया जाता है, तो वहाँ इसे प्रतिस्पर्धा नहीं कहकर संघर्ष कहते हैं।

गिलिन और **गिलिन** के अनुसार, "प्रतिस्पर्धा वह सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें प्रतिद्वन्द्वी व्यक्ति या समूह किसी जनता के समर्थन तथा प्राथमिकता के माध्यम से लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और उस व्यक्ति या समूह को अपने हितों के समर्थन में अनुरोध करते हैं न कि अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए हिंसा या इसके भय का प्रयोग।"

बीसंज और **बीसंज** के अनुसार, "प्रतिस्पर्धा दो या दो से अधिक व्यक्तियों के समान उद्देश्य जो इतना सीमित है कि सब उसके भागीदार नहीं बन सकते, को पाने के प्रयत्न को कहते हैं।"

बोगार्डस ने लिखा है, "प्रतिस्पर्धा किसी ऐसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए होड़ है जो कि इतनी मात्रा में नहीं पाई जाती है कि उसकी माँग को पर्याप्त रूप से पूरा किया जा सके।"

ग्रीन ने लिखा है, "प्रतिस्पर्धा में दो या अधिक व्यक्ति या समूह समान लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करते है जिसको कोई भी दूसरों के साथ बाँटने के लिए न तो तैयार होता और न ही इसकी अपेक्षा की जाती है।"

सदरलैण्ड एवं **अन्य** के अनुसार, "प्रतिस्पर्धा व्यक्तियों या समूहों के बीच उन सन्तुष्टियों, जिन्हें उनके सीमित होने के कारण सब प्राप्त नहीं कर सकते, की प्राप्ति हेतु एक अवैयक्तिक, अचेतन तथा निरन्तर प्रयास है।"

अकोलकर ने प्रतिस्पर्धा का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि वह (प्रतिस्पर्धा) दो या अधिक व्यक्तियों अथवा समूहों के मध्य धन, प्रस्थिति, सम्मान, लोकप्रियता, शक्ति या प्रभाव को दूसरे के बजाय, अधिक प्राप्त करने के लिए होने वाली एक दौड़ है। प्रतिस्पर्धा उस समय होती है जब इच्छित वस्तु की मात्रा सीमित होती है।"

उपर्युक्त सभी विद्वानों ने अपने-अपने तरीके से प्रतिस्पर्धा का अर्थ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इन परिभाषाओं से ज्ञात होता है कि **प्रतिस्पर्धा दो या दो से अधिक व्यक्तियों या समूहों के बीच किसी सीमित वस्तु, अधिकार या सेवा को प्राप्त करने के लिए प्रथा या नियम के अन्तर्गत किया गया प्रयत्न है।**

प्रतिस्पर्धा/प्रतियोगिता की विशेषताएँ (Characteristics of Competition)

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर प्रतिस्पर्द्धा की निम्न विशेषताएँ भी उभरकर सामने आती है—

1. प्रतिस्पर्धा **दो या दो से अधिक व्यक्तियों या समूहों के बीच** किसी सीमित वस्तु, अधिकार या सेवा, जिसकी पूर्ति माँग की तुलना में कम है, की प्राप्ति का प्रयत्न है।
2. प्रतिस्पर्धा में **किसी तीसरे पक्ष का होना आवश्यक** है जिसके समर्थन को प्राप्त करने का प्रयत्न दोनों पक्षों के द्वारा किया जाता है। दो व्यक्तियों के लिए तीसरा पक्ष ग्राहक, दो प्रेमियों के लिए वह युवती जिसका प्रेम पाने के लिए दोनों लालायित हैं और परीक्षार्थियों के लिए परीक्षक है।
3. प्रतिस्पर्धा सामान्यत: एक **अवैयक्तिक क्रिया** (Impersonal Process) है। आई०ए०एस० या आर०ए०एस० या माध्यमिक बोर्ड की परीक्षाओं में बैठने वाले परीक्षार्थियों की संख्या हजारों-लाखों में होती है, जो अपने-अपने तरीके से परीक्षा की तैयारी करते हैं और जिन्हें एक-दूसरे के बारे में कुछ भी जानकारी साधारणत: नहीं होती। प्रतिस्पर्धा करने वाले एक-दूसरे से अपरिचित होते हुए भी नियमों के अनुसार लक्ष्य-प्राप्ति की कोशिश करते रहते हैं, परन्तु कई बार प्रतिस्पर्धा करने वाले व्यक्तियों में सीधा तथा वैयक्तिक सम्पर्क भी होता है। उदाहरण के रूप में, एक ही स्थान या नगर के दो व्यापारियों या उद्योगपतियों के बीच पाई जाने वाली प्रतिस्पर्धा।
4. प्रतिस्पर्धा की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता **अहिंसात्मक तरीके से लक्ष्य-प्राप्ति का प्रयत्न है।** जहाँ संघर्ष में हिंसा या हिंसा की धमकी का सहारा लिया जाता है, वहाँ प्रतिस्पर्धा में अहिंसात्मक तरीकों पर जोर दिया जाता है। जहाँ प्रतिस्पर्धियों का ध्यान लक्ष्य से हटकर एक-दूसरे पर केन्द्रित हो जाता है और जहाँ वे नियमों की परवाह किए बिना लक्ष्य प्राप्ति के लिए हिंसा, भय, आतंक आदि का प्रयोग करते हैं वहीं प्रतिस्पर्धी संघर्ष का रूप ग्रहण कर लेती है।
5. प्रतिस्पर्धा सामान्यत: एक **अचेतन प्रक्रिया** (Unconscious Process) है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रतिस्पर्धी एक-दूसरे के प्रयत्नों के प्रति अजागरूक होते हैं। वे तो अपने स्वयं के उद्देश्यों और प्रयत्नों के प्रति ही जागरूक होते हैं। उन्हें सामान्यत: दूसरे प्रतिस्पर्धियों के सम्बन्ध में जानकारी नहीं होती, परन्तु कभी-कभी प्रतिस्पर्धी चेतन प्रक्रिया भी होती है, जैसे खेल के मैदान में आमने-सामने खड़ी दो फुटबॉल की टीमों के बीच पाई जाने वाली प्रतिस्पर्धा।
6. प्रतिस्पर्धा एक **निरन्तर प्रक्रिया** (Continuous Process) है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा हर समय पाई जाती है। आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में आगे बढ़ने या उन्नति करने के लिए व्यक्ति को सदैव

प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है। आधुनिक, जटिल और गत्यात्मक समाजों में सापेक्ष रूप से स्थिर समाजों की तुलना में प्रतिस्पर्धा अधिक पाई जाती है।

7. प्रतिस्पर्धा एक **सार्वभौमिक प्रक्रिया** (Universal Process) है, इसका तात्पर्य यही है कि प्रतिस्पर्धा प्रत्येक समाज, स्थान एवं काल में मौजूद रहती है, यहाँ तक कि समाजवादी देशों में भी प्रतिस्पर्धा पाई जाती है। प्रतिस्पर्धा उन्हीं समाजों में नहीं होगी, जहाँ प्रत्येक वस्तु की बहुतायत हो और पूर्ति माँग से कम नहीं हो, परन्तु ऐसी स्थिति आज किसी भी समाज में साधारणत: देखने को नहीं मिलती।

प्र.7. प्रतिस्पर्धा के प्रमुख प्रकारों का उल्लेख करते हुए इसके विविध स्वरूपों का वर्णन कीजिए।

उत्तर

प्रतिस्पर्धा के प्रकार
(Types of Competition)

प्रतिस्पर्धा के दो प्रमुख प्रकार हैं—

1. **वैयक्तिक प्रतिस्पर्धा—गिलिन** और **गिलिन** ने इसे चेतन प्रतिस्पर्धा (Conscious Competition) के नाम से पुकारा है। इसमें प्रतिस्पर्धा करने वाले एक-दूसरे को व्यक्तिगत रूप से भली-भाँति जानते हैं। यह प्रतिस्पर्धा चेतन रूप में होती है, प्रतिस्पर्धी केवल एक-दूसरे को नहीं जानते बल्कि एक-दूसरे के प्रयत्नों के प्रति भी जागरूक होते हैं। दो प्रतिद्वन्द्वी प्रेमियों में किसी युवती के प्रेम को प्राप्त करने के लिए होने वाली प्रतिस्पर्धा वैयक्तिक या चेतन प्रतिस्पर्धा का ही उदाहरण है, अन्य उदाहरणों में किसी महाविद्यालय में होने वाली 'वाद-विवाद प्रतियोगिता' या अखाड़े में दो पहलवानों के बीच होने वाली कुश्ती प्रतियोगिता या कक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त करने के लिए विद्यार्थियों में होने वाली होड़ अथवा चुनाव में खड़े प्रत्याशियों के बीच मुकाबला आदि प्रमुख है।
2. **अवैयक्तिक प्रतिस्पर्धा—गिलिन** और **गिलिन** ने इसे **अचेतन प्रतिस्पर्धा** (Unconscious Competition) का नाम दिया है, इसमें प्रतियोगी एक-दूसरे को जानते-पहचानते नहीं हैं। वे अपने लक्ष्य एवं प्रयत्नों के प्रति ही जागरूक होते हैं न कि अन्य प्रतियोगियों के प्रति । भारतीय प्रशासनिक सेवा (I.A.S.) एवं अन्य प्रतियोगी परीक्षाओं में प्रति वर्ष हजारों की संख्या में परीक्षार्थी बैठते है, परन्तु वे न तो एक-दूसरे को ही जानते हैं और न ही एक-दूसरे के प्रयत्नों को। वे तो अपने-अपने तरीके से परीक्षा की तैयारी करते रहते हैं। अवैयक्तिक प्रतिस्पर्धा में प्रतियोगी एक-दूसरे को जानते नहीं, परन्तु वे अन्य की तुलना में आगे बढ़ने या प्रतियोगिता में सफल होने का प्रयत्न करते हैं। अवैयक्तिक प्रतिस्पर्धा प्रमुखत: विभिन्न समूहों; जैसे—राजनीतिक दलों, आर्थिक संगठनों एवं धार्मिक समूहों या राष्ट्रों के बीच पाई जाती है। आजकल के जटिल समाजों में अवैयक्तिक प्रतिस्पर्धा सभी क्षेत्रों में दिखाई पड़ती है।

प्रतिस्पर्धा के स्वरूप (Forms of Competition)

गिलिन और गिलिन ने प्रतिस्पर्धा के चार स्वरूपों का उल्लेख किया है जो इस प्रकार हैं—

1. **आर्थिक प्रतिस्पर्धा**—व्यापारियों और उद्योगपतियों के बीच आर्थिक प्रतिस्पर्धा पाई जाती है। वे अधिक लाभ कमाने के लिए एक-दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते हैं। उद्योगपति कम लागत पर अच्छे-से-अच्छा माल बनाकर उसे अन्य की तुलना में कम कीमत पर बेचकर मुनाफा कमाना चाहता है। इसके लिए वह अन्य उद्योगपतियों के साथ प्रतिस्पर्धा करता है। अर्थशास्त्रियों के अनुसार लोगों द्वारा इच्छित वस्तुओं की कमी के कारण आर्थिक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा पनपती है, सभी उत्तम से उत्तम वस्तुएँ, सुविधाएँ और सेवाएँ प्राप्त करना चाहते हैं, परन्तु माँग की तुलना में इसकी पूर्ति के सीमित होने के कारण लोगों में प्रतिस्पर्धा पाई जाती है। उत्पादन, विनिमय, वितरण तथा उपभोग के क्षेत्र में विभिन्न व्यक्तियों एवं समूहों के बीच पाई जाने वाली प्रतिस्पर्धा आर्थिक प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत ही आती है।
2. **सांस्कृतिक प्रतिस्पर्धा**—जब दो संस्कृतियों के लोग एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं तो सांस्कृतिक प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ होती है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी संस्कृति को श्रेष्ठ समझकर उसे दूसरों पर थोपने का प्रयत्न करता है। जब यह प्रयत्न प्रतिस्पर्धा के नियमों को लाँघकर हिंसा या बल प्रयोग का सहारा ले लेता है तो उस समय सांस्कृतिक प्रतिस्पर्धा सांस्कृतिक संघर्ष में बदल जाती है। भारत में जब अंग्रेज व्यापारी, धर्म-प्रचारक और प्रशासकीय अधिकारी के रूप में आए तो पाश्चात्य संस्कृति और भारतीय संस्कृति में प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ हुई, अंग्रेजों और भारतीयों की परम्पराओं,

मूल्यों, विश्वासों, दृष्टिकोणों, व्यवहार के तरीकों, आदर्शों एवं संस्थाओं में पाई जाने वाली प्रतिस्पर्धा सांस्कृतिक प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत ही आती है। स्वयं भारत में हिन्दुओं, मुसलमानों एवं ईसाइयों में सांस्कृतिक प्रतिस्पर्धा पाई जाती है।

3. **भूमिका या प्रस्थिति के लिए प्रतिस्पर्धा**—समाज में कुछ भूमिकाएँ और प्रस्थितियाँ अन्य की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। व्यक्ति और समूह उन भूमिकाओं को अदा करना या उन प्रस्थितियों को प्राप्त करना चाहते हैं जो उनकी स्वयं की, साथियों की और अन्य समूहों की दृष्टि में उच्च मानी जाती हैं। इसके लिए उन्हें अन्य के साथ प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है। ऐसे प्रयत्न को **मेलोक 'प्रभुत्व के लिए संघर्ष'** (The Struggle for domination) तथा मनोवैज्ञानिक 'अहम् की तुष्टि' (The Satisfaction of the ego) मानते हैं। अन्य शब्दों में इसे प्रतिष्ठा का सूचक भी माना जा सकता है। व्यक्ति आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि क्षेत्रों में उच्च प्रस्थिति प्राप्त करने या महत्त्वपूर्ण मानी जाने वाली भूमिका निभाने के लिए एक-दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धा करते रहते हैं।
4. **प्रजातीय प्रतिस्पर्धा**—एक प्रजाति और दूसरी प्रजाति में शारीरिक विशेषताओं; जैसे—चमड़ी का रंग, कद, मुँह की आकृति, बालों की विशेष बनावट आदि के आधार पर अन्तर पाए जाते हैं। साथ ही एक प्रजाति अपने आपको अन्य प्रजातियों से श्रेष्ठ होने का दावा भी करती है। यद्यपि यह एक भ्रामक धारणा है जिसे आज तक प्रमाणित नहीं किया जा सका है। इसी धारणा के आधार पर विभिन्न प्रजातियों में प्रतिस्पर्धा पाई जाती है। अमेरिका में श्वेत और नीग्रो लोगों तथा अफ्रीका में अंग्रेजों तथा मूल निवासियों के बीच पाई जाने वाली प्रतिस्पर्धा प्रजातीय प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत ही आती है। यह प्रतिस्पर्धा कई बार संघर्ष का रूप ग्रहण कर लेती है। गिलिन और गिलिन द्वारा बताये गये प्रतिस्पा के उपर्युक्त चार स्वरूपों के अतिरिक्त भारत में एक अन्य स्वरूप—**जातीय प्रतिस्पर्धा** भी देखने को मिलती है। वर्तमान में तो **अतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी प्रतिस्पर्धा** अनेक रूपों में दिखायी पड़ती है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों की तुलना में आर्थिक और औद्योगिक क्षेत्र में आगे बढ़ने या उन्नति करने के लिए प्रयत्न करता है। यही बात सैनिक तैयारियों के क्षेत्र में भी पाई जाती है। प्रत्येक राष्ट्र अन्य की तुलना में शस्त्रीकरण की दृष्टि से काफी आगे बढ़ जाना चाहता है। विभिन्न राष्ट्रों में आर्थिक शक्ति और साधन प्राप्त करने के लिए प्रतिस्पर्धा चलती ही रहती है।

प्र.8. प्रतिस्पर्धा के परिणाम एवं महत्त्वों की व्याख्या कीजिए।

उत्तर

प्रतिस्पर्धा के परिणाम एवं महत्त्व
(Results and Importance of Competition)

गिलिन और **गिलिन** ने प्रतिस्पर्धा के सहचारी (सहयोगात्मक), असहचारी (असहयोगात्मक), व्यक्तित्व सम्बन्धी, प्रगति सम्बन्धी, समूह-दृढ़ता सम्बन्धी तथा सामाजिक विघटन से सम्बन्धित परिणामों का उल्लेख किया है। यहाँ हम इन पर संक्षेप में विचार करेंगे—

1. **सहचारी (सहयोगात्मक) परिणाम**—स्वस्थ प्रतिस्पर्धा का सहचारी या संगठनात्मक परिणाम निकलता है। वकील, डॉक्टर, इन्जीनियर, विद्यार्थी, अध्यापक, नेता, अभिनेता, साहित्यकार, उद्योगपति, मजदूर, आदि प्रतिस्पर्धा के माध्यम से आगे बढ़ने और अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु साथ ही अपने-अपने व्यवसाय और वर्ग के हित में संगठन और समितियाँ भी बना लेते हैं। ये संगठन अपने सदस्यों के हित की रक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। प्रतिस्पर्धा का यह परिणाम समाज के लिए हितकर है।
2. **असहचारी (असहयोगात्मक) परिणाम**—प्रतिस्पर्धा के असहचारी परिणाम उस समय सामने आते हैं जब यह अत्यन्त कटु रूप धारण कर लेती है। ऐसी स्थिति में विभिन्न प्रतियोगी प्रतिस्पर्धा के नियमों की चिन्ता नहीं करते हुए अपने लक्ष्यों की प्राप्ति पर जोर देते हैं।
3. **व्यक्तित्व सम्बन्धी परिणाम—कूले** के अनुसार, "स्वस्थ प्रतिस्पर्धा विस्तृत सामाजिक अनुभव या ज्ञान को बढ़ाने में योग देती है।" जो व्यक्ति अन्य के साथ प्रतिस्पर्धा करता है, उसे उनके बारे में कुछ जानकारी प्राप्त करनी होती है, उनके उद्देश्यों, विचारों, व्यवहारों और विधियों को समझना होता है। जैसे-जैसे व्यक्ति दूसरों को समझता है, वैसे-वैसे उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। इस सम्बन्ध में **गिलिन** और **गिलिन** ने लिखा है कि इस प्रकार प्रतिस्पर्धा व्यक्ति के दृष्टिकोण को व्यापक बनाती है, बोध शक्ति को विस्तृत करती है और उसकी सहानुभूति को गहरा करती है। उस समाज में प्रतिस्पर्धा का प्रभाव होता है जिसमें प्रतिस्पर्धा के नियम ठीक से स्थापित और साधारणत: मान्य होते हैं।

4. **प्रगति सम्बन्धी परिणाम**—प्रतिस्पर्धा भौतिक व सामाजिक प्रगति में काफी योग देती है, प्रतिस्पर्धा तेजी से बदलते हुए समाज में पुन: समायोजन में सहायता प्रदान करती है। वह व्यक्ति को उत्तम-से-उत्तम तरीके से कार्य करने को प्रेरित करती है, चाहे व्यक्ति ऐसा आर्थिक लाभ, उच्च पद, प्रतिष्ठा आदि प्राप्त करने के लिए ही करे। व्यक्ति के इस प्रकार के श्रेष्ठ प्रयल का लाभ समाज को निश्चित रूप से मिलता है। प्रतिस्पर्धा व्यक्ति और समूह को नवीन प्रविधियों को खोज निकालने और अन्य की तुलना में अधिक उत्तमता से कार्य सम्पन्न करने को प्रोत्साहित करती है। उसके इस प्रकार के प्रयत्नों से आविष्कार भी होते हैं और सामाजिक प्रगति भी।
5. **सामूहिक दृढ़ता सम्बन्धी परिणाम**—जहाँ व्यक्तियों और समूहों में नियमानुसार स्वस्थ प्रतिस्पर्धा चलती है, वहाँ समूह की दृढ़ता (एकता) बनी रहती है। जब प्रतिस्पर्धा स्वतन्त्र और उचित ढंग से चलती है तो प्रत्येक को अपनी योग्यतानुसार अपना कार्य सर्वोत्तम ढंग से करने का अवसर मिलता है। इससे समूह सम्बन्ध व्यवस्थित बने रहते हैं और समूह एकता के सूत्र में बँधा रहता है।
6. **सामाजिक विघटन सम्बन्धी परिणाम**—प्रतिस्पर्धा सदैव प्रगति और सामाजिक दृढ़ता में ही योग नहीं देती। जब नवीन आविष्कारों के कारण समाज में तेजी से परिवर्तन होते हैं तो सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न होती है। यहाँ हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सामाजिक विघटन के लिए उत्तरदायी कारक प्रमुखत: तेजी से होने वाले परिवर्तन हैं और प्रतिस्पर्धा तो केवल सहायक कारक है।

प्रतिस्पर्धा के उपर्युक्त कार्यों और परिणामों से इसका महत्त्व स्वत: ही स्पष्ट हो जाता है। प्रतिस्पर्धा व्यक्ति, समूह और समाज के लिए प्रकार्यात्मक है, अत: इसे एक सहचारी या संगठनात्मक प्रक्रिया माना जा सकता है, न कि असहचारी या विघटनात्मक प्रक्रिया। प्रतिस्पर्धा में सफल होने के लिए व्यक्ति और समूह को परिश्रमपूर्वक उत्तम-से-उत्तम तरीके से काम करने की प्रेरणा मिलती है। इससे कार्य-कुशलता में वृद्धि होती है, जो सम्पूर्ण समाज और राष्ट्र के लिए लाभप्रद है। **बीसंज** और **बीसंज** ने लिखा है, **"हमें विश्वास है कि सहयोग कार्यों को पूर्ण करवाता है तो प्रतिस्पर्धा आश्वासन देती है कि वे कार्य अच्छी प्रकार से किए जाएँगे।"** आज आधुनिक समाजों में अर्जित प्रस्थितियों के महत्त्व के बढ़ने से व्यक्ति को कदम-कदम पर अन्य के साथ प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है। इसके महत्त्व के सम्बन्ध में **रॉस** ने लिखा है, **"प्रतिस्पर्धा प्रत्येक व्यक्ति को उसके सामाजिक जगत में स्थान प्रदान करने का प्रमुख कार्य करती है। प्रतिस्पर्धा एक प्रगतिशील शक्ति है जो निर्माण करती है न कि आवश्यक रूप से विनाश।"** उचित व्यक्ति को उचित स्थान प्रदान करना सम्पूर्ण राष्ट्र की समृद्धि की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है और प्रतिस्पर्धा यह महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। **किंग्सले डेविस** ने लिखा है, **"प्रतिस्पर्धा अत्यधिक गतिशील है। यह महत्त्वाकांक्षाओं में वृद्धि करके, असफलता को चुनौती देकर और साथ ही सफलता का विश्वास दिलवाकर तथा प्रतिद्वन्द्विता के तत्व को सम्मिलित करके इच्छित वस्तु (उच्च प्रस्थितियों) को प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करती है। इसी कारण प्रतिस्पर्धा जटिल और परिवर्तनशील समाजों में विशेष रूप से इतनी महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया बन जाती है। वास्तव में प्रगति के साथ स्पष्ट रूप से सम्बन्धित होने के कारण यह पाश्चात्य समाजों में आधुनिक सभ्यता का एक अनिवार्य लक्षण बन गई है।"** आज जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रतिस्पर्धा का काफी महत्त्व बढ़ गया है।

स्वस्थ व नियन्त्रित प्रतिस्पर्धा को किसी भी दृष्टि से असहयोगी या विघटनात्मक प्रक्रिया नहीं माना जा सकता। आज हजारों-लाखों व्यक्ति विभिन्न प्रतियोगी परीक्षाओं में प्रतिवर्ष बैठते हैं। इसमें सफल होने वाले असफल परीक्षार्थियों की तुलना में अधिक योग्य होते हैं। इससे योग्य व्यक्तियों के चुनाव की सम्भावना रहती है और उनकी योग्यता का लाभ समाज को मिलता है। इससे पक्षपात को रोका और योग्यता को महत्त्व दिया जाता है। इस दृष्टि से प्रतिस्पर्धा का आधार तार्किक है। **इतना अवश्य है कि अनियन्त्रित और असीमित प्रतिस्पर्धा विघटनात्मक है, समाज के लिए अपकार्यात्मक या हानिप्रद है।**

प्र.9. पर संस्कृतिग्रहण की अवधारणा स्पष्ट करते हुए इसका अर्थ, परिभाषा एवं विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर

पर-संस्कृतिग्रहण
(Acculturation)

पर-संस्कृतिग्रहण एवं सात्मीकरण दोनों ही संगठनकारी प्रक्रियाएँ हैं। पर-संस्कृतिग्रहण सात्मीकरण या आत्मसात का ही अंग है। दो संस्कृतियाँ जब परस्पर सम्पर्क में आती हैं तो वे एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। जब एक संस्कृति को मानने वाले लोगों द्वारा कुछ सांस्कृतिक तत्वों के स्थान पर बहुत सारे सांस्कृतिक तत्व अपना लिए जाते हैं तो उसे पर-संस्कृतिग्रहण कहते हैं। सात्मीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति अथवा समूह एक-दूसरे के व्यवहार प्रतिमानों, भावनाओं, मूल्यों एवं उद्देश्यों को स्वीकार करते हैं। इसमें विभिन्नता रखने वाले व्यक्ति एवं समूह अपने स्वार्थ एवं दृष्टिकोण में समान हो जाते हैं।

पर-संस्कृतिग्रहण की परिभाषा एवं अर्थ (Definition and Meaning of Acculturation)

संस्कृतिकरण या पर-संस्कृतिग्रहण को परिभाषित करते हुए **डॉ० दुबे** लिखते हैं, "दो संस्कृतियों के सम्पर्क की स्थिति में यदि एक संस्कृति दूसरी संस्कृति के तत्वों को अपनी इच्छा से या किसी दबाव से ग्रहण करे तो इस प्रक्रिया को हम पर-संस्कृतिग्रहण कहेंगे।"

मजूमदार एवं **मदान** के अनुसार, "जब एक संस्कृति के प्रभाव से दूसरी संस्कृति की सम्पूर्ण जीवन पद्धति परिवर्तन-प्रक्रिया के दौर में होती है, तब इस प्रक्रिया को पर-संस्कृतिग्रहण कहा जाता है।"

गिलिन एवं **गिलिन** लिखते हैं, "पर-संस्कृतिग्रहण से हमारा तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसमें विभिन्न संस्कृतियों वाले समाज निकट एवं लम्बे सम्पर्क के कारण परिवर्तित होते हैं किन्तु इसमें दोनों संस्कृतियों का पूर्ण मिश्रण नहीं होता है।"

सन 1936 में **रेडफील्ड, लिंटन** और हर्सकोविट्स ने पर-संस्कृतिग्रहण पर शोध के लिए मार्गदर्शन देने वाली एक परिषद के स्मृति-पत्र में इसकी परिभाषा इस प्रकार से दी है—पर-संस्कृतिग्रहण में उन घटनाओं का समावेश होता है जो कि भिन्न संस्कृतियों वाले व्यक्तियों के समूह के निरन्तर प्रत्यक्ष सम्पर्क में आने से होती हैं और जिनके परिणामस्वरूप उनमें से एक या दो समूहों के मौलिक सांस्कृतिक प्रतिमानों में परिवर्तन घटित होते हैं।

पर-संस्कृतिग्रहण की विशेषताएँ (Characteristics of Acculturation)

पर-संस्कृतिग्रहण की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. पर-संस्कृतिग्रहण में दो संस्कृतियों में सांस्कृतिक तत्वों का परस्पर आदान-प्रदान होता है। इस प्रकार यह एक दो-तरफा प्रक्रिया (Two-way process) है।
2. पर-संस्कृतिग्रहण के लिए दो संस्कृतियों का लम्बे समय तक प्रत्यक्ष एवं निरन्तर सम्पर्क में होना आवश्यक है।
3. पर-संस्कृतिग्रहण करने वाले समूह की जीवन विधि बदल जाती है या दोनों समूहों के मौलिक सांस्कृतिक प्रतिमानों में परिवर्तन आते हैं।
4. पर-संस्कृतिग्रहण स्वेच्छा या दबाव दोनों ही प्रकार से हो सकता है। जब शासक दल के दबाव के कारण पर-संस्कृतिग्रहण किया जाता है तो सांस्कृतिक तत्व अपनाने वाले समूह की इच्छा या अनिच्छा का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। स्वेच्छा से पर-संस्कृतिग्रहण भी कई कारणों से किया जा सकता है, जैसे कई बार व्यक्ति नवीनता के लिए ही नए सांस्कृतिक तत्वों को अपनाता है, तो कभी सुविधा एवं लाभ के लिए। अपनी प्रतिष्ठा वृद्धि के लिए भी व्यक्ति कई बार पर-संस्कृतिग्रहण करता है।
5. पर-संस्कृतिग्रहण सांस्कृतिक सम्प्रेषण अर्थात् एक समूह से दूसरे समूह में संस्कृति हस्तान्तरण की एक प्रक्रिया है।
6. पर-संस्कृतिग्रहण में सम्पर्क में आने वाली दोनों संस्कृतियों का सम्पूर्ण मिश्रण नहीं होता वरन् वे अपनी विशेषताएँ बनाए रखती हैं।

स्पष्ट है कि दो संस्कृतियाँ जब लम्बे समय तक एक-दूसरे के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आती हैं तो उनमें कोई एक-दूसरी से या दोनों परस्पर दबाव या स्वेच्छा से सांस्कृतिक तत्वों का आदान-प्रदान कर सकती हैं। संस्कृति हस्तान्तरण की इस प्रक्रिया को ही पर-संस्कृतिग्रहण के नाम से जाना जाता है। पर-संस्कृतिग्रहण की प्रक्रिया के दौरान एक संस्कृति अपने सभी मूल तत्वों को नहीं खोती है, किन्तु उसकी जीवन-विधि में परिवर्तन अवश्य आ जाता है।

पर-संस्कृतिग्रहण के लिए गिलिन एवं गिलिन ने तीन स्थितियों को आवश्यक माना है—1. लोगों का निकट एवं निरन्तर सम्पर्क होना चाहिए जिससे कि वे एक-दूसरे के सांस्कृतिक तत्वों से परिचित हो सकें। 2. परदेश जाकर रहने वाला समूह भिन्न सांस्कृतिक समूह में जाकर रहता है। 3. विजेता हारे हुए लोगों पर अपनी संस्कृति को थोपता है।

प्र.10. सात्मीकरण (आत्मसात) की अवधारणा स्पष्ट कीजिए तथा इसका अर्थ, परिभाषा एवं विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर

सात्मीकरण (आत्मसात)
(Assimilation)

सात्मीकरण या आत्मसात को स्पष्ट करते हुए **गिलिन** एवं **गिलिन** लिखते हैं कि सात्मीकरण या आत्मसात एक प्रगतिशील प्रक्रिया है जिसमें व्यक्तियों और समूहों के बीच मतभेद कम होते हैं तथा क्रिया, मनोवृत्ति और मानसिक क्रिया में सामान्य हित के प्रति आदर के साथ समानता में वृद्धि होती है। जब व्यक्तियों एवं समूहों में आत्मसात हो जाता है तो उनके बीच पाए जाने वाले

मतभेद समाप्त हो जाते हैं और उद्देश्यों और हितों में समानता आ जाती है। आत्मसात सामाजिक एवं सांस्कृतिक एकीकरण की प्रक्रिया है। संघर्ष से एकीकरण की ओर बढ़ने का प्रथम चरण व्यवस्थापन है और आत्मसात अन्तिम चरण। लम्बे समय तक व्यवस्थापन करने पर आत्मसात का मार्ग प्रशस्त होता है।

आत्मसात धीमी गति से एवं अचेतन रूप से होता है। व्यक्ति धीरे-धीरे ही नए मूल्य सीखता है। आत्मसात में मनोवृत्तियों, प्रस्थितियों, भूमिकाओं एवं प्रतीकों में परिवर्तन होता है, किन्तु ऐसा एकदम नहीं होता है। आत्मसात खुले एवं गतिशील समाजों की विशेषता है जहाँ लोगों को विभिन्न सांस्कृतिक मूल्यों एवं तत्वों को अपनाने की स्वतन्त्रता होती है। यही कारण है कि आदिम एवं ग्रामीण समाजों की तुलना में औद्योगिक एवं नगरीय समाजों में आत्मसात की प्रक्रिया अधिक तीव्र रूप में पाई जाती है।

सात्मीकरण (आत्मसात) का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Assimilation)

आत्मसात को परिभाषित करते हुए **ऑगबर्न** एवं **निमकॉफ** लिखते हैं, "आत्मसात वह प्रक्रिया है जिसमें किसी समय असमान व्यक्ति या समूह अपने स्वार्थ और दृष्टिकोणों में समान हो जाते हैं।"

बोगार्डस (Bogardus) के अनुसार, "सात्मीकरण (आत्मसात) वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा अनेक व्यक्तियों की मनोवृत्तियाँ एकीकृत हो जाती हैं और इसके फलस्वरूप वे एक संयुक्त समूह के रूप में विकसित हो जाते हैं।"

बीसेन्ज और **बीसेन्ज** के अनुसार, "आत्मसात एक सामाजिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति तथा समूह समान भावनाओं, मूल्यों और उद्देश्यों में भाग लेते हुए एक-दूसरे के निकट आ जाते है।"

फिचर (Fitcher) के अनुसार, "आत्मसात एक सामाजिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा दो या अधिक व्यक्ति या समूह एक-दूसरे के व्यवहार प्रतिमानों को स्वीकार करते हैं और उन्हीं के अनुसार आचरण करते हैं।"

समाजशास्त्रीय शब्दकोश में, "आत्मसात को एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया गया है जिसमें विभिन्न संस्कृतियाँ या संस्कृतियों के व्यक्ति या समूह एक समान इकाई के रूप में मिल जाते हैं। इस अर्थ में आत्मसात संस्कृतिकरण की एक प्रक्रिया है जिसमें विभिन्न संस्कृतियाँ एक संस्कृति में संयुक्त हो जाती हैं, जैसे भारतीय संस्कृति में अनेक बाह्य संस्कृतियाँ घुल-मिल गई हैं। आत्मसात शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम इसी अर्थ में किया गया था। जब अपना देश छोड़कर कोई समूह दूसरे देश में बस जाता है और वहाँ की भाषा, प्रथाओं, रीति-रिवाजों एवं संस्कृति को अपना लेता है तो इसे आत्मसात कहा जाता है। आत्मसात को इसी रूप में परिभाषित करते हुए **डॉसन** एवं **गेटिस** लिखते हैं, "सांस्कृतिक रूप से समान एवं अभिन्न होना ही आत्मसात कहलाता है।" पति-पत्नी भी लम्बे समय तक सह-निवास के कारण एक-दूसरे से आत्मसात कर लेते हैं। उनके विचारों, उद्देश्यों, दृष्टिकोणों एवं मनोवृत्तियों में समानता आ जाती है।

सात्मीकरण (आत्मसात) की विशेषताएँ (Characteristics of Assimilation)

1. आत्मसात एक सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रक्रिया है। सामाजिक प्रक्रिया के रूप में आत्मसात में दो व्यक्तियों या समूहों के विचारों, उद्देश्यों, दृष्टिकोणों एवं मनोवृत्तियों में समानता आ जाती है। सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में आत्मसात में दो भिन्न सांस्कृतिक समूह परस्पर घुल-मिल जाते हैं। वे एक-दूसरे के रीति-रिवाजों, प्रथाओं, मूल्यों, आदर्शों एवं सांस्कृतिक प्रतिमानों को अपना लेते हैं।
2. आत्मसात एक प्रक्रिया एवं अवस्था दोनों ही है। प्रक्रिया के रूप में आत्मसात में दो व्यक्ति या समूह परस्पर समान हो जाते हैं। अवस्था के रूप में एक व्यक्ति जिस संस्कृति के मध्य जन्म लेता है, धीरे-धीरे उसे अपना लेता है।
3. आत्मसात की प्रक्रिया मन्दगति से चलती है।
4. आत्मसात उन समाजों में अधिक होता है जिनमें विभिन्न संस्कृतियों को फलने-फूलने की स्वतन्त्रता होती है। यह खुले या मुक्त समाजों में अधिक सम्भव है।
5. आत्मसात एक वैयक्तिक एवं सामाजिक प्रक्रिया है। वैयक्तिक प्रक्रिया के रूप में दो भिन्न एवं असमान व्यक्ति और सामाजिक प्रक्रिया के रूप में दो भिन्न एवं असमान समूह समान हो जाते हैं।
6. आत्मसात की प्रक्रिया एकीकरण को बढ़ावा देती है।
7. आत्मसात एक संगठनकारी प्रक्रिया है।

प्र.11. आत्मीकरण (आत्मसात) में सहायक कारक कौन-कौन से हैं तथा सात्मीकरण के बाधक तत्वों (कारकों) का वर्णन कीजिए।

उत्तर

सात्मीकरण (आत्मसात) में सहायक कारक
(Conditions or Factors Favouring Assimilation)

निम्नांकित कारक आत्मसात की प्रक्रिया को प्रोत्साहन देते हैं—

1. **सहिष्णुता**—जब विभिन्न व्यक्तियों एवं समूहों में धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में सहिष्णुता होती है तो आत्मसात के अधिक अवसर होते हैं। सहिष्णुता के कारण उनमें संचार एवं मिलना-जुलना सम्भव हो पाता है। सहिष्णुता के अभाव में नीग्रो एवं श्वेत प्रजाति के लोग वर्षों से साथ-साथ रहने पर भी एक-दूसरे के निकट नहीं आ पाए।
2. **समीपता एवं सामाजिक सम्पर्क**—आत्मसात उसी दशा में अधिक होता है जब व्यक्ति या समूह एक-दूसरे के समीप निवास करते हों तथा उनमें निरन्तर प्रत्यक्ष सामाजिक सम्पर्क बना हुआ हो। छात्रावासों में विभिन्न संस्कृतियों के छात्रों में समीपता एवं प्रत्यक्ष सम्पर्क की निरन्तरता के कारण सात्मीकरण के अधिक अवसर रहते हैं।
3. **समान आर्थिक अवसर**—यदि दो व्यक्तियों एवं समूहों की आर्थिक स्थिति एवं उद्देश्यों में समानता हो तो उनमें आत्मसात शीघ्र होगा। इसके विपरीत, जिनके आर्थिक हित टकराते हों, उनमें आत्मसात के बजाय संघर्ष की सम्भावना अधिक रहेगी। मजदूरों में परस्पर आत्मसात के अवसर इसी कारण से अधिक होते हैं कि उनके आर्थिक हितों में समानता पाई जाती है।
4. **सांस्कृतिक समानता**—जिन संस्कृतियों में समानता के तत्व अधिक होते हैं, उनमें भी आत्मसात के अवसर मौजूद रहते हैं, अर्थात् जिन संस्कृतियों की प्रथाओं, खान-पान, वेश-भूषा, धर्म, भाषा आदि में समानता पाई जाती है, उनसे सम्बन्धित लोगों में सम्पर्क होने पर आत्मसात शीघ्र हो जाता है।
5. **मिश्रण**—मिश्रण से तात्पर्य यहाँ रक्त मिश्रण से है। जब विभिन्न प्रजातियों एवं रक्त समूहों से सम्बन्धित व्यक्तियों में परस्पर विवाह हो जाता है तो रक्त मिश्रण हो जाता है। परदेशगमन और विजय के बाद दो भिन्न संस्कृतियों के व्यक्ति सम्पर्क में आते हैं, उनमें परस्पर विवाह होने लगते हैं जिसके परिणामस्वरूप उनकी संस्कृतियाँ भी परस्पर घुलने-मिलने लगती हैं। समान प्रजाति के लोगों में भिन्न प्रजातियों की तुलना में आत्मसात अधिक होता है। प्रजाति मिश्रण संस्कृतियों के मिश्रण को बढावा देता है।
6. **समान समस्याएँ**—जिन लोगों या समूहों की समान आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं सामाजिक समस्याएँ होती हैं, वे उन्हें हल करने के लिए परस्पर सहयोग करते हैं। उनमें समान विचार एवं भावनाएँ पैदा होती हैं जो आत्मसात में सहायक हैं।
7. **उन्नत संचार**—भौगोलिक रूप से दूर स्थित सांस्कृतिक समूहों में आत्मसात कम हो जाता है, किन्तु जब उनमें यातायात एवं संचार की उन्नत व्यवस्था होती है तो उनका आपस में निरन्तर एवं प्रत्यक्ष सम्पर्क बना रहता है जो आत्मसात को प्रोत्साहन देता है।
8. **समान भाषा**—एक ही भाषा का प्रयोग करने वाले लोगों में भी विभिन्न भाषा बोलने वालों की तुलना में आत्मसात अधिक होता है।
9. परिवर्तन के प्रति अनुकूल दृष्टिकोण भी आत्मसात को प्रोत्साहित करता है।
10. विशेष संस्कृति के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रुख अपनाने एवं उसे मान्यता प्रदान करने पर भी आत्मसात को बढ़ावा मिलता है।
11. प्राथमिक सम्बन्धों की बहुलता भी आत्मसात में सहायक है।
12. नेतृत्व करने वाले समूह का विस्तृत एवं उदार दृष्टिकोण भी आत्मसात में योग देता है।

सात्मीकरण (आत्मसात) को निरुत्साहित करने वाले कारक
(Factors Hindering Assimilation)

जिस प्रकार से कुछ कारक आत्मसात को बढ़ावा देते हैं, उसी प्रकार से कुछ कारक उसमें बाधा भी पैदा करते हैं। आत्मसात में बाधक कारक निम्नलिखित हैं—

1. **पृथक्करण**—जब दो व्यक्ति या सांस्कृतिक समूह दूर-दूर रहते हों और उनमें संचार एवं सम्पर्क नहीं हो पाता हो तो उनमें आत्मसात की सम्भावना नहीं पाई जाती है। उनमें अन्त:क्रिया एवं सामाजिक सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाते।

2. **उच्चता की भावना**—जब सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों एवं सांस्कृतिक समूहों में से किसी में उच्चता की भावना हो और वह दूसरे को हीन समझता हो तो उनमें आत्मसात नहीं हो पाता। उदाहरण के लिए, श्वेत प्रजाति के लोग नीग्रो प्रजाति से अपने को श्रेष्ठ समझते हैं, अत: उनमें आत्मसात नहीं हो पाता।
3. **शारीरिक एवं सांस्कृतिक भिन्नता**—जिन लोगों में शारीरिक एवं सांस्कृतिक भिन्नता पाई जाती है, उनमें भी आत्मसात नहीं हो पाता क्योंकि वे एक-दूसरे को भिन्न समझते हैं।
4. **संपीडन** (Persecution)—जब एक शक्तिशाली एवं बहुमत संस्कृति के लोग कमजोर एवं अल्पसंख्यक संस्कृति के लोगों को पीड़ा पहुँचाते या कष्ट देते हैं तो दोनों में घृणा एवं संघर्ष पैदा हो जाते हैं। यह स्थिति आत्मसात में बाधक है। उदाहरण के लिए, जर्मनी में जर्मन लोगों ने यहूदियों को दो हजार वर्षों तक कष्ट दिया, अत: उनमें आत्मसात नहीं हो सका।

प्र.12. एकीकरण का अर्थ एवं परिभाषा लिखिए।

उत्तर

एकीकरण की परिभाषा एवं अर्थ
(Definition and Meaning of Integration)

एकीकरण का सम्बन्ध सम्पूर्णता और उसके अंगों से है। यदि हम सारे समाज को एक सम्पूर्णता मान लें तो अर्थव्यवस्था, धर्म, राजनीति, परिवार आदि उसकी उप-व्यवस्थाएँ हैं, इन सभी में एकजुटता अर्थात् एकीकरण है। एकीकरण का तात्पर्य है—समग्र की इकाइयों का संयुक्त होना या मिलना। एकीकरण का अर्थ है, कई इकाइयों द्वारा एक सम्पूर्णता का निर्माण। इसमें विभिन्नता की धारणा निहित है तथा यह विचार भी निहित है कि विभिन्न इकाइयों को साथ रखा जाए। इसका अर्थ यह भी हुआ कि जो इकाइयाँ अलग-अलग हैं वे एक-दूसरे की सहायता करने और पूरक बनने की इच्छा रखती हैं, इसके अभाव में एकीकरण में सम्पूर्णता का निर्माण करने वाली विभिन्न इकाइयों को लाभ होता है, और इसी कारण वे एकता बनाए रखना चाहती हैं।

एकीकरण में समाज के विभिन्न समूहों के बीच प्रथाओं, भावनाओं, मनोवृत्तियों और व्यवहारों के क्षेत्र में संगठन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उदाहरण के लिए, भारत में हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, पारसी आदि विभिन्न धर्मावलम्बी निवास करते हैं। यदि इनके विचारों, भावनाओं एवं मनोवृत्तियों में समानता उत्पन्न हो जाए तो यही एकीकरण की स्थिति कहलाएगी, किन्तु एकीकरण का तात्पर्य विभिन्न समूहों का बिल्कुल एक हो जाना नहीं है क्योंकि ऐसा तो सम्भव भी नहीं है। **गिलिन** एवं **गिलिन** के अनुसार, एकीकरण का तात्पर्य समरूपता (Homogeneity) नहीं वरन् संगठन है। लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए एक समाज की विभिन्न इकाइयों की भावनाओं, मनोवृत्तियों एवं व्यवहारों में संगठन उत्पन्न हो जाना ही एकीकरण है। एकीकरण में इकाइयों के बीच मतभेद समाप्त हो जाते हैं।

एकीकरण का अर्थ स्पष्ट करते हुए **के०सी० पाण्डे** ने लिखा है कि इस प्रक्रिया के अन्तर्गत कई इकाइयों द्वारा एक सम्पूर्णता का निर्माण किया जाता है। इसमें विभिन्नता की धारणा निहित है तथा साथ ही यह विचार भी मौजूद है कि विभिन्न इकाइयों को साथ रखा जाए। इसका अर्थ यह भी हुआ कि जो इकाइयाँ अलग-अलग हैं, वे एक-दूसरे की सहायता करने एवं पूरक बनने की इच्छा रखती हैं। इसके अभाव में एकीकरण सम्भव नहीं होगा, अत: एकीकरण में सम्पूर्णता का निर्माण करने वाली विभिन्न इकाइयों का लाभ निहित होता है और इस कारण वे एकता बनाए रखना चाहती हैं।

ऑगबर्न और **निमकॉफ** के अनुसार, पृथक अंगों को मिलाकर एकाकी इकाई निर्मित करने की प्रक्रिया ही एकीकरण है। इस प्रकार से एकीकरण की प्रक्रिया में अंगों से मिलकर एक समग्र इकाई या सम्पूर्णता का निर्माण होता है, अत: एकीकरण संगठन की भी एक प्रक्रिया है।

एकीकरण एक प्रक्रिया और एक दशा दोनों ही है। एक प्रक्रिया के रूप में एकीकरण समाज में निरन्तर चलता रहता है। समाज व्यवस्था में परिवर्तन होता रहता है और उसी के अनुरूप इकाइयाँ भी अपना सामंजस्य स्थापित करती रहती हैं। कभी-कभी एक इकाई में परिवर्तन होने पर भी वह समस्त व्यवस्था को बदल देती है।

एकीकरण एक दशा भी है। जब एकीकरण को प्राप्त कर लिया जाता है तथा इकाइयों और समग्र के बीच सन्तुलन कायम हो जाता है तब यह स्थिति या दशा एकीकरण कहलाती है। जब यह सन्तुलन टूटने लगता है तो व्यवस्था में विघटन प्रारम्भ हो जाता है।

इस प्रकार एकीकरण का तात्पर्य उन बन्धनों से है जो सदस्यों (इकाइयों) में एक-दूसरे के प्रति पाए जाते हैं।

प्र.13. सामाजिक एकीकरण के प्रमुख रूपों का वर्णन कीजिए।

उत्तर

सामाजिक एकीकरण के रूप
(Forms of Social Integration)

सामाजिक एकीकरण के प्रमुख चार रूप हैं—सामाजिक, प्रकार्यात्मक, सांस्कृतिक मूल्यात्मक, सामाजिक मनोवैज्ञानिक तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी।

1. **सामाजिक प्रकार्यात्मक एकीकरण**—मानव की अनेक मूलभूत आवश्यकताएँ हैं जिनमें से शारीरिक, आर्थिक, भावात्मक, व्यवस्थात्मक एवं मूल्यात्मक आवश्यकताएँ प्रमुख हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज में कई संरचनाएँ विकसित हुई हैं जो अनेक प्रकार्यों को करती हैं। **पारसन्स** ने सामाजिक संरचना के कुछ मुख्य तत्वों का उल्लेख किया है, वे हैं—नातेदारी व्यवस्था, सत्ता एवं धर्म। सामाजिक संरचना के ये सभी तत्व किसी-न-किसी रूप में सामाजिक एकीकरण में योगदान करते हैं।

   नातेदारी व्यवस्था रिश्तेदारों को परस्पर जैविकीय एवं भावात्मक आधार पर जोड़ती है। परिवार, गोत्र और विवाह के सम्बन्ध में समाज एवं समूह के अस्तित्व को बनाए रखने एवं सदस्यों को भावात्मक आधार पर जोड़ने में प्रमुख भूमिका निभाते हैं, किन्तु नातेदारी द्वारा एक सीमित समूह में ही एकीकरण किया जाता है। श्रम-विभाजन, राज्य तथा धर्म का एकीकरण का दायरा विस्तृत होता है। दुर्खीम ने सामाजिक एकीकरण एवं दृढ़ता में श्रम-विभाजन के योगदान की विस्तृत चर्चा की है। सरल समाजों, छोटे समूहों तथा परिवार एवं नातेदारी पर आधारित संगठनों में श्रम-विभाजन लिंग और आय भेद पर आधारित होते हैं। इस प्रकार के समाजों को दुर्खीम यान्त्रिक दृढ़ता वाले समाज कहता है। जब जनसंख्या बढ़ती है और समूह का आकार बढ़ जाता है तो श्रम-विभाजन का रूप बदल जाता है। तब लिंग और आयु भेद के स्थान पर व्यवसाय, प्रशिक्षण, शिक्षा एवं योग्यता के आधार पर श्रम-विभाजन किया जाता है तथा सदस्यों में पारस्परिक निर्भरता बढ़ जाती है जो एकीकरण को जन्म देती है। दुर्खीम जटिल समाजों में पाई जाने वाली इस प्रकार की दृढ़ता को सावयवी दृढ़ता या एकता कहता है।

   राज्य और धर्म भी समाज में एकता उत्पन्न करते हैं। कृषक और जनजातीय समाजों को संगठित एवं एकीकृत करने तथा आधुनिक औद्योगिक लोकतान्त्रिक राज्यों में समन्वय स्थापित कर एकता पैदा करने में शक्ति और राज्य की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। इसी प्रकार से धर्म भी अपने अनुयायियों में एकता उत्पन्न करता है। ईसाई धर्म में एकता पैदा करने में चर्च की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है।
2. **सांस्कृतिक मूल्यात्मक एकीकरण**—प्रत्येक समाज और समूह की अपनी एक संस्कृति होती है। संस्कृति भी एकीकरण में सहायक होती है। सांस्कृतिक प्रतिमान और मूल्य लोगों के व्यवहारों का नियमन व नियन्त्रण करने, समाज में सही और गलत का निर्धारण करने एवं विचारों में एकता तथा सहमति पैदा करने में सहायक होते हैं। इस कार्य में समान भाषा, धर्म, प्रथाएँ, रीति-रिवाज, परम्पराएँ, खान-पान, वेश-भूषा, प्रतीक और चिह्न, विश्वास, विचारधारा और कर्मकाण्ड भी योगदान देते हैं।
3. **सामाजिक मनोवैज्ञानिक एकीकरण**—समाज और व्यक्ति के एकीकरण में मनोवैज्ञानिक कारकों का भी महत्त्वपूर्ण हाथ होता है। मानव की अनेक जैविकीय, आर्थिक एवं सामाजिक आवश्यकताएँ होती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज की अनेक उप-व्यवस्थाएँ हैं; जैसे—परिवार, गोत्र, नातेदारी, धर्म, सत्ता, अर्थव्यवस्था आदि। जब इन उप-व्यवस्थाओं के द्वारा व्यक्तियों को सन्तुष्टि प्राप्त होती है तो समाज में एकीकरण की प्रक्रिया तीव्र होती है। विभिन्न उप-व्यवस्थाओं से सम्बन्धित व्यक्तियों में पारस्परिक निर्भरता के भाव एवं आन्तरिक उत्साह भी समाज में एकीकरण पैदा करते हैं।
4. **द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी एकीकरण**—इस प्रकार के एकीकरण का उल्लेख संघर्षवादी विचारधारा के लोग प्रमुखत: मार्क्स करते हैं। उनका मत है कि वर्गों पर आधारित समाज व्यवस्था में विभिन्न वर्गों में अपने-अपने हितों को लेकर संघर्ष पाया जाता है। संघर्ष के दौरान विभिन्न वर्गों में एकीकरण पैदा होता है जिसका आधार अपनी हित रक्षा करना होता है। वर्ग संघर्ष की समाप्ति पर जब वर्ग समाप्त हो जाते हैं तथा समाजवाद की स्थापना हो जाती है तब भी समाज में एकीकरण उत्पन्न होता है।

❑

UNIT-VII

सामाजिक संरचना

खण्ड-अ अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. सामाजिक संरचना की अवधारणा स्पष्ट करने वाले समाजशास्त्रियों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर सामाजिक संरचना एवं प्रकार्य समाजशास्त्र में महत्त्वपूर्ण अवधारणाएँ हैं। इन्हें समझे बिना हम सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक विघटन, सामाजिक प्रकार्य जैसी महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं को नहीं समझ सकते। समाजशास्त्र में सामाजिक संरचना की अवधारणा का सर्वप्रथम प्रयोग **हरबर्ट स्पेन्सर** ने अपनी पुस्तक '*Principles of Sociology*' में किया। **दुर्खीम** ने अपनी कृति '*The Rules of Sociological Method*' में इस अवधारणा का प्रयोग किया, किन्तु दोनों ही विद्वानों ने सामाजिक संरचना की स्पष्ट व्याख्या नहीं की। इस अवधारणा पर विस्तृत विचार व्यक्त करने वालों में **रैडक्लिफ ब्राउन, कार्ल मानहीम, नैडेल, मर्टन, पारसन्स, जॉनसन** तथा **मैकाइवर** आदि प्रमुख विद्वान हैं।

प्र.2. प्रदत्त एवं अर्जित प्रस्थितियों में कोई तीन अन्तर लिखिए।

उत्तर 1. प्रदत्त प्रस्थिति समाज स्वयं व्यक्ति को प्रदान करता है जबकि अर्जित प्रस्थिति व्यक्ति अपनी योग्यता, कुशलता, प्रयत्न एवं प्रतिस्पर्धा के आधार पर प्राप्त करता है।

2. प्रदत्त प्रस्थिति का स्रोत समाज की प्रथाएँ, परम्पराएँ एवं संस्कृति आदि हैं जबकि अर्जित प्रस्थिति का स्रोत स्वयं व्यक्ति और उसके गुण हैं।
3. प्रदत्त प्रस्थिति का निर्धारण जन्म, लिंग, आयु, जाति, प्रजाति, नातेदारी, परिवार आदि के आधार पर होता है जबकि अर्जित प्रस्थिति का निर्धारण शिक्षा, आय, सम्पत्ति, व्यवसाय, व्यक्तिगत योग्यता, कुशलता, राजनीतिक अधिकार, कलात्मक गुण, आविष्कार की क्षमता, आदि के आधार पर होता है।

प्र.3. सामाजिक प्रतिमानों के वर्गीकरण पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।

उत्तर **बीरस्टीड** ने सामाजिक प्रतिमानों का वर्गीकरण इस आधार पर किया है कि वे किन-किन लोगों पर लागू होते हैं। इस आधार पर आपने प्रतिमानों को दो भागों में बाँटा है—**सामुदायिक प्रतिमान एवं संघात्मक प्रतिमान** (Communal Norms and Associational Norms)। जिन प्रतिमानों का सम्बन्ध सारे समाज या समुदाय से है, उन्हें सामुदायिक प्रतिमान कहते हैं; जैसे—अभिवादन करना, वस्त्र पहनना आदि सामुदायिक प्रतिमान हैं। दूसरी ओर जिन प्रतिमानों का सम्बन्ध किसी समूह विशेष से ही होता है, उन्हें संघात्मक प्रतिमान कहते हैं। उदाहरण के लिए, 'शिक्षक को अच्छी तरह पढ़ाना आना चाहिए' यह प्रतिमान परीक्षार्थियों तक सीमित है।

प्र.4. बीरस्टीड तथा किंग्सले ने सामाजिक प्रतिमानों को किस प्रकार वर्गीकृत किया है? संक्षेप में बताइए।

उत्तर बीरस्टीड ने सभी प्रकार के प्रतिमानों को तीन श्रेणियों में बाँटा है—1. जनरीतियाँ (Folkways), 2. रूढ़ियाँ (Mores), तथा 3. कानून (Laws)।

किंग्सले डेविस ने सामाजिक प्रतिमानों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—जनरीतियाँ, रूढ़ियाँ, कानून, संस्थाएँ, प्रथा, नैतिकता और धर्म, परिपाटी, शिष्टाचार, फैशन एवं धुन।

प्र.5. प्रस्थिति से क्या तात्पर्य है? संक्षेप में बताइए।

उत्तर प्रस्थिति व्यक्ति की समूह अथवा समाज में पद की सूचक है। यह पद व्यक्ति को समाज द्वारा स्वत: ही प्रदान किया जा सकता है या व्यक्ति अपने गुणों एवं योग्यता के आधार पर प्राप्त कर सकता है।

प्र.6. 'भूमिका' से आप क्या समझते हैं?

उत्तर एक व्यक्ति जिस प्रकार से एक स्थिति से सम्बन्धित दायित्वों का निर्वाह और उससे सम्बन्धित सुविधाओं एवं विशेषाधिकारों का उपभोग करता है, उसे ही भूमिका कहते हैं।

प्र.7. जनरीति (लोकरीति) पर गिलिन एवं गिलिन द्वारा प्रस्तुत परिभाषा लिखिए।

उत्तर **गिलिन एवं गिलिन** के अनुसार, "जन रीतियाँ दैनिक जीवन के व्यवहार के वे प्रतिमान हैं जो अनियोजित अथवा बिना किसी तार्किक विचार के ही सामान्यत: समूह के अचेतन रूप में उत्पन्न हो जाते हैं।

प्र.8. लोकाचार की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

उत्तर (i) स्वत: विकास, (ii) रूढ़िवादी प्रवृत्ति, (iii) नैतिकता, (iv) समूह कल्याण की भावना, तथा (v) सामाजिक नियन्त्रण।

प्र.9. संगठित अनुशास्ति (प्रतिबन्ध) से क्या आशय है?

उत्तर ये ऐसी सामाजिक क्रियाएँ हैं जो किसी परम्परा या स्वीकृत रीतियों के आधार पर सम्पन्न की जाती हैं। इन्हें औपचारिक सामाजिक नियन्त्रण के साधन भी कह सकते हैं।

प्र.10. विशिष्ट मूल्यों से क्या अभिप्राय है?

उत्तर प्रत्येक व्यक्ति की अपनी व्यक्तिगत विशेषताएँ, रुचि एवं विचार होते हैं। उन्हीं के आधार पर वह किसी वस्तु का मूल्यांकन करता है। उदाहरण के लिए पुनर्विवाह एवं बाल-विवाह को कोई व्यक्ति उचित मानता है तो कोई अनुचित।

प्र.11. पेरी ने सामाजिक मूल्यों को कितने भागों में बाँटा है?

उत्तर पेरी ने सामाजिक मूल्यों को चार भागों में बाँटा है—(i) नकारात्मक मूल्य, (ii) सकारात्मक मूल्य, (iii) विकासवादी मूल्य, तथा (iv) वास्तविक मूल्य।

प्र.12. सामाजिक मूल्य की परिभाषा दीजिए।

उत्तर **राधाकमल मुकर्जी** के अनुसार, "मूल्य समाज द्वारा मान्यता प्राप्त इच्छाएँ तथा लक्ष्य हैं, जिनका आन्तरीकरण सीखने या समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से होता है और जो प्राकृतिक अधिमान्यताएँ, मानक तथा अभिलाषाएँ बन जाती हैं।"

खण्ड-ब लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. जॉनसन ने सामाजिक संरचना के कितने स्तरों का वर्णन किया है? संक्षेप में बताइए।

उत्तर

सामाजिक संरचना के स्तर
(Levels of Social Structure)

जॉनसन ने सामाजिक संरचना के दो स्तरों—प्रकार्यात्मक उप-प्रणाली तथा संरचनात्मक उप-प्रणाली का उल्लेख किया है।

प्रकार्यात्मक उप-प्रणालियाँ (Functional Sub-systems)

प्रत्येक समाज को अपने अस्तित्व के लिए समस्याओं का निवारण या आवश्यकताओं की पूर्ति करनी होती है। वे हैं....अतिमानों को बनाए रखना एवं तनावों को दूर करना (Pattern Maintenance and Tension Management), अनुकूलन (Adaptation), उद्देश्य प्राप्ति (Goal Attainment), एकीकरण (Integration)। ऐसा न होने पर वह समाज अपना अस्तित्व एवं विशिष्ट स्वरूप खो देता है। इनमें से प्रत्येक समस्या के लिए एक प्रकार्यात्मक उप-प्रणाली होगी। उदाहरण के लिए, 'अर्थव्यवस्था' (Economy) वह प्रकार्यात्मक उप-प्रणाली है जो समाज के अनुकूलन से सम्बन्धित है। अर्थव्यवस्था वस्तुओं एवं सेवाओं को उत्पन्न करती है और समूह एवं समितियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है।

परिवार रूपी प्रकार्यात्मक उप-प्रणाली समाज में समाजीकरण के द्वारा दिन-प्रतिदिन के तनावों को दूर करने एवं सामाजिक प्रतिमानों को बनाए रखने का कार्य करती है। शिक्षण संस्थाएँ, धार्मिक समूह, मनोरंजन के समूह, अस्पताल और अन्य स्वास्थ्य संगठन भी समाज में तनावों को दूर करने एवं प्रतिमानों को बनाए रखने में योग देते हैं।

उद्देश्यों की पूर्ति में सरकार रूपी उप-प्रणाली महत्त्वपूर्ण है। सरकार शक्ति के द्वारा समाज के उद्देश्यों की पूर्ति करती है। प्रजातन्त्र में दबाव समूह जनमत तैयार करते हैं और संसद के लिए बिलों का मसौदा बनाते हैं और वे भी समाज के उद्देश्यों की पूर्ति में योग देते हैं। इस प्रकार राज्य व्यवस्था (Polity) उद्देश्य-प्राप्ति की महत्त्वपूर्ण उप-प्रणाली है।

इन सभी में एकीकरण एवं समन्वय स्थापित करने में वकालत का व्यवसाय, धार्मिक नेता, पत्रकार, सामाजिक कार्यकर्त्ता आदि महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

सैद्धान्तिक दृष्टि से समाज की प्रत्येक उप-प्रणाली को एक स्वतन्त्र सामाजिक प्रणाली के रूप में देखा जा सकता है। इनमें से प्रत्येक उप-प्रणाली के लिए अन्य उप-प्रणालियों को पर्यावरण के रूप में देखा जा सकता है और सभी उप-प्रणालियों का एक-दूसरे के साथ व्यवस्थित रूप से विनिमय होता रहता है।

संरचनात्मक उप-प्रणालियाँ (Structural Sub-systems)

समाज की प्रकार्यात्मक उप-प्रणालियाँ अमूर्त होती हैं, जबकि संरचनात्मक उप-प्रणालियाँ मूर्त समूहों से बनी हुई होती हैं; जैसे—नातेदारी-तन्त्र परिवारों, गोत्रों और वंश-समूहों से बना होता है। इसके अतिरिक्त, चर्च, शिक्षा प्रणाली आदि भी संरचनात्मक उप-प्रणालियाँ हैं। संरचनात्मक उप-प्रणालियाँ मूर्त एवं वास्तविक होती हैं।

प्र.2. प्रदत्त एवं अर्जित प्रस्थिति में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

प्रदत्त एवं अर्जित प्रस्थिति में अन्तर
(Difference between Ascribed Status and Achieved Status

प्रदत्त एवं अर्जित प्रस्थिति में निम्नलिखित अन्तर हैं—

क्र०सं०	प्रदत्त प्रस्थिति	अर्जित प्रस्थिति
1.	प्रदत्त प्रस्थिति का निर्धारण व्यक्ति की आयु, लिंग, जाति आदि के आधार पर होता है।	अर्जित प्रस्थिति का निर्धारण व्यक्ति के गुणों, उसकी क्षमताओं और योग्यताओं के आधार पर होता है।
2.	प्रदत्त प्रस्थिति में परिवर्तन करना आसान नहीं होता है।	यह अपेक्षाकृत परिवर्तनशील है क्योंकि इसका आधार व्यक्तिगत गुणों पर होता है।
3.	प्रदत्त प्रस्थिति का अधिकार क्षेत्र अस्पष्ट होता है।	इसमें अर्जित पद में व्यक्ति का अधिकार क्षेत्र स्पष्ट होता है।
4.	यह प्रस्थिति व्यक्ति को समाज से स्वयं प्राप्त हो जाती है।	इसमें व्यक्ति प्रस्थिति हेतु प्रतिस्पर्धा करता है।
5.	इसका महत्त्व परम्परागत समाज में अधिक पाया जाता है।	यह आधुनिक समाज में महत्त्वपूर्ण है।

प्र.3. प्रस्थिति एवं भूमिका में पाए जाने वाले सम्बन्धों पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।

उत्तर

प्रस्थिति एवं भूमिका में सम्बन्ध
(Relationship between Status and Role)

सामाजिक प्रस्थिति एवं भूमिका के मध्य गहरा सम्बन्ध है, क्योंकि प्रस्थिति के बिना कोई भूमिका नहीं हो सकती और भूमिका के बिना के कोई प्रस्थिति नहीं होती। दूसरी तरफ एक विशेष प्रस्थिति की उच्च या निम्न स्थिति का मूल्यांकन भी विभिन्न प्रकार की भूमिकाओं से ही किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति को अध्यापक की प्रस्थिति न प्राप्त होने पर वह अध्यापक से सम्बन्धित अधिकारों का उपयोग नहीं कर सकता। **इलियट** एवं **मैरिल** के अनुसार, प्रस्थिति एवं भूमिका एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

प्रस्थिति का सम्बन्ध कुछ मुख्य दायित्वों एवं अधिकारों से है। प्रस्थिति की प्रकृति कुछ निश्चित नियमों के कारण अपेक्षाकृत स्थायी होती है। इसके पश्चात् यह प्रत्याशा की जाती है, कि लोग प्रस्थिति के अनुसार स्वयं की भूमिकाओं का निर्वाह करें।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रस्थिति की विभिन्न व्यक्तियों के प्रति भूमिकाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं तथा सभी भूमिकाओं को पूर्ण करने से व्यक्ति की प्रस्थिति की मर्यादा/गरिमा का मूल्यांकन होता है; जैसे—एक सेना के जवान की प्रस्थिति से सम्बन्धित व्यक्ति की अन्य फील्ड मार्शल, जनरल लेफ्टिनेन्ट, जनरल ब्रिगेडियर, आदि के प्रति अलग-अलग भूमिकाएँ होती हैं। इसके पश्चात् इन सभी भूमिकाओं को पूरा करने में व्यक्ति जितना अधिक सफल होता है, विभिन्न व्यक्तियों द्वारा उसी के अनुसार मान्यता दी जाती है। इस दृष्टिकोण से भी, प्रस्थिति और भूमिका में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

पारसन्स ने प्रस्थति भूमिका समुच्चय को सामाजिक व्यवस्था की मूल इकाई माना है। **जॉनसन** के अनुसार, भूमिका शब्द दायित्वों एवं प्रस्थिति शब्द अधिकारों का द्योतक है।

प्र.4. भूमिका के प्रमुख प्रकारों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

भूमिका के प्रकार
(Types of Role)

भूमिका को विभिन्न विद्वानों ने निम्नलिखित रूप में वर्गीकृत किया है—

रॉल्फ लिण्टन (Ralph Linton) के अनुसार भूमिकाएँ निम्नलिखित दो प्रकार की होती हैं—

1. **प्रदत्त भूमिका**—इसके अन्तर्गत वे भूमिकाएँ होती हैं, जो व्यक्ति को समाज का स्वाभाविक सदस्य होने के कारण निभानी पड़ती हैं; जैसे–माता–बहन की भूमिका।
2. **अर्जित भूमिका**—वे भूमिकाएँ जिन्हें हम अपनी योग्यातानुसार प्राप्त प्रस्थिति के अनुरूप पूर्ण करते हैं, अर्जित भूमिका कहलाती हैं।

मिशेल बैण्टन (Michal Banton) द्वारा निम्नलिखित तीन प्रकार की भूमिकाओं का वर्णन किया गया है—

1. **बुनियादी भूमिका**—जिन समाजों में एक भूमिका को अन्य भूमिका से पृथक करना मुश्किल होता है, वह भूमिका बुनियादी भूमिका कहलाती है। यह भूमिका जनजातीय समाजों में पाई जाती है।
2. **स्वतन्त्र भूमिका**—यह भूमिका आधुनिक सामाजों में उपयोगी होती है तथा ऐसी भूमिकाएँ दूसरी भूमिकाओं से स्वतन्त्र होती हैं।
3. **सामान्य भूमिका**—समाज में जिन भूमिकाओं को एक साथ विभिन्न व्यक्तियों द्वारा पूर्ण/निष्पादित किया जाता है, वे सामान्य भूमिकाएँ कहलाती हैं।

एस०एफ० नैडल ने दो प्रकार की भूमिकाओं का उल्लेख किया है—

1. **सम्बन्धात्मक भूमिका**—यह एक पूरक भूमिका (Complementary Role) है। उदाहरण के लिए—एक व्यक्ति पिता की भूमिका तभी पूर्ण कर सकता है जब उसके पुत्र/पुत्री हो। यह भूमिका तर्कपूर्ण होती है।
2. **गैर-सम्बन्धात्मक भूमिका**—इस भूमिका में कोई एक अन्य व्यक्ति द्वारा किसी की भूमिका का निष्पादन किया जाता है; जैसे—किसी व्यक्ति द्वारा कवि की भूमिका निभाना। इस प्रकार यह भूमिका तर्कपूर्ण नहीं होती है।

प्र.5. रॉबर्ट मर्टन द्वारा प्रस्तुत भूमिका एवं प्रस्थिति की अवधारणा पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।

उत्तर रॉबर्ट मर्टन ने भूमिका एवं प्रस्थिति से सम्बन्धित तीन अवधारणाएँ—भूमिका प्रतिमान, प्रस्थिति प्रतिमान एवं प्रस्थिति शृंखला दी हैं। इनका संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है—

1. **भूमिका प्रतिमान**—समाज में कोई भी भूमिका एकपक्षीय या पृथक् नहीं होती वरन् वह दूसरों के सन्दर्भ में ही होती है। एक व्यक्ति अपनी प्रस्थिति से सम्बन्धित विभिन्न प्रस्थितियों को धारण करने वाले व्यक्तियों के साथ अलग–अलग प्रकार की जो भूमिका निभाता है, उसकी सम्पूर्णता को ही भूमिका–प्रतिमान कहते हैं। उदाहरण के लिए, एक डॉक्टर, डॉक्टर होने के नाते दूसरे डॉक्टरों से, नर्सों से, मरीजों से एवं चिकित्सा अधिकारी से भिन्न–भिन्न प्रकार की भूमिकाएँ निभाता है, उसे ही भूमिका प्रतिमान कहते हैं। इसे हम एक अन्य उदाहरण द्वारा भी स्पष्ट कर सकते हैं। मान लीजिए, एक मन्त्री है, मन्त्री होने के नाते वह मुख्यमन्त्री, अन्य मन्त्रियों, जनता एवं प्रशासनिक अधिकारियों से भिन्न–भिन्न प्रकार से व्यवहार करता है और सभी के साथ उसकी भूमिका भी अलग–अलग होती है, इसे ही भूमिका–प्रतिमान कहते हैं।
2. **प्रस्थिति-प्रतिमान**—एक व्यक्ति अपने जीवन काल में अनेक प्रस्थितियाँ धारण करता है और उनके अनुसार अलग–अलग भूमिकाएँ भी निभाता है। विभिन्न प्रस्थितियों की इस सम्पूर्णता को ही प्रस्थिति–प्रतिमान कहते हैं। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति पिता, पति, भाई, वकील, ग्राहक, भू–स्वामी आदि अनेक प्रस्थितियाँ एक साथ धारण करता है। ये सभी प्रस्थितियाँ मिलकर उस व्यक्ति का प्रस्थिति–प्रतिमान कहलाएँगी।
3. **प्रस्थिति शृंखला**—व्यक्ति एक ही समय में कई प्रस्थितियाँ धारण नहीं करता वरन विभिन्न समयों में भी अलग–अलग प्रस्थितियाँ धारण करता है। प्रस्थितियों के इस उत्तरोत्तर क्रम से एक शृंखला बन जाती है, उसे ही हम प्रस्थिति–शृंखला कहते हैं। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति आज छात्र है, कल वह किसी पंचायत का सरपंच बनता है, फिर विधायक, फिर संसद–सदस्य और फिर राष्ट्रपति । प्रस्थितियों का यह क्रम ही प्रस्थिति–शृंखला कहलाता है। इसका दूसरा उदाहरण

है—व्यक्ति पहले कुँवारा होता है, विवाह के बाद वह पति, पिता, दादा और परदादा आदि प्रस्थितियाँ ग्रहण करता है। इन सबसे मिलकर प्रस्थिति-शृंखला बनती है।

प्र.6. समाज में जनरीतियों का क्या महत्त्व है? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

जनरीतियों का महत्त्व
(Importance of Folkways)

जनरीतियों का हमारे जीवन में काफी महत्त्व है। वे हमें सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण में रहने की कला सिखाती हैं। बार-बार दोहराने के कारण जनरीतियाँ हमारे कार्य करने और विचार करने की आदत बन जाती हैं तथा वे हमारे मानसिक जीवन की अकथनीय सीमाओं का निर्माण करती हैं। ये हमारे व दूसरों के व्यवहारों के बारे में **भविष्यवाणी करने की क्षमता प्रदान करती हैं** जिससे हम जीवन में सुरक्षा तथा व्यवस्था का अनुभव करते हैं। जनरीतियों का उल्लंघन करने पर व्यक्ति अपने को सामाजिक सम्पर्क से पृथक पाता है। ऐसी अवस्था में समाज में उसका जीवन अत्यधिक कठिन हो जाता है। डेविस कहते हैं, "यदि मानव जीवन के आधारभूत तथ्य कहीं दिखाई देते हैं तो समाज की लोकरीतियों में, क्योंकि हम इन लोकरीतियों से अपना जीवन आरम्भ करके उन्हीं तक सीमित रहते हैं।"

बीरस्टीड इनका महत्त्व बताते हुए कहते हैं, "कोई भी समाज इनके बिना नहीं रह सकता। ये सामाजिक संरचना के अंग हैं और सामाजिक सम्बन्धों एवं व्यवस्था को स्थिरता प्रदान करती हैं।" इस प्रकार जनरीतियाँ (i) समाज में एकरूपता लाने का कार्य करती हैं, (ii) मानव की आवश्यकता-पूर्ति में सहायता करती हैं, (iii) मानव व्यवहार को सरल बना देती हैं, (iv) एक पीढी का ज्ञान एवं अनुभव दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाती हैं, (v) मानव समाज में नियन्त्रण रखने का कार्य करती हैं, तथा (vi) जनरीतियों के अध्ययन से हम किसी समाज के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

प्र.7. सामाजिक जीवन में लोकाचार के महत्त्व पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।

उत्तर

सामाजिक जीवन में लोकाचारों का महत्त्व
(Importance of Mores in Social Life)

सामाजिक जीवन में लोकाचारों के महत्त्व एवं उपयोगिता का वर्णन निम्नलिखित है—

1. लोकाचार समाज में **नियन्त्रण रखने का कार्य करते हैं** क्योंकि इनके पीछे पित्र्यात्माओं एवं अलौकिक शक्ति का भय होता है।
2. लोकाचारों द्वारा **आवश्यकताओं की पूर्ति में आने वाली बाधाओं को दूर किया जा सकता है।**
3. लोकाचार हमारे तथा दूसरों के व्यवहारों के बारे में भविष्यवाणी करने की क्षमता प्रदान करते हैं जिससे **हम जीवन में सुरक्षा तथा व्यवस्था का अनुभव करते हैं।**
4. लोकाचार हमारे अधिकांश **निजी व्यवहारों को निश्चित करते हैं।** ये समाज के सदस्यों को एक विशेष प्रकार का व्यवहार करने को बाध्य करते हैं और कुछ व्यवहारों को करने पर रोक लगाते हैं।
5. लोकाचार **व्यक्ति तथा समूह में एकरूपता स्थापित करते हैं।** लोकाचार व्यक्ति को अपने समुदाय, सामाजिक वर्ग अथवा लिंग के अनुसार आचरण करने के लिए बाध्य करते हैं। समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहारों के अनुसार आचरण करके व्यक्ति समूह तथा अपने अन्य साथियों के साथ एकरूपता स्थापित कर लेता है।
6. **लोकाचार सामाजिक सुदृढ़ता के संरक्षक हैं।** प्रत्येक सामाजिक इकाई के अपने लोकाचार होते है। लिंग, आयु, वर्ग और समूह के लिए और परिवार से लेकर राष्ट्र तक और उससे परे सभी समूहों के लिए भी भिन्न-भिन्न लोकाचार पाए जाते हैं। इनमें से प्रत्येक के लोकाचार समूह की सुदृढ़ता को बनाए रखने का कार्य करते हैं। नगरीय समुदायों की अपेक्षा ग्रामीण समुदायों में लोकाचार अधिक बाध्यतापूर्ण एवं एकता पैदा करने वाले होते हैं।
7. लोकाचार सामाजिक कल्याण का कार्य करते हैं।
8. लोकाचार नवीन पीढ़ी को समाज की कार्य-विधियों का ज्ञान कराते हैं तथा उनके समाजीकरण में योग देते है।
9. लोकाचार समाज में मूल्यों और नैतिकता को प्रोत्साहन देते हैं।

प्र.8. सामाजिक मूल्यों के वर्गीकरण पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

मूल्यों का वर्गीकरण
(Classification of Values)

मूल्यों का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया जाता है। **पेरी** ने मूल्यों को **नकारात्मक, सकारात्मक, विकासवादी** एवं **वास्तविक,** आदि भागों में वर्गीकृत किया है। नकारात्मक मूल्य कुछ कार्यों को न करने के आदेश देते हैं; जैसे—चोरी मत करो, झूठ मत बोलो, आदि। सकारात्मक मूल्य कुछ कार्य करने के निर्देश देते हैं; जैसे—सदा सच बोलो, जीवों पर दया करो, बड़ों का आदर करो, आदि। कुछ विद्वान मूल्यों को सुखवादी, सौन्दर्यवादी, धार्मिक, आर्थिक, नैतिक एवं तार्किक आदि भागों में बाँटते हैं। **स्प्रेंगर** ने मूल्यों को सैद्धान्तिक, आर्थिक, सौन्दर्यात्मक, सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक आदि भागों में विभक्त किया है। सैद्धान्तिक मूल्यों का सम्बन्ध समाज में प्रचलित आदर्श एवं सिद्धान्तों से होता है जो जीवन दर्शन को अभिव्यक्त करते हैं। आर्थिक मूल्यों का सम्बन्ध आर्थिक जीवन से होता है; जैसे—पैसा ईमानदारी से कमाना चाहिए, कम नहीं तोलना चाहिए आदि। सौन्दर्यात्मक मूल्यों का सम्बन्ध जीवन के कला पक्ष से होता है। कलाकृतियों, गीत-संगीत, नृत्य का निर्माण इन्हीं मूल्यों के आधार पर किया जाता है। राजनीतिक मूल्यों का सम्बन्ध सत्ता, सरकार व राज्य से होता है। इनका सम्बन्ध श्रेष्ठ शासक एवं श्रेष्ठ नागरिक से होता है। धार्मिक मूल्यों का सम्बन्ध, ईश्वर आराधना, पूजा-पाठ, अनुष्ठान, अर्चना के विधि-विधानों से होता है।

सी०एम० केस ने सामाजिक मूल्यों को निम्नलिखित चार भागों में बाँटा है—

1. **सावयवी मूल्य**—इस प्रकार के मूल्यों का सम्बन्ध आग, पानी एवं भार आदि से है। जैसे 'आग से मत खेलो', 'पानी से दूर रहो', 'भारी पदार्थ से अलग रहो' आदि। ये वे मूल्य हैं जो शरीर एवं सावयव की रक्षा तथा व्यक्ति के जन्म एवं मृत्यु से सम्बन्धित होते हैं।
2. **विशिष्ट मूल्य**—प्रत्येक व्यक्ति की अपनी व्यक्तिगत विशेषताएँ, रुचि एवं विचार होते हैं। उन्हीं के आधार पर वह किसी वस्तु का मूल्यांकन करता है। उदाहरण के लिए, विधवा पुनर्विवाह एवं बाल-विवाह को कोई व्यक्ति उचित मानता है तो कोई अनुचित।
3. **सामाजिक मूल्य**—कुछ मूल्यों का सम्बन्ध सामाजिक जीवन से होता है। सामाजिक व्यवहार, परम्पराओं एवं आदतों के सम्बन्ध में प्रत्येक समाज में कुछ मूल्य पाए जाते हैं।
4. **सांस्कृतिक मूल्य**—इनका सम्बन्ध संस्कृति से होता है। इनमें परम्परा, कला, लोकरीति, रूढ़ियों, उपकरणों (Tools), प्रतीकों (Symbols), सत्यता, सुन्दरता एवं उपयोगिता आदि से सम्बन्धित मूल्य आते हैं। सांस्कृतिक मूल्य पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित किए जाते हैं तथा समाज इन्हें उचित एवं अनुकरणीय मानता है। इन मूल्यों के द्वारा समाज अपने सदस्यों के व्यवहारों को नियमित एवं नियन्त्रित करता है।

सामाजिक मूल्यों का एक अन्य वर्गीकरण धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सौन्दर्यात्मक के रूप में किया गया है जिनका सम्बन्ध धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक जीवन एवं सौन्दर्य-बोध से है। इन विभिन्न क्षेत्रों में व्यवहारों एवं वस्तुओं का मूल्यांकन उस समाज में प्रचलित मूल्यों के आधार पर ही किया जाता है।

खण्ड-स विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. सामाजिक संरचना को परिभाषित करते हुए इसके प्रमुख रूपों का वर्णन कीजिए।

उत्तर

सामाजिक संरचना का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Social Structure)

कार्ल मानहीम के अनुसार, "सामाजिक संरचना परस्पर क्रिया करती हुई सामाजिक शक्तियों का जाल है जिससे अवलोकन और चिन्तन की विभिन्न प्रणालियों का जन्म होता है।" मानहीम सामाजिक संरचना को सामाजिक शक्तियों का जाल मानते हैं। 'जाल' से उनका तात्पर्य व्यवस्थित प्रतिमानों (Arranged Patterns) से है। एक जाल का निर्माण कई धागों से होता है। ये धागे जाल की इकाइयाँ हैं, इनके क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित रूप से जमने पर ही जाल बनता है। सामाजिक शक्तियों से उनका तात्पर्य नियन्त्रण के उन साधनों से है जो सामाजिक जीवन को स्थिरता प्रदान करते हैं। ये शक्तियाँ परस्पर अन्त:क्रिया करती रहती हैं और समाज में निरीक्षण एवं चिन्तन की पद्धतियों को भी जन्म देती हैं। मानहीम की यह परिभाषा संरचना की अन्य विशेषताओं को प्रकट करने में असफल रही है।

पारसन्स के अनुसार, "सामाजिक संरचना परस्पर सम्बन्धित संस्थाओं, एजेन्सियों और सामाजिक प्रतिमानों तथा साथ ही समूह में प्रत्येक सदस्य द्वारा ग्रहण किए गए पदों तथा कार्यों की विशिष्ट क्रमबद्धता को कहते हैं।" पारसन्स की इस परिभाषा से तीन बातें स्पष्ट होती हैं—

1. सामाजिक संरचना का निर्माण सामाजिक संस्थाओं, एजेन्सियों, प्रतिमानों एवं व्यक्तियों द्वारा ग्रहण किए गए पदों एवं भूमिकाओं रूपी इकाइयों से होता है।
2. ये सभी इकाइयाँ एक-दूसरे से सम्बन्धित होती हैं।
3. सामाजिक संरचना में एक विशिष्ट क्रमबद्धता पाई जाती है। इन विशेषताओं से यह भी स्पष्ट है कि सामाजिक संरचना एक अमूर्त धारणा है, क्योंकि समाज की संरचना का निर्माण सामाजिक सम्बन्धों, संस्थाओं, प्रतिमानों, पदों एवं भूमिकाओं से होता है और ये सभी अमूर्त हैं।

गिन्सबर्ग के अनुसार, "सामाजिक संरचना का अध्ययन सामाजिक संगठन के प्रमुख स्वरूपों अर्थात् समूहों, समितियों तथा संस्थाओं के प्रकार एवं इन सबके संकुल (Complex) जिनसे कि समाज का निर्माण होता है, से सम्बन्धित है। गिन्सबर्ग ने अपनी परिभाषा में सामाजिक संरचना एवं सामाजिक संगठन में कोई भेद नहीं किया है। उनका मत है कि सामाजिक संरचना का निर्माण समूहों, समितियों एवं संस्थाओं से मिलकर होता है।

मैकाइवर तथा **पेज** के अनुसार, "समूह निर्माण के विभिन्न तरीके संयुक्त रूप में सामाजिक संरचना के जटिल प्रतिमान का निर्माण करते हैं·····सामाजिक संरचना के विश्लेषण में सामाजिक प्राणियों की विविध प्रकार की मनोवृत्तियों तथा रुचियों के कार्य प्रकट होते हैं।" इस प्रकार मैकाइवर तथा पेज ने समूह निर्माण के विभिन्न तरीकों को ही सामाजिक संरचना का आधार माना है। वे सामाजिक संरचना को अमूर्त मानते हैं, क्योंकि समाज का ताना-बाना सामाजिक सम्बन्धों से बना होता है और सामाजिक सम्बन्ध अमूर्त होते हैं। वे इसे स्पष्ट करते हुए पुन: लिखते हैं, "न तो हम सामाजिक संरचना को देखते हैं और न ही देख सकते हैं। हम समाज को देख नहीं सकते, उसके बाह्य पक्षों को भले ही देख लें, क्योंकि समाज मानवीय सम्बन्धों का संगठन है जो कि मनुष्यों द्वारा ही बनाया जाता है, स्थिर रहता है और उनके द्वारा ही सदैव परिवर्तित किया जाता है।"

मजूमदार एवं **मदान** लिखते हैं, "पुनरावृत्तीय सामाजिक सम्बन्धों के तुलनात्मक स्थायी पक्षों से सामाजिक संरचना बनती है।" इस परिभाषा से स्पष्ट है कि जो सामाजिक सम्बन्ध बार-बार दोहराए जाते हैं और तुलनात्मक रूप से स्थायी होते हैं, वे समाज की संरचना का निर्माण करते हैं।

कोजर एवं **रोजनबर्ग** लिखते हैं, "संरचना का तात्पर्य सामाजिक इकाइयों के तुलनात्मक स्थिर एवं प्रतिमानित सम्बन्धों से है।" इस परिभाषा में भी इस बात पर जोर दिया गया है कि सामाजिक संरचना का निर्माण सामाजिक इकाइयों से होता है। ये इकाइयाँ व्यवस्थित रूप से जमी होती हैं और इनमें स्थिरता पाई जाती है। समूह, संस्थाएँ पद, भूमिकाएँ आदि सामाजिक इकाइयाँ ही हैं।

हैरी जॉनसन के अनुसार, "किसी वस्तु का ढाँचा (संरचना) उसके अंगों (Parts) के अपेक्षाकृत स्थायी अन्तर्सम्बन्धों से निर्णित होता है, स्वयं 'अंग' शब्द से ही कुछ स्थायित्व के अंश का ज्ञापन होता है। सामाजिक प्रणाली क्योंकि लोगों के अन्तर्सम्बन्धित कृत्यों से निर्णित होती है, इसका ढाँचा भी इन कृत्यों (Acts) में पाई जाने वाली नियमितता या पुनरावृत्ति के अंशों में ढूँढा जाना चाहिए।

जॉनसन की इस परिभाषा से स्पष्ट है कि प्रत्येक संरचना कई इकाइयों या अंगों से मिलकर बनती है और इन अंगों में परस्पर स्थायी सम्बन्ध पाये जाते हैं। स्थायित्व के अभाव में न तो संरचना लम्बे समय तक बनी रह सकेगी और न ही विभिन्न अंग परस्पर सहयोग दे पाएँगे। सामाजिक संरचना का निर्माण भी लोगों द्वारा परस्पर सम्बन्धित क्रियाओं या कृत्यों (Acts) द्वारा होता है, ये क्रियाएँ बार-बार दुहराई जाती हैं और इनमें एक नियमबद्धता पाई जाती है।

नैडेल का मत है कि समाजशास्त्रीय साहित्य में सामाजिक संरचना शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है। इसका प्रयोग व्यवस्था, संगठन, संकुल (Complex), प्रतिमान (Pattern), प्रारूप (Type) एवं समाज आदि के पर्यायवाची के रूप में किया गया है। यह सामाजिक संरचना की अवधारणा को स्पष्ट करती है। यह तुलनात्मक रूप में यद्यपि स्थिर होती है, लेकिन इसका निर्माण करने वाले अंग स्वयं परिवर्तनशील होते हैं।

रैडक्लिफ ब्राउन के अनुसार, "सामाजिक संरचना के अंग (Components) या भाग मनुष्य ही हैं और स्वयं संरचना संस्था द्वारा परिभाषित और नियमित सम्बन्धों में लगे हुए व्यक्तियों की एक क्रमबद्धता है।" वे कहते हैं, "वास्तविक जीवन में हम देखते हैं कि मनुष्य परस्पर सामाजिक सम्बन्धों द्वारा बँधे हुए हैं। वास्तविक रूप से पाए जाने वाले इन सम्बन्धों के द्वारा ही सामाजिक संरचना का निर्माण होता है। मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध स्वतन्त्र नहीं होते वरन संस्थाओं एवं नियमों द्वारा परिभाषित, नियमित

एवं नियन्त्रित होते हैं। **इग्गन** (Eggen) तथा **फोर्टेस** (Fortes) अन्त:वैयक्तिक सम्बन्धों को ही सामाजिक संरचना के अंग मानते हैं जबकि इवान्स प्रिचार्ड समूह के अन्त:सम्बन्धों को।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि **सामाजिक संरचना समाज की विभिन्न इकाइयों, समूहों, संस्थाओं, समितियों, सामाजिक सम्बन्धों से निर्णित एक प्रतिमानित एवं क्रमबद्ध ढाँचा है।** सामाजिक संरचना अपेक्षतया एक स्थिर अवधारणा है जिसमें अपवाद रूप में ही परिवर्तन होते हैं।

सामाजिक संरचना के प्रमुख रूप
(Principal Types of Social Structure)

पारसन्स ने सामाजिक मूल्यों के आधार पर सामाजिक संरचना के चार रूपों का उल्लेख किया है। उन्होंने चार प्रकार के सामाजिक मूल्य माने हैं—1. **सार्वभौमिक सामाजिक मूल्य** जो सारे समाज में फैले होते हैं और सभी लोगों पर लागू होते हैं। उदाहरण के लिए, सच्चाई और ईमानदारी सभी समाजों में उत्तम गुणों के रूप में स्वीकार किए जाते हैं। 2. **विशिष्ट सामाजिक मूल्य** जो किसी समाज विशेष तक ही सीमित होते हैं। उदाहरण के लिए, पतिव्रत का आदर्श हिन्दुओं में ही पाया जाता है। 3. **अर्जित सामाजिक मूल्य**—जिनका सम्बन्ध व्यक्ति के प्रयत्नों द्वारा प्राप्त किए गए पदों से होता है। 4. **प्रदत्त सामाजिक मूल्य**—जिनका सम्बन्ध जन्म एवं परम्परा द्वारा निर्धारित पदों से होता है। इन चार प्रकार के सामाजिक मूल्यों के आधार पर सामाजिक संरचना के भी चार रूप पाए जाते हैं। वे इस प्रकार हैं—

1. **सार्वभौमिक प्रदत्त प्रतिमान**—इस प्रकार के प्रतिमानों में दो प्रकार के प्रतिमान, सार्वभौमिक एवं प्रदत्त आते हैं। कुछ समाज ऐसे हैं जिनमें प्रदत्त प्रतिमानों को सार्वजनिक रूप से स्वीकार किया जाता है। ऐसे समाजों में परम्परात्मक आदर्शों एवं कर्त्तव्यों की ओर अधिक झुकाव पाया जाता है।
2. **सार्वभौमिक अर्जित प्रतिमान**—इस प्रकार के प्रतिमानों में भी सार्वभौमिक एवं अर्जित इन दो प्रतिमानों का समावेश होता है। इस प्रकार के प्रतिमानों में व्यक्ति के प्रयत्नों एवं गुणों द्वारा प्राप्त पदों को सार्वभौमिक रूप से स्वीकार किया जाता है। उदाहरण के लिए, सभी पूँजीवादी समाजों में सम्पत्ति के संचय एवं अर्जन को महत्त्व दिया जाता है। वर्ग-व्यवस्था इस प्रकार के समाजों की विशेषता है।
3. **विशिष्ट प्रदत्त प्रतिमान**—इस प्रकार के प्रतिमान रक्त सम्बन्ध व स्थानीय समुदायों पर आधारित होते हैं। इस प्रकार की सामाजिक संरचना में व्यक्तिगत गुणों को अधिक महत्त्व दिया जाता है और सामाजिक संगठन को बनाए रखने के लिए नैतिकता एवं प्रत्येक व्यक्ति द्वारा किसी-न-किसी कार्य को करना आवश्यक माना जाता है। ऐसी सामाजिक संरचना वाले समाज का उदाहरण स्पेन है।
4. **विशिष्ट अर्जित प्रतिमान**—इस प्रकार के मूल्य सार्वभौमिक के स्थान पर विशिष्ट मूल्यों पर अधिक जोर देते हैं। उदाहरण के लिए, परिवार, गोत्र एवं वंश का महत्त्व भारत एवं चीन में अधिक पाया जाता है।

प्र.2. सामाजिक संरचना के मुख्य विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

सामाजिक संरचना की विशेषताएँ
(Characteristics of Social Structure)

सामाजिक संरचना को अधिक स्पष्टत: समझने के लिए हम यहाँ उसकी विशेषताओं का उल्लेख निम्न प्रकार है—

1. **सामाजिक संरचना समाज के बाह्य स्वरूप का बोध कराती है**—सामाजिक संरचना का निर्माण विभिन्न इकाइयों से होता है। ये इकाइयाँ जब एक क्रमबद्ध व्यवस्था में जुड़ जाती हैं तो एक ढाँचे का निर्माण होता है। इसमें हम इकाइयों के कार्यों को सम्मिलित नहीं करते हैं। जिस प्रकार से शरीर के विभिन्न अंग; जैसे—हाथ, पाँव, नाक, कान, आँख, सिर, पेट आदि एक व्यवस्थित क्रम में परस्पर जुड़ते हैं तो शरीर रूपी ढाँचे का निर्माण होता है, जिसके बाह्य रूप को स्पष्टत: देखा जा सकता है। इसी प्रकार से समाज का निर्माण करने वाली इकाइयाँ भी क्रमबद्ध रूप से जुड़ने पर एक बाह्य ढाँचे का निर्माण करती हैं, जिसे सामाजिक संरचना कहते हैं। सामाजिक संरचना का सम्बन्ध सामाजिक इकाइयों की कार्य-विधि से नहीं है।
2. **सामाजिक संरचना अखण्ड व्यवस्था नहीं है**—प्रत्येक सामाजिक संरचना का निर्माण विभिन्न इकाइयों से होता है। ये इकाइयाँ, व्यक्ति, समूह, संस्थाएँ, समितियाँ आदि हैं। इस प्रकार प्रत्येक संरचना कई खण्डों से मिलकर बनी होती है, अत:

वह अखण्ड नहीं है। फिर भी ये इकाइयाँ जब परस्पर एक क्रम में जुड़ जाती हैं तो एक बनावट या प्रतिमान को प्रकट करती हैं। उदाहरण के लिए, एक कमरे का निर्माण ईंट, चूना, पत्थर, खिड़की व दरवाजे आदि से मिलकर होता है। इन्हें एक विशिष्ट क्रम में जोड़ने पर कमरे का प्रतिमान या स्वरूप प्रकट होता है।

3. **सामाजिक संरचना अन्त:सम्बन्धित इकाइयों का एक व्यवस्थित स्वरूप है**—सामाजिक संरचना का निर्माण विभिन्न इकाइयों से होता है। ये इकाइयाँ अस्त-व्यस्त और बिखरी हुई नहीं होती वरन् उनमें परस्पर सम्बन्ध पाया जाता है। उदाहरण के लिए, घड़ी का निर्माण करने वाली सभी इकाइयों को परस्पर जोड़ने पर ही घडी की संरचना बनती है।
4. **सामाजिक संरचना की इकाइयों में एक क्रमबद्धता पाई जाती है**—किसी भी सामाजिक संरचना का निर्माण मात्र इकाइयों के झुण्ड या योग से नहीं होता वरन् उन्हें एक विशिष्ट क्रम में जोड़ने से होता है। क्रम के अभाव में संरचना नहीं बन सकती है; जैसे—ईंट, चूने व पत्थर के ढेर से मकान नहीं बन सकता जब तक कि उन्हें एक क्रम में न जोड़ा जाए।
5. **सामाजिक संरचना अपेक्षाकृत एक स्थायी अवधारणा है**—सामाजिक संरचना अपेक्षाकृत एक स्थायी अवधारणा है। इसके दो अर्थ हैं—
   (i) सामाजिक संरचना का निर्माण करने वाली इकाइयाँ अपेक्षतया स्थायी होती हैं। उदाहरण के लिए, समाज का निर्माण करने वाले विभिन्न समूह, समितियाँ एवं संस्थाएँ; जैसे—परिवार, धर्म, आर्थिक व शैक्षणिक संगठन एवं विवाह आदि समाज में अपेक्षतया स्थायी रूप से पाए जाते हैं। इनमें छोटा-मोटा परिवर्तन होने से सम्पूर्ण संरचना प्रभावित नहीं होती।
   (ii) सामाजिक संरचना इस अर्थ में भी स्थायी होती है कि इसका निर्माण करने वाली विभिन्न इकाइयों के पारस्परिक सम्बन्धों में भी स्थायित्व पाया जाता है। इस प्रकार सामाजिक संरचना में स्थायित्व दो अर्थों में पाया जाता है—एक तो इकाइयाँ स्वयं स्थायी होती हैं तथा दूसरे, इकाइयों के पारस्परिक सम्बन्धों में भी स्थिरता पाई जाती है।
6. **सामाजिक संरचना अमूर्त होती है**—मैकाइवर और पारसन्स सामाजिक संरचना को एक अमूर्त धारणा मानते हैं। उनका मत है कि सामाजिक संरचना का निर्माण विभिन्न संस्थाओं, एजेंसियों, प्रतिमानों, प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं से मिलकर होता है। ये सभी इकाइयाँ अमूर्त हैं, इनका भौतिक वस्तु की भाँति कोई ठोस आकार या रूप नहीं है, उन्हें देखा या छुआ नहीं जा सकता है। अत: इनसे निर्मित सामाजिक संरचना भी अमूर्त होती है। समाज का निर्माण सामाजिक सम्बन्धों से होता है, ये सम्बन्ध अमूर्त हैं, अत: सामाजिक संरचना भी अमूर्त होती है, किन्तु **रैडक्लिफ ब्राउन** सामाजिक संरचना की इकाई व्यक्ति को मानते हैं, लेकिन अधिकांश समाजशास्त्री सामाजिक संरचना की व्याख्या एक अमूर्त धारणा के रूप में ही करते हैं।
7. **सामाजिक संरचना का निर्माण अनेक उप-संरचनाओं से होता है**—प्रत्येक सामाजिक संरचना का निर्माण कई उप-संरचनाओं (Sub-structures) से मिलकर होता है। जिस प्रकार से शरीर रूपी संरचना का निर्माण मस्तिष्क, पाचन व श्वसन संस्थानों आदि से होता है जिसमें अनेक अंग होते हैं। उसी प्रकार सामाजिक संरचना का निर्माण भी विभिन्न उप-संरचनाओं; जैसे—परिवार, जाति, वर्ग, चर्च, शिक्षण संस्था, धार्मिक संस्था, आर्थिक संस्था आदि के द्वारा होता है जिनकी स्वयं की अपनी एक संरचना होती है। इस प्रकार उप-संरचनाएँ मिलकर सामाजिक संरचना का निर्माण करती हैं जिनकी प्रत्येक की अपनी भी एक संरचना होती है।
8. **सामाजिक संरचना स्थानीय विशेषताओं से प्रभावित होती है**—प्रत्येक समाज की एक संरचना होती है और वह दुसरे समाज से भिन्न होती है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक सामाजिक संरचना किसी-न-किसी सांस्कृतिक व्यवस्था से प्रभावित होती है, वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों का भी उस पर प्रभाव पड़ता है। विभिन्न स्थानों की संस्कृति, राजनीतिक दशा एवं भौगोलिक परिस्थितियों में अन्तर पाया जाता है, अत: सामाजिक संस्थाएँ भी इनसे प्रभावित होने के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। रैडक्लिफ ब्राउन ने सामाजिक संरचना की धारणा में स्थानीय विशेषताओं को भी उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण माना है।
9. **सामाजिक संरचना में प्रत्येक इकाई का एक पूर्व-निश्चित स्थान व पद होता है**—सामाजिक संरचना में प्रत्येक इकाई का पद एवं स्थान निर्धारित होता है, उस स्थान पर रहकर ही वह सामाजिक संरचना का निर्माण करती है। अन्य स्थान पर होने पर संरचना बिगड़ जाती है। जिस प्रकार से शरीर संरचना में हाथ, पाँव, नाक, कान, आँख का एक स्थान तय है और यदि हाथ का स्थान पाँव, नाक का स्थान कान व आँख का स्थान जीभ ले ले तो शरीर संरचना विकृत हो जाएगी, उसी

प्रकार सामाजिक संरचना में राज्य, चर्च, परिवार, विवाह, धर्म, न्याय-व्यवस्था, शिक्षण संस्था आदि सभी का स्थान पूर्व-निर्धारित है। यदि ये एक-दूसरे का स्थान ग्रहण कर लें तो सामाजिक संरचना में विकृति आ जाएगी।

10. **सामाजिक संरचना में सामाजिक प्रक्रियाएँ भी महत्त्वपूर्ण होती हैं**—सामाजिक संरचना के निर्माण में सहयोगी एवं असहयोगी प्रक्रियाओं; जैसे—सहयोग, अनुकूलन, व्यवस्थापन, एकीकरण, सात्मीकरण, प्रतिस्पर्धा एवं सहयोग आदि की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण है। ये सामाजिक प्रक्रियाएँ ही सामाजिक संरचना के स्वरूप को तय करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। सामाजिक प्रक्रियाओं का बाह्य रूप सामाजिक संरचना को तय करता है।
11. **सामाजिक संरचना में विघटन के तत्व भी पाए जाते हैं**—सामाजिक संरचना मानव की अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है, किन्तु कोई भी सामाजिक संरचना अपने आप में श्रेष्ठ नहीं होती और न ही उसमें पूर्ण संगठन पाया जाता है। कई बार यह समाज में विघटन भी पैदा करती है। मर्टन तथा दुर्खीम का मत है कि कई बार सामाजिक संरचना स्वयं समाज में नियमहीनता (anomie) पैदा करती है। सामाजिक संरचना में संगठन एवं विघटन दोनों ही पैदा करने वाले तत्व पाए जाते हैं।

प्र.3. प्रस्थिति का अर्थ, परिभाषा एवं विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर

प्रस्थिति का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Status)

प्रत्येक व्यक्ति का अपने समूह या समाज में एक समय विशेष में कोई-न-कोई स्थान अथवा पद अवश्य होता है। कोई उच्च पद पर आसीन होता है तो कोई निम्न पद पर। एक व्यक्ति एक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण पद पर हो सकता है तो दूसरे क्षेत्र में उसका दर्जा नीचा हो सकता है। स्पष्ट है कि, प्रत्येक व्यक्ति का समाज में अपना कोई-न-कोई पद या दर्जा होता है जिसे समाजशास्त्रीय भाषा में 'प्रस्थिति' कहा जाता है और एक प्रस्थिति धारण करने के फलस्वरूप व्यक्ति से जिस प्रकार के कार्यों की समाज सामान्यत: अपेक्षा करता है तथा उसके अनुरूप वह जो कुछ करता है, उसे उसकी 'भूमिका' कहते हैं।

इलियट एवं **मैरिल** के अनुसार, "प्रस्थिति व्यक्ति का वह पद है जिसे व्यक्ति किसी समूह में अपने लिंग, आयु, परिवार, वर्ग, व्यवसाय, विवाह अथवा प्रयत्नों आदि के कारण प्राप्त करता है।"

ऑगबर्न तथा **निमकॉफ** के अनुसार, "प्रस्थिति की सबसे सरल परिभाषा यह है कि यह समूह में व्यक्ति के पद का प्रतिनिधित्व करती है।"

किम्बाल यंग के अनुसार, "प्रत्येक समाज तथा समूह में प्रत्येक व्यक्ति को कुछ कार्यों को सम्पन्न करना होता है जिनके साथ शक्ति तथा प्रतिष्ठा की कुछ मात्रा जुड़ी होती है। शक्ति तथा प्रतिष्ठा की जिस मात्रा का हम प्रयोग करते हैं, वही उसकी प्रस्थिति है।"

लिण्टन के अनुसार, "सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत किसी व्यक्ति को एक समय विशेष में जो स्थान प्राप्त होता है, उसी को उस व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति कहा जाता है।"

बीरस्टीड ने बताया है, "सामान्यत: एक प्रस्थिति समाज अथवा एक समूह में एक पद है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि **प्रस्थिति व्यक्ति की समूह अथवा समाज में पद की सूचक है। यह पद व्यक्ति को समाज द्वारा स्वत: ही प्रदान किया जा सकता है या व्यक्ति अपने गुणों एवं योग्यता के आधार पर प्राप्त कर सकता है।**

प्रस्थिति की विशेषताएँ
(Characteristics of Status)

प्रस्थिति को स्पष्टत: समझने के लिए इसकी विशेषताओं का वर्णन निम्नलिखित है—

1. प्रत्येक समाज में एक प्रस्थिति और उससे सम्बन्धित भूमिका का निर्धारण उस समाज के सांस्कृतिक कारकों एवं मूल्यों द्वारा होता है। संस्कृति ही यह तय करती है कि किसे कौन-सी प्रस्थिति प्रदान की जाएगी और वह क्या भूमिका निभाएगा?
2. प्रस्थिति की अवधारणा को दूसरे व्यक्तियों के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। एक व्यक्ति की प्रस्थिति का सम्बन्ध अन्य व्यक्तियों की प्रस्थितियों से होता है जो उनसे प्रभावित भी होते हैं। उदाहरण के लिए, प्राचार्य की प्रस्थिति को प्राध्यापकों एवं छात्रों की प्रस्थितियों के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है।
3. एक ही प्रस्थिति का निर्वाह पृथक-पृथक व्यक्तियों द्वारा अपने-अपने ढंग से किया जाता है। प्रधानमन्त्री के रूप में पंडित जवाहरलाल नेहरू, लालबहादुर शास्त्री एवं मोरारजी देसाई द्वारा समान ढंग से भूमिकाओं का निर्वाह नहीं किया गया।

TOUCH 'n PASS

4. प्रत्येक प्रस्थिति व्यक्ति के सम्पूर्ण सामाजिक पद का केवल एक भाग ही होती है। व्यक्ति समाज में एक साथ अनेक प्रस्थितियाँ प्राप्त करता है और विभिन्न अवसरों पर उनके अनुरूप ही अपनी भूमिका निभाता है। उदाहरणार्थ एक ही व्यक्ति डॉक्टर, पिता, पति एवं पुत्र के रूप में विभिन्न प्रस्थितियाँ धारण करता है और उनका निर्वाह अवसर आने पर उन्हीं के अनुरूप करता है।
5. प्रस्थिति के आधार पर सम्पूर्ण समाज विभिन्न प्रस्थिति समूहों में बँटा होता है। इन प्रस्थिति समूहों के आधार पर हम किसी समाज की विशेषताओं को ज्ञात कर सकते हैं।
6. प्रत्येक प्रस्थिति के साथ एक विशेष मूल्य एवं प्रतिष्ठा जुड़ी होती है जो संस्कृति द्वारा निर्धारित होती है; जैसे—पश्चिमी देशों में भारत की अपेक्षा स्त्री की प्रतिष्ठा ऊँची है।
7. एक व्यक्ति एक ही समय में कई प्रस्थितियों को धारण करता है, किन्तु वह सभी का निर्वाह समान योग्यता एवं कुशलता के साथ नहीं कर पाता है। एक व्यक्ति अच्छा खिलाड़ी हो सकता है, किन्तु वह एक असफल व्यापारी और लापरवाह पति भी हो सकता है।
8. समाज में उच्च एवं निम्न प्रस्थितियों के कारण ही सामाजिक संस्तरण तथा विभेदीकरण पैदा होता है जो उदग्र (Vertical) या क्षैतिज (Horizontal) के रूप में हो सकता है।
9. समाज में कुछ प्रस्थितियाँ प्रदत्त होती हैं जो एक व्यक्ति को समाज स्वयं प्रदान करता है और दूसरी ओर कुछ प्रस्थितियाँ व्यक्ति अपनी योग्यता एवं प्रयत्नों के द्वारा अर्जित करता है।

प्र.4. प्रस्थिति के विविध प्रकारों की व्याख्या कीजिए।

उत्तर

सामाजिक प्रस्थितियों के प्रकार
(Kinds of Social Statuses)

सन् 1936 में **राल्फ लिण्टन** ने समाज में पाई जाने वाली प्रस्थितियों को प्रमुख रूप से दो भागों—प्रदत्त तथा अर्जित में विभक्त किया। हम यहाँ इन दोनों का ही उल्लेख करेंगे—

(I) प्रदत्त प्रस्थिति (Ascribed Status)

समाज में कुछ प्रस्थितियाँ ऐसी होती हैं जो व्यक्ति के गुणों पर ध्यान दिए बिना उसको स्वत: ही प्राप्त हो जाती हैं। ये प्रस्थितियाँ व्यक्ति को किसी परिवार विशेष में जन्म लेने व परम्परा आदि के कारण प्राप्त होती हैं और बच्चे को उस समय प्रदान कर दी जाती हैं जबकि उसके व्यक्तित्व के बारे में समाज कुछ नहीं जानता। समाज में प्रदत्त प्रस्थितियाँ पहले से ही मौजूद होती हैं जो नवीन जन्म लेने वाले प्राणी को प्रदान कर दी जाती हैं। विश्व के सभी समाजों में प्रदत्त प्रस्थितियाँ पाई जाती हैं।

प्रदत्त प्रस्थिति के निर्धारण के आधार (Bases of Determination of Ascribed Status)

किसी भी व्यक्ति की प्रस्थिति का निर्धारण अनेक आधारों पर होता है। प्रदत्त प्रस्थिति-निर्धारण के कुछ प्रमुख आधार निम्न प्रकार हैं—

1. **लिंग-भेद**—लगभग सभी संस्कृतियों में स्त्री एवं पुरुष की प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं में अन्तर पाया जाता है। प्राय: स्त्रियों की तुलना में पुरुष की प्रस्थिति ऊँची मानी जाती है। पश्चिमी संस्कृति में स्त्रियों को कमजोर, कोमल, भावुक, सहज विश्वासी, धार्मिक तथा एक-विवाही माना जाता रहा है। भारत में भी स्त्रियों की प्रस्थिति पुरुषों से नीची रही है और उन्हें अबला, दासी एवं सम्पत्ति के रूप में समझा जाता रहा है। इसी कारण स्त्रियों को उच्च शिक्षा तथा व्यवसाय से पृथक रखा गया, उनको सम्पत्ति एवं राज्याधिकारों से वंचित किया गया तथा उन्हें पुरुषों के अधीन रखा गया। दूसरी ओर पुरुषों को साहस, वीरता, तर्क एवं शौर्य का प्रतीक माना गया है। यही कारण है कि स्त्रियों को छोटे-मोटे घरेलू कार्य; जैसे—सिलाई, वर्तन बनाना एवं बच्चों के पालन-पोषण का कार्य सौंपा गया है जबकि पुरुष पशुचारण, मछली मारने, शिकार व युद्ध करने आदि के कार्य करते रहे हैं जिनमें अधिक शारीरिक शक्ति एवं साहस की आवश्यकता होती है। स्त्री-पुरुषों में पाई जाने वाली शारीरिक रचना की भिन्नता उनके कार्यों में भिन्नता पैदा करती है।
   स्त्री एवं पुरुषों की प्रस्थितियों में सांस्कृतिक कारणों से भी भिन्नता पाई जाती है। सदैव ही पुरुषों की तुलना में स्त्रियों को निम्न स्थान नहीं दिया जाता है। भारत में गारो, खासी तथा नायर मातृ-सत्तात्मक परिवारों में पुरुष की तुलना में स्त्री की प्रस्थिति ऊँची है, वही परिवार की मुखिया होती है, सम्पत्ति एवं धार्मिक कार्यों में वही प्रधान होती है, वंश एवं उत्तरदायित्व

भी स्त्रियों के आधार पर ही तय किए जाते हैं। वर्तमान समय में स्त्री एवं पुरुषों को कुछ कार्यों को छोड़कर, शेष में समान रूप से नौकरी के अवसर प्रदान किए जाते हैं।

2. **आयु-भेद**—यौन-भेद की भाँति आयु-भेद भी निश्चित एवं स्पष्ट शारीरिक लक्षण है, किन्तु आयु एक परिवर्तनशील तथ्य भी है। विश्व की सभी संस्कृतियों में आयु के आधार पर प्रस्थिति भेद पाया जाता है। आयु का विभाजन शिशु, बालक, युवा, प्रौढ एवं वृद्ध आदि स्तरों में किया जा सकता है। समाज में अलग-अलग आयु के लोगों को विभिन्न प्रस्थितियाँ प्रदान की जाती हैं तथा एक विशेष प्रस्थिति के लिए निश्चित आयु का होना भी आवश्यक है। बड़े भाई एवं छोटे भाई का भेद आयु पर निर्भर है। प्राय: बच्चों की तुलना में वृद्ध लोगों को समाज में अधिक सम्मान दिया जाता है। इसका कारण आयु के अतिरिक्त यह भी है कि उन्हें जीवन का अनुभव अधिक होता है तथा वे परम्परा एवं संस्कृति के रक्षक माने जाते हैं। भारत के राष्ट्रपति के लिए कम-से-कम 35 वर्ष की आयु होना आवश्यक है। इसी प्रकार से मत देने, उम्मीदवार होने तथा सरकारी नौकरी प्राप्त करने के लिए भी एक निश्चित आयु प्राप्त करना आवश्यक है। हिन्दू संयुक्त परिवार का मुखिया वयोवृद्ध पुरुष ही होता है। भारत में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम के विभाजन का मूल आधार आयु ही है, किन्तु सदैव ही प्रस्थिति निर्धारण में आयु ही महत्त्वपूर्ण नहीं होती है वरन् उसके साथ लिंग, व्यक्ति के गुण, नातेदारी, क्षमता, शिक्षा, सम्पत्ति तथा सांस्कृतिक आधार भी जुड़े होते हैं।
3. **नातेदारी**—व्यक्ति को नातेदारी के आधार पर भी अनेक प्रस्थितियाँ प्राप्त होती हैं। एक व्यक्ति का अपने माता-पिता एवं रक्त सम्बन्धियों से सम्बन्ध होता है, उनसे सम्बन्धित होने के कारण ही वह अनेक प्रस्थितियाँ प्राप्त करता है। नातेदारी से सम्बन्धित प्रस्थितियाँ प्रदत्त होती हैं क्योंकि हम हमारे माता-पिता एवं भाई-बहन का चयन नहीं करते। नातेदारी जैविकीय एवं सांस्कृतिक दोनों ही तथ्यों का मिश्रित रूप है। समाज में हमें कई पद माता-पिता के द्वारा ही प्राप्त होते हैं। राजा का पुत्र राजपद ग्रहण करता है, हम अपने माता-पिता का वर्ग, धर्म और कभी-कभी व्यवसाय भी ग्रहण करते हैं। भारत में जाति का आधार जन्म ही है। माता, पिता, भाई, बहन, चाचा, मामा, जीजा, साला, दादा, दादी, सास-ससुर आदि प्रस्थितियाँ नातेदारी के आधार पर ही तय होती हैं। नातेदारी के साथ, व्यक्ति के कुछ अधिकार एवं दायित्व भी जुड़े होते हैं। समाज में माता-पिता की सामाजिक स्थिति के आधार पर ही बच्चे का भी मूल्यांकन किया जाता है और उनकी उच्च एवं निम्न स्थिति के अनुसार बच्चे को भी सामाजिक प्रस्थिति प्राप्त होती है।
4. **जन्म**—व्यक्ति का जन्म किस परिवार, जाति अथवा प्रजाति में हुआ है, इस आधार पर भी प्रस्थिति का निर्धारण होता है। शाही घराने एवं उच्च जाति में जन्म लेने वाले की सामाजिक प्रस्थिति निम्न परिवारों एवं अस्पृश्य जातियों के लोगों की तुलना में साधारणत: ऊँची रही है।
5. **शारीरिक विशेषताएँ**—कई प्रस्थितियाँ व्यक्ति को उसकी शारीरिक विशेषताओं के आधार पर प्रदान की जाती हैं। काले एवं कुरूप की तुलना में सुन्दर, निर्बल की तुलना में शक्तिशाली तथा बीमार, लूले-लंगड़े एवं अपंग व्यक्ति की तुलना में स्वस्थ एवं सक्षम व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति ऊँची होती है।
6. **जाति एवं प्रजाति**—भारत में जाति व्यक्ति की प्रस्थिति निर्धारण का प्रमुख आधार है। ऊँची जातियों में; जैसे—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य में जन्म लेने वाले की प्रस्थिति शूद्र एवं अछूत जातियों में जन्म लेने वाले से ऊँची समझी जाती रही है। इसी प्रकार काली एवं पीली प्रजाति की तुलना में गोरी प्रजाति के लोगों की सामाजिक प्रस्थिति ऊँची मानी जाती रही है। अमेरिका में तो काली प्रजाति के लोगों को अनेक सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकारों से वंचित रखा गया। अमेरिका में कोई भी नीग्रो अमेरिका का राष्ट्रपति नहीं बन सकता।

(II) अर्जित प्रस्थिति (Achieved Status)

दूसरी ओर समाज में कुछ प्रस्थितियाँ ऐसी भी होती हैं जिन्हें व्यक्ति अपने गुण, योग्यता एवं क्षमता के आधार पर प्राप्त करता है। ये अर्जित प्रस्थितियाँ कहलाती हैं। **हार्टन** एवं **हण्ट** के अनुसार, "एक सामाजिक पद जिसे व्यक्ति अपनी इच्छा एवं प्रतिस्पर्धा के द्वारा प्राप्त करता है, अर्जित प्रस्थिति के नाम से जाना जाता है। शिक्षा, व्यवसाय, सम्पत्ति-संचय, विवाह, श्रम-विभाजन आदि का सम्बन्ध अर्जित प्रस्थितियों से ही है। साधारणत: दयालु, बुद्धिमान, योग्य, प्रतिभाशाली, साहसी एवं शक्तिशाली व्यक्ति को सभी महत्त्व देते हैं। आधुनिक समाज में जहाँ जन्म के स्थान पर व्यक्ति के गुणों को अधिक महत्त्व दिया जाता है, वहाँ अर्जित प्रस्थितियाँ अधिक पाई जाती हैं।

अर्जित प्रस्थिति के निर्धारण के आधार (Bases of Determination of Achieved Status)

अर्जित प्रस्थिति के निर्धारण के कुछ प्रमुख आधार निम्न प्रकार हैं—

1. **सम्पत्ति**—व्यक्ति के पद का निर्धारण करने में सम्पत्ति एक महत्त्वपूर्ण कारक है। सम्पत्ति पर अधिकार होने या न होने के आधार पर ही व्यक्ति की ऊँची या नीची प्रस्थिति होती है। अक्सर गरीब की तुलना में पूँजीपति की सामाजिक प्रस्थिति ऊँची होती है । आधुनिक युग में जिन लोगों के पास भौतिक सुख-सुविधाएँ अधिक हैं, वे ऊँचे माने जाते हैं। **मात्र सम्पत्ति से ही व्यक्ति की प्रस्थिति निर्धारित नहीं होती है** वरन् यह भी देखा जाता है कि वह सम्पत्ति किस प्रकार से अर्जित की गई। ईमानदार पूँजीपति की प्रस्थिति काला-बाजारी स्मगलिंग एवं अनैतिक तरीके से धन कमाने वाले की तुलना में ऊँची होती है।
2. **व्यवसाय**—व्यवसाय भी व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति निर्धारित करता है। आई०ए०एस०, डॉक्टर, इंजीनियर आदि का पद चपरासी, मिल मजदूर, कृषक एवं जूते ठीक करने वाले से ऊँचा माना जाता है।
3. **शिक्षा**—अशिक्षित की तुलना में शिक्षित का तथा कम पढ़े-लिखे व्यक्ति की तुलना में बी०ए०, एम०ए० तथा अन्य डिप्लोमा और प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति की प्रस्थिति ऊँची होती है।.
4. **राजनीतिक सत्ता**—राजनीतिक सत्ता के आधार पर ही शासक एवं शासित में भेद किया जाता है। साधारण-जन की अपेक्षा सत्ता एवं राजनीतिक अधिकार प्राप्त व्यक्ति की प्रस्थिति ऊँची होती है। प्रजातन्त्र में शासक दल से सम्बन्धित लोगों एवं विरोधी दल के प्रमुख नेताओं की सामाजिक प्रस्थिति ऊँची होती है।
5. **विवाह**—विवाह भी व्यक्ति को कई प्रस्थितियाँ प्रदान करता है। विवाह करने पर ही पति-पत्नी, माता-पिता एवं अन्य प्रस्थितियाँ; जैसे—जीजा, जँवाई, बहू, भाभी आदि प्राप्त की जाती हैं। विधवा या विधुर होने, सजातीय एवं अन्तर्जातीय विवाह करने, एक-विवाह एवं बहु-विवाह करने आदि के आधार पर भी समाज में भिन्न-भिन्न सामाजिक प्रस्थितियाँ प्रदान की जाती हैं।
6. **उपलब्धियाँ**—व्यक्ति द्वारा परिश्रम करके प्राप्त विभिन्न उपलब्धियाँ भी उसकी सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण करती हैं। ये उपलब्धियाँ धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षणिक, आर्थिक एवं खेल-कूद आदि के क्षेत्र में हो सकती हैं। इसीलिए अच्छे खिलाड़ी, वैज्ञानिक, आविष्कारकर्ता, श्रेष्ठ साहित्यकार, संगीतकार, कलाकार, कवि आदि की सामाजिक प्रस्थिति ऊँची होती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि समाज में व्यक्ति की प्रस्थिति के निर्धारण में अनेक कारकों का हाथ है। **प्रदत्त प्रस्थिति** के निर्धारण के लिए उपर्युक्त कारकों में से लिंग-भेद, नातेदारी, जन्म, शारीरिक विशेषताएँ, जाति एवं प्रजाति उत्तरदायी हैं। **अर्जित प्रस्थिति** के निर्धारण में सम्पत्ति, व्यवसाय, शिक्षा, राजनीतिक सत्ता, विवाह एवं उपलब्धियों का विशेष महत्त्व है।

प्र.5. भूमिका से आप क्या समझते हैं? इसका अर्थ, परिभाषा एवं विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर

भूमिका का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Role)

भूमिका प्रस्थिति का गतिशील या व्यावहारिक पहलू है। प्रस्थितियाँ धारण की जाती हैं जबकि भूमिकाओं का निर्वाह किया जाता है। एक व्यक्ति जिस प्रकार से एक स्थिति से सम्बन्धित दायित्वों का निर्वाह और उससे सम्बन्धित सुविधाओं एवं विशेषाधिकारों का उपभोग करता है, उसे ही भूमिका कहते हैं। एक प्रस्थिति धारण करने के कारण व्यक्ति जो कार्य करता है, यह उस पद की भूमिका है। उदाहरण के लिए, राष्ट्रपति का पद एक प्रस्थिति है, इस प्रस्थिति से सम्बन्धित कुछ दायित्व तथा कर्त्तव्य हैं, ये ही राष्ट्रपति की भूमिका के अन्तर्गत आएँगे। राष्ट्रपति की भूमिका निभाने वाले को कुछ सुविधाएँ एवं विशेषाधिकार भी प्राप्त होते हैं।

फेयरचाइल्ड के अनुसार, "भूमिका किसी भी व्यक्ति का समूह में वह अपेक्षित कार्य या व्यवहार है जो समूह या संस्कृति के द्वारा परिभाषित किया गया है।"

डेविस कहते हैं, "भूमिका वह ढंग है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी स्थिति सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।"

इलियट व मैरिल के अनुसार "भूमिका वह कार्य है जिसे वह (व्यक्ति) प्रत्येक प्रस्थिति के अनुरूप निभाता है।"

सार्जेण्ट के अनुसार, "किसी व्यक्ति की भूमिका सामाजिक व्यवहार का ही एक प्रतिमान अथवा प्रारूप है जिसे वह अपने समूह के सदस्यों की प्रत्याशाओं के अनुसार एक परिस्थिति में ठीक समझता है।"

लिण्टन के अनुसार, "भूमिका शब्द का प्रयोग किसी विशेष प्रस्थिति से सम्बन्धित सांस्कृतिक प्रतिमान की समग्रता के लिए किया जाता है। इस प्रकार भूमिका के अन्तर्गत उन सभी अभिवृत्तियों, सामाजिक मूल्यों और व्यवहारों को सम्मिलित किया जाता है जो किसी विशेष प्रस्थिति से सम्बन्धित व्यक्ति को समाज द्वारा प्रदान किए जाते हैं।"

ऑगबर्न एवं **निमकॉफ** के अनुसार, "भूमिका एक समूह में एक विशिष्ट पद से सम्बन्धित सामाजिक प्रत्याशाओं एवं व्यवहार-प्रतिमानों का योग है जिसमें कर्त्तव्यों एवं सुविधाओं दोनों का समावेश होता है।"

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि एक प्रस्थिति धारण करने के कारण समाज जिस प्रकार के कार्यों की व्यक्ति से अपेक्षा करता है, वही भूमिका कहलाती है। भूमिका प्रस्थिति का व्यवहारात्मक एवं गत्यात्मक पहलू है। एक व्यक्ति अपनी प्रस्थिति से सम्बन्धित भूमिका का निर्वाह कैसे करेगा, यह कई बातों पर निर्भर करता है; जैसे—वह अपने कर्त्तव्यों के प्रति कितना जागरूक है, अपने दायित्व निर्वाह के लिए कितना कठिन परिश्रम करता है, उसमें कर्त्तव्य-निष्ठा कितनी है, वह समाज के आदर्श-नियमों के प्रति कितना सजग है और एक साथ कितनी भूमिकाएँ निभा रहा है आदि। अधिक क्षमता एवं अनुभव रखने वाला व्यक्ति अपनी भूमिका का निर्वाह अच्छी प्रकार से करता है। आनुवंशिकता भी व्यक्ति की भूमिका निर्वाह की क्षमता को प्रभावित करती है। कोई भी व्यक्ति किसी पद पर कब तक रहेगा, यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह अपनी भूमिका का पालन कितनी कार्यकुशलता से करता है।

भूमिका की विशेषताएँ
(Characteristics of Role)

भूमिका को अधिक स्पष्टत: समझने के लिए हम उसकी विशेषताओं का यहाँ उल्लेख करेंगे—

1. भूमिका का सम्बन्ध उन व्यवहारों की सम्पूर्णता से है जिनकी एक विशिष्ट प्रस्थिति धारण करने के कारण समूह अथवा समाज द्वारा अपेक्षा की जाती है।
2. भूमिका का निर्धारण संस्कृति एवं सामाजिक मानदण्डों के आधार पर होता है।
3. समाज में कोई भी भूमिका अकेली या एकपक्षीय नहीं होती है वरन् वह सदैव दूसरी प्रस्थितियों या भूमिकाओं के सन्दर्भ में निभायी जाती है।
4. भूमिका का सम्बन्ध प्रस्थिति के साथ जुड़ा होता है। चूँकि प्रस्थितियाँ 'प्रदत्त' और 'अर्जित' दो प्रकार की हैं, अत: भूमिकाएँ भी प्रदत्त और अर्जित होती हैं।
5. भूमिका गतिशील और परिवर्तनशील है। एक ही भूमिका विभिन्न लोगों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से निभायी जाती है और विभिन्न समयों एवं संस्कृतियों में अलग-अलग प्रकार से निभाई जाती है।
6. प्रत्येक व्यक्ति अपनी भूमिका का निर्वाह स्वयं की योग्यता, क्षमता, रुचि, मनोवृत्ति आदि के आधार पर करता है।
7. व्यक्ति समाज में अनेक भूमिकाएँ निभाता है, किन्तु जिस भूमिका के कारण वह समाज में जाना जाता है, वह उसकी मुख्य भूमिका (key role) कहलाती है। अन्य छोटी-मोटी भूमिकाओं को 'सामान्य भूमिकाएँ' (general roles) कहते हैं।
8. अलग-अलग भूमिकाओं का निर्वाह करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार का व्यवहार किया जाता है। सभी भूमिकाओं का निर्वाह एक ही प्रकार के व्यवहार द्वारा नहीं किया जाता।
9. प्रत्येक भूमिका के साथ कुछ-न-कुछ अधिकार एवं सुविधाएँ जुड़ी होती हैं।

प्र.6. सामाजिक भूमिका से सम्बन्धित मुख्य अवधारणाओं की विवेचना कीजिए।

उत्तर

सामाजिक भूमिका से सम्बन्धित मुख्य अवधारणाएँ
(Main Concepts Related to Social Role)

भूमिका से सम्बन्धित विभिन्न विद्वानों द्वारा अवधारणाएँ प्रस्तुत की गई हैं जिनका वर्णन निम्न प्रकार है—

1. **तुलनात्मक**—भूमिका को एक तुलनात्मक अवधारणा के रूप में स्पष्ट किया जाता है। इससे तात्पर्य है कि किसी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा प्रत्येक व्यक्ति की भूमिका निर्धारित होती है या एक मुख्य प्रस्थिति के अनुसार तय होती है।
2. **भूमिका समुच्चय पुंज/संकुल**—यह अवधारणा **मर्टन** द्वारा प्रतिपादित है। विभिन्न प्रस्थितियों से सम्बन्धित होने के नाते व्यक्ति को भिन्न प्रकार की भूमिकाएँ पूर्ण करनी पड़ती हैं। **मर्टन** के अनुसार, एक ही समय पर व्यक्ति को पुत्र, पिता, कर्मचारी आदि के रूप में विभिन्न भूमिकाओं को निष्पादित करना होता है, वह भूमिका पुंज (Role set) कहलाती है।

"**मर्टन** के अनुसार, "भूमिका समुच्चय में संघर्ष के स्रोत संरचनात्मक होते हैं। इस भूमिका समुच्चय के अन्तर्गत प्रत्येक सामाजिक प्रस्थिति किसी एक सम्बद्ध भूमिका को नहीं वरन भूमिकाओं के विन्यास को आवृत करती है।"

3. **भूमिका संघर्ष**—विभिन्न पुंज होने के कारण ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है जहाँ व्यक्ति को असंगत प्रत्याशाएँ या स्वयं की भूमिकाएँ पूर्ण करने में असुविधा का अनुभव होने लगता है या भूमिका तनावपूर्ण हो जाती है, ऐसी स्थिति को हम भूमिका संघर्ष/द्वन्द्व कहते हैं। भूमिका संघर्ष तब तक नहीं हो सकता जब तक प्रत्येक व्यक्ति एक सुनियोजित व्यवस्था के अनुसार कार्य करता है।
4. **भूमिका-ग्रहण—हरबर्ट मीड** ने इस अवधारणा का प्रतिपादन किया है, जिसमें कहा गया है कि स्वयं की प्रस्थिति के अनुसार भूमिका बदलना भूमिका-ग्रहण कहलाता है। प्राय: समाज जिन भूमिकाओं को प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा पूर्ण कराने की आशा रखता हो और व्यक्ति द्वारा स्वयं की भूमिकाओं को उचित ढंग से पूर्ण किया जाता हो वह भूमिका-ग्रहण कहलाती है। भूमिका-ग्रहण कल्पना में पूर्वाभ्यास से सम्बन्धित है।
5. **बहुल भूमिकाएँ**—एक व्यक्ति की भूमिकाएँ परिस्थितियों के अनुसार होती है; जैसे—एक शिक्षक के रूप में स्त्री काम करती है तो इसके साथ ही वह माँ, पत्नी, बहन की भूमिकाओं को भी निभाती है।
6. **भूमिका दूरी**—भूमिका दूरी की अवधारणा **गॉफमैन** ने दी है। **गॉफमैन** द्वारा माना गया है कि "व्यक्ति सामाजिक भूमिका का निर्वहन करते समय वस्तुनिष्ठ रूप से स्वयं को समूह से अलग कर लेता है।"
7. **भूमिका प्रत्याशा**—ऐसी भूमिकाएँ जो पूरी तरह से पति तथा पत्नी द्वारा पारिवारिक जीवन में निभाई जाती है वे दाम्पत्य की भूमिका कहलाती है।

प्र.7. प्रस्थिति एवं भूमिका का महत्त्व बताते हुए दोनों के मध्य अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

प्रस्थिति एवं भूमिका का महत्त्व
(Importance of Status and Role)

प्रस्थिति एवं भूमिका निम्नलिखित दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है—

1. **व्यक्तियों के लिए महत्त्व**—व्यक्तियों में भूमिका का महत्त्व दो रूपों में स्पष्ट होता है।
   (i) भूमिका सामाजिक क्रियाओं हेतु मार्गदर्शन करती है। व्यक्ति स्वयं से बार-बार निर्णय लेने और सोच-विचार के तरीके से बच जाता है।
   (ii) यह व्यक्तियों को भविष्यवाणी की क्षमता प्रस्थितियों के अनुरूप कार्यों में प्रदान करती हैं। भूमिकाओं ने हमारे जीवन को परस्पर क्रियाओं के पूर्वानुमानों को सम्भव बनाकर तथा सुरक्षित बना दिया है।
2. **समाज की प्रकार्यात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति**—इस प्रकार में चार तरीके से सहायक है—
   (i) समाज में भूमिकाओं से श्रम-विभाजन में सरलीकरण हो जाता है।
   (ii) सामाजिक नियन्त्रण तथा सामाजीकरण की पूर्ति होती है।
   (iii) कठोर परिश्रम हेतु व्यक्ति को प्रोत्साहन प्राप्त होता है।
   (iv) समाज में स्थिरता तथा निरन्तरता बनी रहती है।
3. **सामाजिक संगठनों के लिए महत्त्व**—संगठन हेतु तीन विशेष परिणामों को उत्पन्न करने में दोनों (प्रस्थिति एवं भूमिका) ही महत्त्वपूर्ण हैं—
   (i) समाज में प्रस्थितियों के अनुरूप जिस सीमा तक भूमिकाओं को स्वीकार किया जाता है तो सामाजिक संगठन भी उसी सीमा तक सुदृढ़ और स्थायी होते हैं।
   (ii) ये संगठन की प्रकार्यात्मक आवश्यकताओं को पूर्ण करने में विशेष भूमिका निभाती हैं।
   (iii) संगठन हेतु कुछ अप्रत्याशित भूमिकाएँ हानिकारक या कष्टदायी होती हैं, उदाहरण के लिए—अपराधी दलों के कार्य आदि।

प्रस्थिति व भूमिका के मध्य अन्तर
(Difference between Status and Role)

प्रस्थिति व भूमिका में अग्रलिखित अन्तर हैं—

क्र०सं०	प्रस्थिति	भूमिका
1.	प्रस्थिति एक पद है।	भूमिका एक कार्य है जो प्रस्थिति से प्राप्त होती है।
2.	इसका स्वरूप सांस्कृतिक होता है।	भूमिकाएँ व्यवहारात्मक होती हैं।
3.	समाज में व्यक्ति की प्रस्थिति भूमिका के बिना हो सकती है।	भूमिका का प्रस्थिति के अभाव में कोई अस्तित्व नहीं है प्रस्थिति के बिना व्यक्ति की भूमिका नहीं हो सकती।
4.	प्रस्थिति को विभिन्न आधारों पर निर्धारित किया जा सकता है; जैसे—लिंग, आयु, जन्म आदि।	भूमिका मात्र सामाजिक या परम्परागत मूल्यों पर आधारित होती है।
5.	सामाजिक संरचना का निर्माण प्रस्थितियों द्वारा होता है।	भूमिका से सामाजिक संरचना का निर्माण नहीं किया जा सकता है।

प्र.8. सामाजिक प्रतिमान का अर्थ, परिभाषा एवं विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर

सामाजिक प्रतिमान का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Social Norms)

सामाजिक प्रतिमान समाज के वे नियम हैं जो समाज द्वारा स्वीकृत होते हैं, जिनका पालन समाज के अधिकांश व्यक्ति करते हैं, जो हमारे व्यवहारों पर नियन्त्रण रखते हैं और जो हमें उचित-अनुचित का भेद बताते हैं जिनका पालन करने पर समाज उचित पुरस्कार देता है और उल्लंघन करने पर दण्ड की व्यवस्था की जाती है। **सरल शब्दों में, समाज में आचरण के नियम ही सामाजिक प्रतिमान कहलाते हैं** (Rules of behaviour are norms)। सामाजिक प्रतिमानों को परिभाषित करते हुए **किंग्सले डेविस** लिखते हैं, "आदर्श नियम एक प्रकार के नियन्त्रण हैं। मानव समाज इन्हीं नियन्त्रणों के बल पर अपने सदस्यों के व्यवहार पर इस प्रकार अंकुश रखता है जिससे वे सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप में कार्य करते रहें, भले ही उनकी प्राणिशास्त्रीय आवश्यकताओं में इससे बाधा पहुँचती हो।"

वुड्स (Woods) के अनुसार, "सामाजिक प्रतिमान वे नियम हैं जो मानव व्यवहार को नियन्त्रित करते हैं, व्यवस्था में सहयोग देते हैं तथा किसी विशेष स्थिति में व्यवहार की भविष्यवाणी करना सम्भव बनाते हैं।"

किम्बाल यंग (Kimball Young) लिखते हैं, "सामाजिक प्रतिमान समूह की अपेक्षाएँ हैं।"

बर्टन राइट (Burton Wright) के अनुसार, "सामाजिक प्रतिमानों की एक सामान्य परिभाषा यह है कि वे व्यवहार के उचित तरीकों को बताते हैं।"

डॉ० हारालाम्बोस के अनुसार, "प्रत्येक संस्कृति में ऐसे निर्देश बड़ी संख्या में पाए जाते हैं जो विशिष्ट परिस्थितियों में व्यवहार को निर्देशित करते हैं। ऐसे निर्देशों को ही मानदण्ड कहते हैं।"

जे०आर० लैण्डिस (J.R. Landis) लिखते हैं, "प्रतिमान एक विशिष्ट परिस्थिति में एक व्यक्ति द्वारा किस प्रकार का व्यवहार मान्य और अपेक्षित है, को प्रकट करते हैं।"

रॉबर्ट बीरस्टीड लिखते हैं, "सामाजिक प्रतिमान, संक्षेप में कार्य-प्रणालियों की प्रमाणित विधियाँ हैं, कार्य सम्पन्न करने का एक तरीका है हमारे समाज द्वारा स्वीकृत है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि **सामाजिक प्रतिमान समाज में व्यवहार करने के वे निश्चित एवं प्रमापित तरीके हैं जो समाज द्वारा स्वीकृत और साथ ही जो हमारे जीवन के हर क्षेत्र में विद्यमान हैं।** उदाहरण के लिए, पत्र लिखने का एक तरीका है कि हम सर्वप्रथम अपना नाम, स्थान व दिनांक आदि लिखते हैं, उसके बाद अभिवादन के लिए 'डियर सर', 'डियर मेडम', 'पूज्य पिताजी', 'प्रिय बन्धु', 'मान्यवर' आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं और अन्त में हस्ताक्षर करते हैं। यदि हम पत्र लिखने के इन नियमों का पालन न करें तो असुविधा होगी। भाषा को बोलने एवं लिखने के भी व्याकरण के नियम हैं। इसी तरह से लेखन के भी नियम हैं कि विराम, पूर्ण विराम एवं सन्दर्भ का प्रयोग कहाँ और कैसे होगा। यदि कोई प्रश्नों को पाठ से पहले लिख दे, शीर्षक को अन्त में लिखे और सन्दर्भ पृष्ठ के ऊपर दे तो पाठकगण कहेंगे कि पुस्तक लिखने में स्वीकृत प्रतिमानों का पालन नहीं किया गया है। सामाजिक प्रतिमान जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पाये जाते हैं, इनकी संख्या अनगिनत है, इनकी सूची बनाना कठिन है। खाने-पीने, उठने-बैठने, नृत्य करने, वस्त्र पहनने, हँसने, रोने, सोने, लिखने, गाने, बोलने, स्वागत करने, सत्कार करने, विदा करने आदि सभी से सम्बन्धित सामाजिक प्रतिमान पाए जाते हैं। ये हमारे व्यवहार के पथ-प्रदर्शक हैं। इनके अभाव में मानव जीवन अव्यवस्थित हो जाएगा। इनके पालन से हम परिष्कृत होते हैं। इनका पालन करने पर समाज प्रशंसा करता है और इनके विपरीत आचरण करने पर निन्दा। ये हमारे व्यवहार को नियन्त्रित करते हैं, सामाजिक सम्बन्धों को नियमित करते हैं एवं समाज व्यवस्था को स्थिरता प्रदान करते हैं।

सामाजिक प्रतिमानों की विशेषताएँ
(Characteristics of Social Norms)

सामाजिक प्रतिमानों की विशेषताओं का वर्णन निम्नलिखित है—

1. सामाजिक प्रतिमान का अर्थ उन सामाजिक नियमों से है जिनके **पालन की अपेक्षा उस समाज के सभी सदस्यों से की जाती है।**
2. **सामाजिक प्रतिमानों में अनेक छोटे एवं बड़े नियम और उपनियम होते हैं।**
3. सामाजिक प्रतिमान **सभी समाजों में अनिवार्य रूप से पाए जाते हैं।** हम ऐसे मानव समाज की कल्पना नहीं कर सकते हैं जिसके कोई आदर्श नियम न हों।
4. **मानव समाज की आदर्श व्यवस्था लाखों वर्ष पुरानी है।** इसका विकास मानव समाज के एक अंग के रूप में हुआ है क्योंकि यह **मौलिक सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति में सहायक है।** सामाजिक प्रतिमान मानव समाज के साथ ही उत्पन्न हुए हैं।
5. सामाजिक प्रतिमान भिन्न-भिन्न मानव समूहों के बीच उत्पन्न होने वाले संघर्षों में सामाजिक अस्तित्व की रक्षा करते है।
6. **सामाजिक प्रतिमानों का पालन बाह्य दबाव के कारण ही नहीं किया जाता** वरन् इसलिए भी किया जाता है कि लम्बे समय से उनका पालन करने के कारण **वे मानव-व्यवहार के अभिन्न अंग बन चुके हैं** और मानव स्वचालित रूप से अपने व्यवहार में आजीवन उनका पालन करता है।
7. **सामाजिक प्रतिमान मानव का पथ-प्रदर्शन करते हैं** तथा उसके अपने व अन्य व्यक्तियों के बारे में निर्णयों को निर्धारित करते हैं। सामाजिक प्रतिमानों के पालन तथा उल्लंघन से ही व्यक्तित्व तथा समाज की बहुत-सी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।
8. सामाजिक प्रतिमान सापेक्ष होते हैं अर्थात् सामाजिक प्रतिमान **सभी व्यक्तियों पर अथवा सभी परिस्थितियों में समान रूप से लागू नहीं होते।** उदाहरण के लिए, जो प्रतिमान स्त्रियों के लिए उचित हैं, वे सदैव ही पुरुषों के लिए भी उचित हों, यह जरूरी नहीं है। सैनिक से सम्बन्धित प्रतिमान डॉक्टर के प्रतिमानों से भिन्न होते हैं। इसी प्रकार से विवाह के प्रतिमान जन्मोत्सव के प्रतिमान से भिन्न होते हैं।
9. सामाजिक प्रतिमान नैतिक **कर्त्तव्य की भावना से सम्बन्धित होते हैं** अर्थात् वे यह बताते हैं कि किसी भी व्यक्ति को विद्यमान परिस्थितियों के अनुसार ही कुछ विशेष प्रकार के व्यवहार करने चाहिए, अवश्य करने चाहिए अथवा अनिवार्य रूप से करने चाहिए। इनमें कर्त्तव्य-पालन की भावना निहित है।
10. सामाजिक **प्रतिमानों में विकल्प भी होते हैं।** वे यह संकेत करते हैं कि किसी एक प्रतिमान की तुलना में दूसरा कौन-सा प्रतिमान चुनना चाहिए, लेकिन पूर्णतया किसी एक प्रतिमान को चुनने के लिए व्यक्ति को बाध्य नहीं किया जाता। उदाहरण के लिए, सभ्य समाज में यह अपेक्षा की जाती है कि व्यक्ति अपनी दाढ़ी बनाए, किन्तु यह व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है कि वह सेफ्टीरेजर, उस्तरा या बिजली की मशीन में से किसका प्रयोग करे। किसी एक का प्रयोग करने के लिए उस पर दबाव नहीं डाला जाता है।
11. सामाजिक प्रतिमान **व्यक्ति को प्रभावित करते हैं, साथ ही उससे प्रभावित भी होते हैं।**
12. **सामाजिक प्रतिमान लिखित एवं अलिखित दोनों प्रकार के होते हैं।** प्रथा, परम्परा, रूढियाँ एवं फैशन अलिखित सामाजिक प्रतिमान हैं, तो कानून लिखित प्रतिमान हैं।
13. **सामाजिक प्रतिमानों का सम्बन्ध सामाजिक उपयोगिता एवं आवश्यकताओं से है।** अत: आवश्यकताओं के बदलने के साथ-साथ सामाजिक प्रतिमानों में भी परिवर्तन आता है। समय के साथ यदि उनमें परिवर्तन नहीं होता है तो वे सामाजिक कुरीतियों एवं रूढ़ियों के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं।
14. **सामाजिक प्रतिमानों का सम्बन्ध समाज की वास्तविक परिस्थितियों से होता है।** उदाहरण के लिए, यदि समाज यह प्रतिमान बना दे कि प्रत्येक व्यक्ति के पास अपनी कार होनी चाहिए, लेकिन कार खरीदने के लिए पैसे एवं सुविधाओं के अभाव में यह प्रतिमान व्यर्थ होगा।
15. **सामाजिक प्रतिमान सामाजिक नियन्त्रण के वे साधन हैं,** जो मानवीय व्यवहारों को नियन्त्रित एवं व्यवस्थित करते हैं। ये सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप में कार्य करते हैं।

प्र.9. जनरीतियों का अर्थ, परिभाषा एवं विशेषताओं की व्याख्या कीजिए।

उत्तर

जनरीतियों का अर्थ
(Meaning of Folkways)

इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग अमेरिका के येल विश्वविद्यालय के प्रोफेसर **ग्राहम समनर** (Graham Sumner) ने 1904 में अपनी पुस्तक '**फोकवेज**' (*Folkways*) में किया था। यदि हम शाब्दिक दृष्टि से देखें तो यह दो शब्द 'Folk' तथा 'Ways' का योग है (जन + रीतियाँ = जनरीतियाँ) अर्थात् कार्य करने के वे तरीके या रीतियाँ जो समाज के लोगों द्वारा अपनाई जाती हैं, जनरीतियाँ कहलाती हैं। दूसरे शब्दों में, जनरीतियाँ समूह की आदतों (group habits) को कहते हैं। हमारे अधिकांश दैनिक व्यवहार जनरीतियों द्वारा प्रभावित होते हैं। **जनरीतियाँ अपेक्षाकृत अस्थायी व्यवहार हैं** जिनका पालन करना एक परिस्थिति में आवश्यक माना जाता है। साहित्यिक दृष्टि से जनरीति का अर्थ लोगों द्वारा अपनी इच्छाओं व आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपनाए गए तरीकों से लिया गया है। जिस प्रकार से प्रत्येक समाज की संस्कृति एवं विचारों में भिन्नता होती है, उसी प्रकार से प्रत्येक समाज की जनरीतियाँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। जनरीतियों का पालन मनुष्य अचेतन रूप से करता रहता है, इसका **विकास स्वतः एवं अनुभवों के आधार पर होता है।** इनका निर्माण योजनाबद्ध तरीकों से नहीं होता, अतः ये अनियोजित होती हैं। सभी युगों तथा संस्कृति की सभी अवस्थाओं में मनुष्यों के समस्त जीवन पर प्रारम्भिक नियन्त्रण जनरीतियों के एक विशाल समूह से होता रहा है और यह मानव समाज के साथ ही चली आई हैं। जनरीतियाँ मानव की किसी-न-किसी **आवश्यकता की पूर्ति अवश्य करती हैं।** अतः आवश्यकताओं में परिवर्तन होने पर इनमें भी परिवर्तन होता है। इस प्रकार जनरीतियों का उपयोगी पक्ष भी है।

जनरीतियों की परिभाषा (Definition of Folkways)

विभिन्न विद्वानों ने जनरीतियों या लोकरीतियों की परिभाषा निम्न प्रकार से की है—

गिलिन एवं **गिलिन** के अनुसार, "जनरीतियाँ दैनिक जीवन के व्यवहार के वे प्रतिमान हैं जो अनियोजित अथवा बिना किसी तार्किक विचार के ही सामान्यतः समूह में अचेतन रूप में उत्पन्न हो जाते हैं।"

मैकाइवर व पेज के अनुसार, "जनरीतियाँ समाज में मान्यताप्राप्त अथवा स्वीकृत व्यवहार की प्रणालियाँ हैं।"

ग्रीन ने लिखा है, "जनरीतियाँ कार्य (व्यवहार) करने की विधियाँ हैं जो एक समाज या समूह में समान रूप से पाई जाती हैं तथा जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती हैं।"

मेरिल एवं **एल्ड्रिज** के अनुसार, "शाब्दिक अर्थ में जनरीतियाँ जनता की रीतियाँ हैं अथवा सामाजिक आदतें (Social habits) हैं जो समूह द्वारा अपेक्षित हैं तथा दैनिक जीवन में व्यवहार के फलस्वरूप विकसित हुई हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम जनरीतियों की कुछ सामान्य विशेषताओं का उल्लेख कर सकते हैं जो निम्न प्रकार हैं—

जनरीतियों की विशेषताएँ (Characteristics of Folkways)

1. जनरीतियाँ **समाज में व्यवहार करने की स्वीकृत तथा मान्यता प्राप्त विधियाँ हैं।**
2. जनरीतियाँ हमारे स्वभाव में इतनी घुल-मिल जाती हैं कि हम **अनजाने ही उनका पालन करते हैं। समनर** ने इस ओर संकेत करते हुए लिखा है, "जनरीतियाँ प्राकृतिक शक्तियों के समान होती हैं जिनका पालन व्यक्ति अचेतन रूप से करता है।"
3. जनरीतियों का **जन्म स्वतः होता है** तथा बार-बार दोहराने से इनका रूप विकसित हो जाता है। कानून की तरह इनका निर्माण किसी विधान निर्मात्री सभा द्वारा नहीं किया जाता।
4. **जनरीतियाँ मानव के लिए उपयोगी हैं।** इनके आधार पर ही व्यक्ति सामाजिक मूल्यों एवं पर्यावरण से अपना अनुकूलन स्थापित करता है।
5. **बीरस्टीड** कहते हैं कि किसी समाज की जनरीतियों की सूची बनाना बड़ा कठिन है क्योंकि प्रत्येक समाज में **इनकी संख्या असंख्य है।** समाज के विकास के साथ-साथ जनरीतियों की संख्या बढ़ती जाती है।
6. जनरीतियाँ **मानव व्यवहार पर नियन्त्रण रखती हैं।** समाज के सभी **सदस्यों के व्यवहारों में एकरूपता उत्पन्न करती हैं।**
7. जनरीतियाँ **पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित की जाती हैं।** प्रत्येक पीढी के अपने अनुभव उसमें जुड़ते जाते हैं और उनमें परिपक्वता आती जाती है।
8. जनरीतियों में व्यवस्था एवं **समूह कल्याण की भावना निहित होती है।**
9. जनरीतियाँ **अलिखित** होती हैं, अतः ये कानून की भाँति स्पष्ट नहीं होती।

10. समाज में कुछ जनरीतियाँ अधिक महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं तो कुछ कम महत्त्वपूर्ण । महत्त्वपूर्ण जनरीतियों के उल्लंघन करने पर समाज में तीव्र प्रतिक्रिया होती है जबकि कम महत्त्वपूर्ण के उल्लंघन पर हल्की निन्दा या आलोचना की जाती है।
11. एक समाज की जनरीतियाँ प्राय: दूसरे समाज की जनरीतियों से भिन्न होती हैं।
12. जनरीतियों का **पालन कराने के लिए औपचारिक संगठन नहीं होता है** वरन् अनौपचारिक साधनों; जैसे—हँसी-मजाक, व्यंग्य, आलोचना आदि की शक्ति इनके पीछे होती है।
13. जनरीतियाँ समय के साथ परिवर्तित होती हैं यद्यपि वे परिवर्तन का विरोध करती हैं। उदाहरण के लिए, अभिवादन, भोजन, वस्त्र पहनने आदि की जनरीतियाँ जो वैदिक युग में थी, वे आज नहीं हैं।
14. जनरीतियाँ **अनियोजित एवं असंगठित होती हैं।**
15. चूँकि **एक समाज की** अपनी जनरीतियाँ होती हैं, अत: उससे सम्बन्धित **दण्ड व्यवस्था भी उसी समूह तक सीमित होती है।** इसलिए एक व्यक्ति जिस समूह का सदस्य नहीं है, उसकी जनरीतियों का उल्लंघन करने पर सामाजिक आलोचना का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। उदाहरण के लिए, गाँवों में पति-पत्नी हाथ में हाथ डालकर नहीं चलते, किन्तु कोई विदेशी जोड़ा गाँव में ऐसा करता है और गाँव वाले उसकी आलोचना करते हैं तो इसका विदेशी जोड़े पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

प्र.10. लोकाचार का अर्थ एवं परिभाषा स्पष्ट कीजिए तथा इसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

लोकाचार (रूढ़ियाँ)
(Mores)

'Mores' शब्द लैटिन भाषा के '*Mos*' शब्द का बहुवचन है जिसका अर्थ प्रथा से है। इस शब्द का प्रयोग समूह द्वारा अपेक्षित परम्परागत व्यवहारों के लिए किया गया है। 'Mores' शब्द की एक व्याख्या यह है कि इसकी उत्पत्ति 'Moral' शब्द से हुई है, अत: इसका प्रयोग नैतिकता के पर्यायवाची के रूप में भी किया गया है। समाजशास्त्र में 'Mores' शब्द का प्रयोग करने का श्रेय अमेरिकन समाजशास्त्री **समनर** को है। इस शब्द का हिन्दी रूपान्तरण लोकाचार एवं रूढियाँ दोनों है। सामान्यत: रूढ़ि शब्द का प्रयोग दकियानूसी, पिछड़े एवं बिगड़े हुए प्रथागत व्यवहारों के लिए किया जाता है जबकि 'मूरस' (Mores) का अर्थ ऐसे व्यवहारों से है जिनमें समूह कल्याण की भावना होती है। इसलिए हम 'Mores' के लिए रूढ़ियाँ शब्द के स्थान पर 'लोकाचार' शब्द का ही प्रयोग करेंगे।

लोकाचार को स्पष्ट करते हए **समनर** लिखते हैं, "लोकाचार से मेरा तात्पर्य ऐसी लोकप्रिय रीतियों और परम्पराओं से है जिनमें जनता के इस निर्णय का समावेश हो चुका है कि वे सामाजिक कल्याण में सहायक हैं और वे व्यक्ति पर यह दबाव डालती हैं कि वह अपना व्यवहार उनके अनुकूल रखे यद्यपि कोई सत्ता उसे ऐसा करने के लिए बाध्य नहीं करती। लोकाचार मानव व्यवहार के वे प्रतिमान हैं जिन्हें समूह कल्याणकारी समझता है तथा जिनका उल्लंघन करना समाज का अपमान करना समझा जाता है। ये एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते हैं जिन्हें बिना किसी विचार अथवा तर्क के स्वीकार कर लिया जाता है।"

लोकाचार की परिभाषा एवं अर्थ (Definition and Meaning of Mores)

लोकाचार की अनेक विद्वानों ने परिभाषा दी हैं। उनमें से हम कुछ का वर्णन निम्नलिखित रूप में करेंगे—

समनर के अनुसार, "जब जनरीतियों में औचित्यपूर्ण जीवन-यापन का दर्शन एवं कल्याणकारी जीवन की नीति का समावेश हो जाता है तब वे लोकाचार हो जाती हैं।" **मैकाइवर** एवं **पेज** के अनुसार, "जब जनरीतियाँ अपने साथ समूह के कल्याण की भावना एवं उचित-अनुचित का विचार जोड़ लेती हैं तो वे लोकाचार में परिणत हो जाती हैं।" **डासन** और **गेटिस** के अनुसार, "लोकाचार वे जनरीतियाँ हैं, जिन्होंने अपने साथ इस निर्णय का समावेश कर लिया है कि उन पर समूह का कल्याण मुख्यत: निर्भर करता है।" **बोगार्डस** के अनुसार, "वे जनरीतियाँ जो एक समूह के सदस्यों द्वारा अपने समूह के कल्याण के लिए आवश्यक समझी जाती हैं, लोकाचार कहलाती हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है **कि लोकाचार ऐसे व्यवहार हैं जिनमें समूह-कल्याण की भावना निहित होती है, जिनका पालन करना समूह द्वारा उचित माना जाता है और जिनके उल्लंघन करने पर समूह द्वारा दण्ड की व्यवस्था की जाती है।**

लोकाचार की विशेषताएँ (Characteristics of Mores)

1. **स्वत: विकास**—लोकाचारों का विकास स्वत: होता है, कानून की भाँति उनका जान-बूझकर किसी संगठन विशेष के द्वारा निर्माण नहीं किया जाता।

2. **अनुदार (रूढ़िवादी) प्रवृत्ति**—लोकाचार अनुदार प्रवृत्ति (Conservative) के होते हैं। चूँकि उनके निर्माण में समूह का अनुभव जुड़ा होता है, अत: एक समूह के लोग अपने लोकाचारों को परिवर्तित करने के प्रति अनिच्छा प्रकट करते हैं। लोग यथास्थिति को ही बनाए रखना चाहते हैं और यहाँ तक कि वैधानिक प्रयत्न भी उन्हें बदलने में असफल होते हैं। उदाहरणार्थ, बाल-विवाह एवं दहेज को समाप्त करने के लिए भारत में कानून बना दिए गए हैं फिर भी इन लोकाचारों का अब तक पालन किया जाता है।
3. **नैतिकता का अंश**—लोकाचारों में नैतिकता का काफी अंश होता है, अत: उनका पालन धार्मिक कर्त्तव्य के रूप में किया जाता है, लोकाचारों का उल्लंघन अनैतिक माना जाता है। गरीबों की सहायता करना, जीवों पर दया करना, मेहमानों का सत्कार करना, माता-पिता की आज्ञा मानना एवं उनकी सेवा करना आदि सभी ऐसे लोकाचार हैं जिनका पालन हम नैतिकता के कारण करते हैं।
4. **समूह-कल्याण की भावना**—लोकाचार में समूह-कल्याण की भावना निहित होती है। इनका उल्लंघन होने पर समूह को हानि होती है। स्त्री एवं बच्चों की रक्षा एवं पालन-पोषण करना पुरुष का कर्त्तव्य है। ऐसा न करने पर परिवार एवं समाज का हित खतरे में पड़ सकता है।
5. **सामाजिक नियन्त्रण**—लोकाचार सामाजिक नियन्त्रण का एक सशक्त साधन है। इसके पीछे जनमत का दबाव होता है। कोई भी व्यक्ति सामान्यत: लोकाचारों का उल्लंघन करने का साहस नहीं कर सकता।

प्र.11. सामाजिक अनुशास्ति (प्रतिबन्ध) से क्या अभिप्राय है? इसके मुख्य स्वरूप (प्रकार) कौन-कौन से हैं? संक्षेप में बताइए।

उत्तर

सामाजिक अनुशास्ति (प्रतिबन्ध)
(Social Sanctions)

सामान्यत: अनुशास्ति या अभिमति का अर्थ है—अंकुश (Restraints), निषेध (Prohibition) तथा दण्ड (Penalties)। प्रचलित अर्थ में अनुशास्ति शब्द का प्रयोग नकारात्मक एवं संगठित पक्ष में लिया जाता है अर्थात् जब कोई समाज या समूह अपने सदस्यों को किसी व्यवहार या आचरण को न करने का निर्देश देता है और यदि वह इसका उल्लंघन करता है तो उसे दण्डित किया जाता है तो ऐसे निर्देश को सामाजिक अनुशास्ति कहा जाता है। अनुशास्ति में दण्ड और पुरस्कार दोनों ही निहित हैं। प्रत्येक समाज अपने सदस्यों के लिए व्यवहार के कुछ नियम बनाता है। इन नियमों को तोड़ने वाले को वह दण्ड देता है और जो इन नियमों का पालन करते हैं, उन्हें वह पुरस्कार प्रदान करता है। इस प्रकार से अनुशास्ति में दण्ड और पुरस्कार दोनों ही पाए जाते हैं।
अनुशास्ति को परिभाषित करते हुए **फेयरचाइल्ड** लिखते हैं, "अनुशास्ति किसी भी क्रिया या व्यवहार को दी जाने वाली आज्ञा या सामाजिक स्वीकृति है।"
सामाजिक अनुशास्ति एक विशिष्ट व्यवहार को प्रोत्साहित या हतोत्साहित करने के लिए एक व्यक्ति या समूह को दिया जाने वाला जुर्माना या पुरस्कार है।"
रेडक्लिफ ब्राउन तथा **टालकॉट पारसन्स** ने सामाजिक अनुशास्ति पर अपने महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किए हैं।
रेडक्लिफ ब्राउन ने चार प्रकार की सामाजिक अनुशास्तियों का उल्लेख किया है—

1. **नकारात्मक**—नकारात्मक अनुशास्तियाँ वे हैं जिनका उद्देश्य व्यक्ति को दण्ड देना होता है।
2. **सकारात्मक**—सकारात्मक अनुशास्तियों का उद्देश्य व्यक्ति को पुरस्कार देना होता है, क्योंकि वह समाज द्वारा निर्धारित व्यवहारों का पालन करता है।
3. **विस्तृत अनुशास्तियाँ**—ये वे अनुशास्तियाँ हैं जो समुदाय के सदस्यों के स्वत: स्फूर्त अनुभव (Spontaneous experiences) हैं जिनको समाज ने स्वीकृत या अस्वीकृत कर दिया है। यह व्यवस्था समाज में अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण को बढ़ावा देती है।
4. **संगठित अनुशास्तियाँ**—ये वे सामाजिक क्रियाएँ हैं जो किसी परम्परा या स्वीकृत रीतियों के आधार पर सम्पन्न की जाती हैं। इन्हें हम औपचारिक सामाजिक नियन्त्रण के साधन भी कह सकते हैं। प्रशंसा, आर्थिक लाभ, मेडल, पदक, शाबासी आदि संगठित सकारात्मक अनुशास्तियों के तथा जेल, देश निकाला और जुर्माना संगठित नकारात्मक अनुशास्तियों के उदाहरण हैं।

प्र.12. सामाजिक मूल्यों का अर्थ, परिभाषा एवं विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

सामाजिक मूल्यों का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Social Values)

सामाजिक मूल्यों को परिभाषित करते हुए **राधाकमल मुकर्जी** लिखते हैं, "मूल्य समाज द्वारा मान्यता प्राप्त इच्छाएँ तथा लक्ष्य हैं, जिनका आन्तरीकरण सीखने या समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से होता है और जो प्राकृतिक अधिमान्यताएँ, मानक तथा अभिलाषाएँ बन जाती हैं।"

जॉनसन के अनुसार, "मूल्यों को एक धारणा या मानक के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो सांस्कृतिक हो सकता है या केवल व्यक्तिगत और जिनके द्वारा वस्तुओं की एक साथ तुलना की जाती है और वे एक-दूसरे के सन्दर्भ में स्वीकार या अस्वीकार की जाती हैं, वांछित या अवांछित, अच्छी या बुरी, अधिक या कम उचित मानी जाती हैं।" जॉनसन का मत है कि "मूल्यों के द्वारा सभी प्रकार की वस्तुओं, भावनाओं, विचार, क्रिया, गुण, पदार्थ, व्यक्ति, समूह, लक्ष्य एवं साधन, आदि का मूल्यांकन किया जाता है।"

फिचर (Fitcher) के अनुसार, "समाजशास्त्रीय दृष्टि से मूल्यों को उन कसौटियों (Criteria) के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिनके द्वारा वह समूह या समाज व्यक्तियों, प्रतिमानों, उद्देश्यों और अन्य सामाजिक-सांस्कृतिक वस्तुओं के महत्त्व का निर्णय करते हैं।" इस प्रकार मूल्य वे कसौटियाँ हैं जो कि सम्पूर्ण संस्कृति एवं समाज को अर्थ एवं महत्त्व प्रदान करती हैं।

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि **सामाजिक मूल्य वे मानक या धारणाएँ जिनके आधार पर हम किसी व्यक्ति के व्यवहार, वस्तु के गुण, लक्ष्य, साधन एवं भावनाओं आदि को उचित या अनुचित, अच्छा या बुरा ठहराते हैं। मूल्य एक प्रकार से सामाजिक माप या पैमाना है** जिसके आधार पर किसी वस्तु का मूल्यांकन किया जाता है। इन मूल्यों को व्यक्ति समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा सीखता है और आन्तरीकृत करता है तथा इन्हीं के अनुरूप आचरण करने की सोचता है। सामाजिक मूल्यों को प्राप्त करना व्यक्ति की इच्छा बन जाती है। सामाजिक मूल्यों का निर्माण सम्पूर्ण समूह एवं समाज के सदस्यों की पारस्परिक अन्त:क्रिया के दौरान होता है। अत: वे सारे समूह या समाज की वस्तु हैं। समाज एवं संस्कृति में भिन्नता के कारण ही सामाजिक मूल्यों में भी भिन्नता पाई जाती है। सामाजिक मूल्यों को और अधिक स्पष्टत: समझने के लिए हम यहाँ उनकी प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करेंगे।

सामाजिक मूल्यों की विशेषताएँ
(Characteristics of Social Values)

1. **सामाजिक मूल्य सामूहिक होते हैं**—सामाजिक मूल्यों का सम्बन्ध किसी व्यक्ति विशेष से नहीं होता है, वरन् ये सारे समूह एवं समाज की धरोहर होते हैं और इन्हें सारे समूह की मान्यता प्राप्त होती है। इनका निर्माण किसी एक व्यक्ति के द्वारा नहीं किया जाता, वरन् ये सामूहिक अन्त:क्रिया की उपज एवं परिणाम होते हैं।
2. **सामाजिक मूल्य सामाजिक मानक हैं**—मानक का तात्पर्य है जिसके द्वारा हम किसी वस्तु को मापते हैं। सामाजिक मूल्य भी मानक हैं जिनके द्वारा हम किसी वस्तु, व्यवहार, लक्ष्य, साधन, गुण आदि को अच्छा या बुरा, उचित या अनुचित, वांछित एवं अवांछित ठहराते हैं। इन्हें हम उच्चस्तरीय सामाजिक मानदण्ड भी कह सकते हैं।
3. **सामाजिक मूल्यों के बारे में समूह में एकमतता पाई जाती है**—समूह एवं समाज के सभी लोगों में सामाजिक मूल्यों के बारे में एकमतता पाई जाती है। वे सभी उन्हें स्वीकार करते हैं और मान्यता प्रदान करते हैं। अत: जब भी सामाजिक मूल्यों का उल्लंघन होता है तो सारे समूह द्वारा प्रतिक्रिया व्यक्त की जाती है।
4. **सामाजिक मूल्यों के पीछे भावनाएँ होती हैं**—सामाजिक मूल्यों के साथ लोगों की भावनाएँ जुड़ी होती हैं। यही कारण है कि वे व्यक्तिगत हितों को तिलांजलि देकर भी इनकी रक्षा करते हैं। स्वतन्त्रता के मूल्य की रक्षा के लिए भारतीयों ने हँसते-हँसते प्राणोत्सर्ग किया, सीने पर गोलियाँ झेलीं और जेल के सींखचों में बन्द हुए। देशभक्ति के मूल्य की रक्षा के लिए ही लोग युद्ध में बलिदान देते हैं। सतीत्व की रक्षा के लिए भारतीय वीरांगनाओं ने जौहर किया। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि सामाजिक मूल्यों का सम्बन्ध भावनाओं से जुड़ा होता है।
5. **सामाजिक मूल्य गतिशील होते हैं**—सामाजिक मूल्य सदैव ही एक समान नहीं होते। समय एवं परिस्थितियों के साथ इनमें परिवर्तन आता रहता है। सामाजिक मूल्यों का उद्देश्य सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। अत: जब समाज की आवश्यकताएँ बदलती रहती हैं तो सामाजिक मूल्य भी परिवर्तित होते हैं।

6. **सामाजिक मूल्यों में विभिन्नता पाई जाती है**—प्रत्येक समाज के अपने मूल्य होते हैं जो दूसरे समाज के मूल्यों से भिन्न हैं। भारतीय समाज एवं पश्चिमी समाजों के मूल्यों में भिन्नता पाई जाती है। हम पर्दा प्रथा, जाति अन्तर्विवाह (Caste Endogamy), सती प्रथा, विधवा विवाह निषेध आदि प्रथाओं को उचित मानते रहे हैं, किन्तु पश्चिमी समाजों में इन्हें अनुचित माना गया है। इसी प्रकार से सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित सामाजिक मूल्यों में भिन्नता पाई जाती है। परिवार, विवाह, जाति, शिक्षा, व्यापार, खेल-कूद, मनोरंजन आदि सभी से सम्बन्धित मूल्यों में भिन्नता पाई जाती है।
7. **सामाजिक मूल्य सामाजिक कल्याण एवं सामाजिक आवश्यकताओं के लिए महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं**—सामाजिक मूल्य समूह के कल्याण एवं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक हैं। इनके अनुरूप आचरण करने पर ही समूह में संगठन एकमतता एवं एकरूपता बनी रहती है। इनके अभाव में सामाजिक सम्बन्धों में समानता लाना कठिन है।

प्र.13. सामाजिक मूल्यों के महत्त्व अथवा प्रमुख कार्यों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

सामाजिक मूल्यों का महत्त्व (कार्य)
(Importance of Functions of Social Values)

मानव की आधारभूत इच्छाओं तथा आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करने में मूल्यों का महत्त्वपूर्ण हाथ होता है। **डॉ० मुकर्जी** का मत है कि कोई समाज यदि अपने अस्तित्व को बनाए रखना चाहता है तो उसे व्यक्तित्व के सर्वोच्च मूल्यों की नियमित रूप से पूर्ति करनी चाहिए। मानव समाज व मानव-कल्याण के लिए मूल्यों का पालन एवं संरक्षण आवश्यक है। **दुर्खीम** भी सामाजिक मूल्यों को सामूहिक जीवन के लिए आवश्यक मानते हैं। वे इन्हें सामाजिक तथ्य की संज्ञा देते हैं जो समाज की ही उपज है। आप सामाजिक मूल्यों का पालन व्यक्ति के लिए बाध्यकारी मानते हैं। आपके अनुसार सामाजिक मूल्य सामूहिक चेतना की उपज हैं, अत: व्यक्ति उनके सम्मुख झुकता है। सामाजिक मूल्य समाज में एकता पैदा करने का कार्य भी करते हैं। **चार्ल्स बगल** भी सामाजिक मूल्यों को समूह-कल्याण की भावना से ओत-प्रोत मानते हैं। उनका मत है कि समूह में ही सामाजिक मूल्यों का विकास होता है, अत: उनके पीछे सामूहिक स्वीकृति होती है और व्यक्ति इन सामूहिक मूल्यों को अपने व्यक्तिगत मूल्य समझने लगते हैं। सामाजिक मूल्य समाज में एकता, संगठन एवं नियन्त्रण बनाए रखते हैं। **फिचर** के अनुसार सामाजिक मूल्यों का महत्त्व या कार्य निम्न प्रकार हैं—

1. **एकरूपता**—सामाजिक मूल्य सामाजिक सम्बन्धों एवं व्यवहारों में एकरूपता उत्पन्न करते हैं। सभी व्यक्ति समाज में प्रचलित मूल्यों के अनुसार ही आचरण करते हैं। इसके परिणामस्वरूप सभी के व्यवहारों में समानता उत्पन्न होती है।
2. **व्यक्ति के लिए महत्त्व**—सामाजिक मूल्यों का व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। सामाजिक मूल्य सारे समूह एवं समाज की देन होते हैं। समाजीकरण द्वारा व्यक्ति इन सामाजिक मूल्यों को आत्मसात् करता है और अपने व्यवहार, आचरण एवं जीवन को उनके अनुरूप ढालने का प्रयत्न करता है। इसके परिणामस्वरूप वह सामाजिक परिस्थितियों से अनुकूलन सरलता से कर लेता है तथा साथ ही अन्य सदस्यों के व्यवहार प्रतिमानों से भी एकरूपता स्थापित कर लेता है। इस कारण वह अपने को समूह से अलग न मानकर उसी का एक अंग मानने लगता है। व्यक्ति का समूह के साथ एकीकरण व्यक्ति की सुरक्षा एवं सामाजिक प्रगति दोनों दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।
3. **सामाजिक संगठन एवं एकीकरण**—सामाजिक मूल्य समाज में एक विशिष्ट प्रकार के स्वीकृत एवं प्रतिमानित व्यवहारों को जन्म देते हैं। समूह के सदस्यों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे इन प्रतिमानित व्यवहारों के अनुरूप आचरण करें ताकि समाज में संगठन एवं एकीकरण बना रहे। समान आदर्शों, व्यवहारों एवं मूल्यों को स्वीकार करने के कारण आत्मीयता एवं सामुदायिक भावना का विकास होता है। समान मूल्यों में विश्वास करने वाले लोग अपने को अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक निकट समझते हैं। वे मिलकर कार्य करते एवं परस्पर सहयोग करते हैं। **जॉनसन** कहते है, "मूल्य व्यक्ति को या सामाजिक अन्त:क्रिया की प्रणाली को एकीकृत करने में सहायक होते हैं।"
4. **सामाजिक क्षमता का मूल्यांकन**—सामाजिक मूल्यों द्वारा ही समाज के व्यक्ति यह जानने में समर्थ होते हैं कि दूसरे लोगों की दृष्टि में उनका क्या स्थान है, वे संस्तरण में कहाँ स्थित हैं। समूह एवं व्यक्ति की क्षमता का मूल्यांकन सामाजिक मूल्यों के आधार पर किया जाता है।
5. **भौतिक संस्कृति का महत्त्व**—भौतिक संस्कृति के कुछ तत्व कुछ लोगों या समूह के लिए चाहे इतने अधिक महत्त्वपूर्ण न भी हों, किन्तु उनके पीछे सामाजिक मूल्य होते हैं। अत: लोग उन वस्तुओं को रखने में रुचि रखते हैं। उदाहरण के लिए,

टेलीविजन, कार एवं टेलीफोन कुछ व्यक्तियों के लिए अधिक उपयोगी न होने पर भी वे उन्हें इसलिए रखना चाहते हैं कि इससे उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा में वृद्धि होती है क्योंकि सामाजिक मूल्य इन वस्तुओं को उपयोगी एवं प्रतिष्ठासूचक मानते हैं।

6. **समाज के आदर्श विचारों एवं व्यवहारों के प्रतीक**—सामाजिक मूल्यों में आदर्श निहित होते हैं। सामाजिक मूल्यों को सामाजिक स्वीकृति एवं मान्यता प्राप्त होती है। यही कारण है कि सामाजिक मूल्यों को उस समाज के आदर्श विचारों एवं व्यवहारों का प्रतीक माना जाता है। ये लोगों के विचारों और व्यवहारों को निश्चित एवं निर्धारित करते हैं।
7. **सामाजिक भूमिकाओं का निर्देशन**—सामाजिक मूल्य यह भी तय करते हैं कि एक व्यक्ति किसी विशिष्ट प्रस्थिति में किस प्रकार भूमिका निभाएगा। समाज उससे किस प्रकार का आचरण करने की अपेक्षा करता है। सामाजिक मूल्यों में अन्तर के कारण ही सामाजिक भूमिकाओं में भी अन्तर पाया जाता है। भारत में पति-पत्नी की भूमिका अमेरिका व इंग्लैण्ड में पति-पत्नी की भूमिका से इसलिए भिन्न है कि इन देशों की मूल्य व्यवस्था में भी अन्तर है और ये मूल्य को भूमिका निर्वाह का निर्देशन करते हैं।
8. **सामाजिक नियन्त्रण**—सामाजिक मूल्य सामाजिक नियन्त्रण के सशक्त साधन हैं। ये व्यक्ति एवं समूह पर एक निश्चित प्रकार का व्यवहार करने या न करने के लिए दबाव डालते हैं। समाज द्वारा मूल्यों के विपरीत आचरण करने वालों के लिए दण्ड एवं मूल्यों के अनुरूप आचरण करने वालों के लिए पुरस्कार की व्यवस्था की जाती है। इस प्रकार सामाजिक मूल्य नियन्त्रण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।
9. **अनुरूपता एवं विपथगमन**—सामाजिक मूल्यों के आधार पर ही हम सामाजिक व्यवहार को अनुरूपता (Confirmity) तथा विपथगमन (Deviance) में बाँटते हैं। जो व्यवहार सामाजिक मूल्यों के अनुकूल होते हैं, उन्हें अनुरूपता एवं जो व्यवहार इनके विपरीत होते हैं, उन्हें विपथगमन कहते हैं। समाज में अनुरूपता एवं विपथगमन का अध्ययन सामाजिक मूल्यों के ज्ञान के आधार पर ही किया जा सकता है। इन्हीं के आधार पर हम अपराध की व्याख्या करते हैं। सामाजिक मूल्य सामाजिक अस्तित्व के लिए आवश्यक हैं। अत: कोई भी समाज उनके उल्लंघन की आज्ञा नहीं देता। ऐसा करने वाले को दोषी ठहराया और दण्ड दिया जाता है। इस प्रकार सामाजिक विघटन को रोकने, सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने एवं पुनर्निर्माण के लिए सामाजिक मूल्य आवश्यक हैं।

❑

TOUCH 'n' PASS

UNIT-VIII

सामाजिक स्तरीकरण एवं गतिशीलता

खण्ड-अ अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. सामाजिक स्तरीकरण से क्या आशय है?

उत्तर सामाजिक स्तरीकरण समाज को उच्च एवं निम्न वर्गों में विभाजित करने और स्तर निर्माण करने की एक व्यवस्था है। अन्य शब्दों में, स्तरीकरण समाज के समूहों एवं सदस्यों के विभिन्न स्तरों में बँटने की प्रक्रिया है।

प्र.2. सामाजिक स्तरीकरण के प्राणिशास्त्रीय आधार कौन-कौन से हैं?

उत्तर सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख प्राणिशास्त्रीय आधार क्रमशः लिंग, आयु, प्रजाति, जन्म तथा शारीरिक व बौद्धिक कुशलता हैं।

प्र.3. सामाजिक स्तरीकरण के चार प्रमुख सामाजिक-सांस्कृतिक आधारों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख सामाजिक-सांस्कृतिक आधार क्रमशः व्यवसाय, धार्मिक ज्ञान, सम्पत्ति तथा राजनीतिक शक्ति हैं।

प्र.4. सामाजिक गतिशीलता से क्या तात्पर्य है?

उत्तर सामाजिक गतिशीलता का तात्पर्य एक व्यक्ति या समूह द्वारा एक पद, स्थान या व्यवसाय त्याग कर दूसरा पद, स्थान या व्यवसाय ग्रहण करने से है। **बोगार्डस** के अनुसार, "सामाजिक पद में कोई भी परिवर्तन सामाजिक गतिशीलता है।"

प्र.5. सोरोकिन ने सामाजिक गतिशीलता के कितने प्रमुख प्रकारों का उल्लेख किया है?

उत्तर सोरोकिन ने सामाजिक गतिशीलता के दो प्रमुख प्रकारों का उल्लेख किया है—(i) क्षैतिज या समरैखिक सामाजिक गतिशीलता, (ii) उदग्र या रैखिक सामाजिक गतिशीलता।

प्र.6. प्रजनक गतिशीलता से क्या तात्पर्य है?

उत्तर कॉल के अनुसार, समाज में कभी-कभी उच्च वर्ग के लोग उस वर्ग के अनुसार सन्तान उत्पन्न नहीं कर पाते हैं तो वह समाज के अन्य वर्ग के लोगों (मध्यम एवं निम्न) के रिक्त स्थान को पूर्ण करने हेतु प्रायः गतिशील हो जाते हैं। इसे प्रजनक गतिशीलता कहते हैं।

खण्ड-ब लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. क्या सामाजिक स्तरीकरण समाज के लिए आवश्यक है? संक्षेप में बताइए।

उत्तर

सामाजिक स्तरीकरण की आवश्यकता
(Necessity of Social Stratification)

मानव ने आदिकाल से ही समाज में समानता पैदा करने एवं विभिन्नता को समाप्त करने का प्रयास किया है। समाजवादी समाज की स्थापना उसकी इसी कल्पना पर निर्भर है, किन्तु वास्तव में ऐसे समाज की स्थापना सम्भव नहीं, क्योंकि सामाजिक संरचना का निर्माण विभिन्न उच्च एवं निम्न प्रस्थितियों से होता है। इन प्रस्थितियों पर विभिन्न व्यक्तियों को बैठाकर उनसे कार्य लेना पड़ता है। विभिन्न प्रस्थितियों को धारण करने के लिए भिन्न-भिन्न योग्यता वाले व्यक्तियों की आवश्यकता होती है और पदों के अनुरूप कार्य करने की प्रेरणा भी लोगों को देनी होती है। इसके लिए समाज में स्तरीकरण को जन्म देना होता है। दूसरे शब्दों में, स्तरीकरण

TOUCH 'n' PASS

लोगों को पद प्राप्त करने एवं उनके अनुरूप भूमिका निभाने की प्रेरणा देता है। समाज में स्तरीकरण की आवश्यकता निम्न कारणों से उत्पन्न होती है—

1. समाज अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए विभिन्न पदों की रचना करता है। विभिन्न पदों के लिए विभिन्न प्रकार की योग्यता एवं क्षमता की आवश्यकता होती है। किसी पद के लिए अधिक प्रशिक्षण देना होता है तो किसी के लिए कम। कोई पद अधिक जिम्मेदारी वाला है तो कोई कम। पद एवं दायित्व के अनुसार ही समाज लोगों को कम या अधिक पुरस्कार प्रदान करता है। इस कारण समाज में भेद-भाव एवं उच्चता-निम्नता का क्रम पैदा होता है और समाज विभिन्न स्तरों में विभक्त हो जाता है। इस स्तरीकरण को रोका नहीं जा सकता। यहाँ तक कि साम्यवादी देशों में भी पदों एवं दायित्वों की भिन्नता के अनुसार पुरस्कारों में भिन्नता पाई जाती है और वहाँ पर भी सामाजिक स्तरीकरण देखने को मिलता है।
2. दूसरी बात यह है कि प्रत्येक पद पर ऐसे आदमी बैठाने होते हैं जो अपने पद के उत्तरदायित्व को अच्छी तरह से निभा सकें, परिश्रम एवं लगन द्वारा अपने कर्त्तव्य का पालन कर सकें। इसलिए ही समाज विभिन्न पदों के लिए विभिन्न प्रकार के पुरस्कारों की व्यवस्था करता है और लोगों को उनकी योग्यता, बुद्धि एवं रुचि के अनुसार विभिन्न पद प्रदान करता है। इस प्रकार पदों का विभाजन एवं प्रत्येक पद के लिए विशिष्ट पुरस्कार समाज का आवश्यक अंग है और इसे ही स्तरीकरण कहते हैं।

जब किसी समाज में विभिन्न पद हों और उनसे सम्बन्धित अधिकारों एवं पुरस्कारों में असमानता हो तो समाज में स्तरीकरण पैदा होना स्वाभाविक है। स्तरीकरण के द्वारा समाज यह विश्वास दिलाता है कि सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पदों पर योग्य व्यक्तियों को रखा जाएगा। इस प्रकार व्यक्तियों में निहित योग्यता एवं बुद्धि की भिन्नता को समाज संस्थात्मक रूप दे देता है।

प्र.2. सामाजिक विभेदीकरण से आप क्या समझते हैं? इसकी मुख्य विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

सामाजिक विभेदीकरण
(Social Differentiation)

सामाजिक स्तरीकरण को अधिक स्पष्टत: समझने के लिए विभेदीकरण की अवधारणा को समझ लेना भी आवश्यक है। सामाजिक विभेदीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्तियों और समूहों को कुछ मूर्त आधारों पर विभाजित किया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि आयु, लिंग, बुद्धि, व्यक्तित्व, धर्म, प्रजाति, शिक्षा, भाषा एवं सम्पत्ति आदि के आधार पर व्यक्तियों को अनेक वर्गों में विभाजित कर दिया जाए तो इस प्रक्रिया को हम सामाजिक विभेदीकरण कहेंगे। सामाजिक विभेदीकरण भी समाज में आदिकाल से चला आ रहा है, प्राचीन समय से ही आयु, लिंग एवं रंग के आधार पर व्यक्तियों में भेद किया जाता रहा है। सामाजिक विभेदीकरण का अर्थ स्पष्ट करते हुए **लम्ले** लिखते हैं, "विभेदीकरण से हमारा अर्थ उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा व्यक्ति भिन्नताओं का पोषण करते हैं जिन्हें एक साथ रखने पर आरकेस्ट्रा के विभिन्न वादकों की तरह एक पूर्णतया समन्वययुक्त सम्पूर्ण की रचना होती है।"

न्यूमेयर के अनुसार सामाजिक विभेदीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें अनेक जैविकीय, वंशानुगत और शारीरिक विशेषताओं; जैसे—आयु, लिंग, प्रजाति, सपिण्डता, व्यक्तिगत व्यवसाय, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, सामाजिक स्थिति, सामाजिक उपलब्धियों, समूह की रचना और सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर अनेक व्यक्तियों और समूह में सामाजिक भिन्नता उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार सामाजिक भिन्नताएँ विभेदीकरण की प्रक्रिया का आधार भी हैं और उपज भी। इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि व्यक्ति एवं समूहों में पाई जाने वाली विभिन्नताएँ समाज में विभेदीकरण उत्पन्न करती हैं। सामाजिक विभेदीकरण को और अधिक स्पष्ट करने के लिए उसकी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. विभेदीकरण एक तटस्थ अवधारणा है, उससे श्रेष्ठता एवं निम्नता के भाव प्रकट नहीं होते। उदाहरण के लिए, हम लोगों को उनके लिंग के आधार पर स्त्री व पुरुष में तथा आयु के आधार पर बालक, युवा और वृद्ध में विभाजित करते हैं तो यह विभेदीकरण कहलाएगा। इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि स्त्री व पुरुष, बालक, युवा एवं वृद्ध में कौन श्रेष्ठ है और कौन निम्न।
2. सामाजिक विभेदीकरण एक जागरूक प्रक्रिया है। इसका अर्थ है-समाज का प्रत्येक व्यक्ति विभेदीकरण के प्रति जागरूक है। हर व्यक्ति यह जानता है कि वह लिंग, आयु, रंग एवं अन्य आधारों पर दूसरों से भिन्नता रखता है।

3. सामाजिक विभेदीकरण का निर्धारण बाह्य एवं स्पष्ट कारकों द्वारा किया जाता है। उदाहरण के रूप में, लिंग, आयु, प्रजाति, सामाजिक प्रतिष्ठा एवं आर्थिक प्रगति के आधार पर हम व्यक्तियों में परस्पर भेद कर सकते हैं। ये आधार ही विभेदीकरण को विकसित करते हैं।
4. सामाजिक विभेदीकरण अवैयक्तिक है। इसका सम्बन्ध समूह एवं समाज को भिन्नता के आधार पर विभाजित करने से है, उनमें विरोध या संघर्ष पैदा करने से नहीं।
5. विभेदीकरण एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है, यह आदिकाल से सभी समाजों में व्याप्त रही है।

खण्ड-स विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ, परिभाषा एवं विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर

सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Social Stratification)

सामाजिक स्तरीकरण समाज को उच्च एवं निम्न वर्गों में विभाजित करने और स्तर निर्माण करने की एक व्यवस्था है। स्तरीकरण शब्द समाजशास्त्र में भू-गर्भशास्त्र (Geology) से लिया गया है। भू-गर्भशास्त्र में मिट्टी व चट्टानों को विभिन्न स्तरों में बाँटा जाता है। समाज में भी उसी प्रकार की अनेक सामाजिक परतें पाई जाती हैं। प्रत्येक समाज अपनी जनसंख्या को आय, व्यवसाय, सम्पत्ति, जाति, धर्म, शिक्षा, प्रजाति एवं पदों के आधार पर निम्न एवं उच्च श्रेणियों में विभाजित करता है। प्रत्येक विभाजन एक परत के समान है और ये सभी परतें जब उच्चता एवं निम्नता के क्रम में रखी जाती हैं तो सामाजिक स्तरीकरण के नाम से जानी जाती हैं। विभिन्न विद्वानों ने सामाजिक स्तरीकरण को निम्न प्रकार परिभाषित किया है—

जिसबर्ट के अनुसार, "सामाजिक स्तरीकरण समाज का उन स्थायी समूहों अथवा श्रेणियों में विभाजन है जो कि आपस में श्रेष्ठता एवं अधीनता के सम्बन्धों द्वारा सम्बद्ध होते हैं।"

रेमण्ड मूरे के अनुसार, "स्तरीकरण उच्चतर एवं निम्नतर सामाजिक इकाइयों में समाज का क्षैतिज विभाजन है।"

सदरलैण्ड एवं वुडवर्ड के शब्दों में, "स्तरीकरण केवल अन्त:क्रिया अथवा विभेदीकरण की ही एक प्रक्रिया है, जिसमें कुछ व्यक्तियों को दूसरे व्यक्तियों की तुलना में उच्च स्थिति प्राप्त होती है।"

टालकॉट पारसन्स के अनुसार, "किसी समाज व्यवस्था में व्यक्तियों का ऊँचे और नीचे क्रम-विन्यास में विभाजन ही स्तरीकरण है।"

ऑगबर्न एवं निमकॉफ के अनुसार, "वह प्रक्रिया जिसके द्वारा व्यक्तियों एवं समूहों को थोड़े-बहूत स्थायी प्रस्थितियों के उच्चता और निम्नता के क्रम में श्रेणीबद्ध किया जाता है, स्तरीकरण के नाम से जानी जाती है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक स्तरीकरण द्वारा समाज विभिन्न उच्च एवं निम्न समूहों में विभाजित एवं व्यवस्थित होता है तथा ये समूह परस्पर एक-दूसरे से जुड़े होते हैं और सामाजिक एकता को बनाए रखते हुए समाज में स्थिरता कायम रखते हैं।

सामाजिक स्तरीकरण की विशेषताएँ
(Characteristics of Social Stratification)

द्यूमिन ने सामाजिक स्तरीकरण की निम्नांकित विशेषताओं का उल्लेख किया है—

1. **सामाजिक स्तरीकरण की प्रकृति सामाजिक है**—सामाजिक स्तरीकरण कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं होता वरन् सम्पूर्ण समाज में व्याप्त होता है। समाज के सभी लोग समान मूल्यों एवं व्यवहार के समान प्रतिमानों को स्वीकार करते हैं। सामाजिक स्तरीकरण को आयु, रंग एवं यौन भेद के आधार पर ही नहीं वरन् समाज में व्यक्तियों को प्राप्त विभिन्न पदों एवं प्रस्थितियों के आधार पर भी समझा जा सकता है। समाजीकरण के द्वारा व्यक्ति सामाजिक मानदण्डों को सीखता है और अचेतन रूप में स्तरीकरण को स्वीकार करता है। सामाजिक संस्थाएँ; जैसे—धर्म, शिक्षा, परिवार, विवाह एवं राजनीति आदि भी समाज में स्तरीकरण उत्पन्न करती हैं।
2. **सामाजिक स्तरीकरण पुरातन है**—स्तरीकरण समाज में अति प्राचीन काल से ही विद्यमान रहा है। प्राचीन समय में इसके आधार आय, लिंग, शारीरिक शक्ति, जन्म आदि प्रदत्त गुण थे तो वर्तमान समय में अर्जित गुणों का अधिक महत्त्व है।

TOUCH 'n' PASS

मार्क्स की मान्यता है कि प्रत्येक युग में समाज में दो वर्ग रहे हैं—एक श्रमिक और दूसरा पूँजीपति। इस प्रकार वर्ग स्तरीकरण प्रत्येक समाज में सदैव ही विद्यमान रहा है।

3. **सामाजिक स्तरीकरण प्रत्येक समाज में पाया जाता है**—आदिकाल से लेकर आज तक कोई ऐसा समाज नहीं पाया गया जिसमें स्तरीकरण न हो। इसके आधारों एवं स्वरूपों में अन्तर हो सकता है, किन्तु सामाजिक स्तरीकरण सर्वत्र ही विद्यमान रहा है। **बोटोमोर** लिखते हैं, "समाजों का वर्गों अथवा स्तरों में विभाजन जिससे प्रतिष्ठा एवं शक्ति का सोपान बनता है, सामाजिक संरचना का एक सार्वभौमिक तत्व है।"
4. **सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न स्वरूप हैं**—विश्व के सभी समाजों और सभी कालों में सामाजिक स्तरीकरण का समान स्वरूप नहीं रहा है वरन् देश एवं काल के अनुसार इसके अनेक स्वरूप देखे जा सकते हैं। अति प्राचीन काल में सामाजिक स्तरीकरण का सरलतम आधार यौन-भेद, आयु-भेद और शारीरिक शक्ति था। भारत में जाति-प्रथा के आधार पर स्तरीकरण पाया जाता है तो यूरोप में वर्ग व्यवस्था एवं अर्जित गुणों को अधिक महत्त्व दिया गया है। मध्य युग में दास एवं स्वामी स्तरीकरण के दो प्रमुख स्वरूप रहे हैं। अफ्रीका एवं अमरीका में प्रजाति भेदभाव का लम्बे समय से प्रचलन रहा है। इस प्रकार सभी समाजों में स्तरीकरण का प्रचलन किन्हीं सामान्य नियमों द्वारा न होकर स्थान, परिस्थिति एवं संस्कृति द्वारा प्रभावित रहा है।
5. **सामाजिक स्तरीकरण परिणामिक है**—ट्यूमिन कहते हैं कि सामाजिक स्तरीकरण परिणामिक है। यह समाज में असमानता उत्पन्न करता है। इस असमानता को हम जीवन जीने के अवसर (Life chances) तथा जीवन शैली (Life style) में देख सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन जीने के अवसर एवं शैली स्तरीकरण के स्वरूपों के आधार पर भिन्न-भिन्न होते हैं। किसी व्यक्ति को कितनी शक्ति, सम्पत्ति एवं मानसिक सन्तोष प्राप्त होगा, यह समाज में उसके स्तर पर निर्भर है। विभिन्न स्तरों में मृत्यु-दर, लम्बी आयु, शारीरिक एवं मानसिक रोग, सन्तानों की संख्या, वैवाहिक संघर्ष, तलाक, पृथकता आदि की मात्रा में भिन्नता पाई जाती है। एक व्यक्ति किस प्रकार के मकान एवं पड़ोस में रहेगा, किस प्रकार के मनोरंजन के साधन अपनाएगा, माता-पिता से उसके सम्बन्ध कैसे होंगे, किस प्रकार की शिक्षा एवं पुस्तकों का वह प्रयोग करेगा, यह उसके सामाजिक स्तर पर निर्भर करता है। प्रत्येक स्तर के जीवन अवसर एवं शैली में भिन्नता पाई जाती है।

ट्यूमिन की मान्यता है कि ये पाँच विशेषताएँ ऐसी हैं जिनके आधार पर समाज में स्तरीकरण के अध्ययन के महत्त्व को सिद्ध किया जा सकता है।

प्र.2. सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख आधारों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

सामाजिक स्तरीकरण के आधार
(Basis of Social Stratification)

स्तरीकरण प्रत्येक समाज में पाया जाता है, किन्तु उसके आधार समान नहीं हैं। फिर भी विद्वानों ने कुछ सामान्य आधारों का उल्लेख किया है। **पारसन्स** ने व्यक्ति की प्रस्थिति निर्धारित करने वाले छह: कारकों का उल्लेख किया है जो स्तरीकरण को भी तय करते हैं। वे हैं—नातेदारी समूह की सदस्यता, व्यक्तिगत विशेषताएँ, अर्जित उपलब्धियाँ, द्रव्यजात (Possession), सत्ता तथा शक्ति। **सोरोकिन** तथा **वेबर** स्तरीकरण के प्रमुख तीन आधारों-आर्थिक, राजनीतिक एवं व्यावसायिक का उल्लेख करते हैं जबकि **कार्ल मार्क्स** केवल आर्थिक आधार को ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इस आधार पर समाज में दो प्रकार के वर्ग पनपते हैं—पूँजीपति एवं श्रमिक। स्तरीकरण के सभी आधारों को हम प्रमुख रूप से दो भागों में बाँट सकते हैं—1. प्राणिशास्त्रीय आधार, एवं 2. सामाजिक-सांस्कृतिक आधार।

प्राणिशास्त्रीय आधार (Biological Basis)

समाज में व्यक्तियों एवं समूहों की उच्चता एवं निम्नता का निर्धारण प्राणिशास्त्रीय आधारों पर भी किया जाता है। प्रमुख प्राणिशास्त्रीय आधारों में हम लिंग, आयु, प्रजाति एवं जन्म आदि को ले सकते हैं।

1. **लिंग**—लिंग के आधार पर स्त्री और पुरुषों के रूप में समाज का स्तरीकरण सबसे प्राचीन है। लगभग सभी समाजों में पुरुषों की स्थिति स्त्रियों से ऊँची मानी जाती रही है। कई पद ऐसे हैं जो केवल पुरुषों के लिए ही निर्धारित हैं; जैसे—सेना

में स्त्रियों को नहीं लिया जाता, परम्परा के अनुसार अमेरिका का राष्ट्रपति कोई भी स्त्री नहीं बन सकती, यद्यपि संवैधानिक रूप से ऐसी कोई अड़चन नहीं है।

2. **आयु**—प्रत्येक समाज में कई पद ऐसे होते हैं जो एक निश्चित आयु के व्यक्तियों को ही प्रदान किए जाते हैं। आयु के आधार पर समाज में प्रमुख चार स्तर-शिशु, किशोर, प्रौढ़ और वृद्ध पाए जाते हैं। सामान्यत: महत्त्वपूर्ण पद बड़ी आयु के लोगों को प्रदान किए जाते हैं। भारत में परिवार, जाति एवं ग्राम पंचायत के मुखिया का पद वयोवृद्ध व्यक्ति को ही दिया जाता रहा है। यह माना जाता है कि आयु और अनुभव का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए उत्तरदायित्व के कार्य अनुभवी एवं वयोवृद्ध व्यक्तियों को सौंपे जाते हैं।
3. **प्रजाति**—प्रजाति के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण वहाँ देखा जा सकता है जहाँ एकाधिक प्रजातियाँ साथ-साथ रहती हैं। जिस प्रजाति के लोग शासन एवं सत्ता में होते हैं तथा सम्पन्न होते हैं, वह प्रजाति अपने को दूसरी प्रजातियों से श्रेष्ठ मानती है। अमेरिका व अफ्रीका में गोरी प्रजाति ने काली प्रजाति से अपने को श्रेष्ठ घोषित किया है और उसे अनेक सुविधाएँ एवं विशेषाधिकार प्राप्त हैं। अमेरिका का राष्ट्रपति नीग्रो प्रजाति का कोई व्यक्ति नहीं बन सकता।
4. **जन्म**—जन्म भी सामाजिक स्तरीकरण उत्पन्न करता है। जो लोग उच्च कुल, वंश एवं जाति में जन्म लेते हैं, वे अपने को दूसरों से श्रेष्ठ मानते हैं।
5. **शारीरिक व बौद्धिक कुशलता**—वर्तमान समय में व्यक्ति की प्रस्थिति एवं स्तर का निर्धारण उसकी शारीरिक एवं मानसिक कुशलता, योग्यता एवं क्षमता के आधार पर होने लगा है। जो लोग अकुशल, पागल, क्षीणकाय, आलसी एवं अयोग्य होते हैं। उनका स्तर उन लोगों से नीचा होता है जो बुद्धिमान, परिश्रमी, हृष्ट-पुष्ट एवं कुशल होते हैं। साम्यवादी देशों में भी इन गुणों के आधार पर स्तरीकरण देखा जा सकता है।

सामाजिक-सांस्कृतिक आधार (Socio-cultural Basis)

सामाजिक स्तरीकरण प्राणिशास्त्रीय आधारों पर ही नहीं वरन् अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक आधारों पर भी पाया जाता है। उनमें से प्रमुख निम्न हैं—

1. **सम्पत्ति**—सम्पत्ति के आधार पर भी समाज में स्तरीकरण किया जाता है। आधुनिक समाजों में ही नहीं वरन् आदिम समाजों में भी सम्पत्ति के आधार पर ऊँच-नीच का भेद पाया जाता है। समाज में वे लोग ऊँचे माने जाते है जिनके पास अधिक सम्पत्ति होती है। वे सभी प्रकार की विलासिता एवं सुख-सुविधाओं की वस्तुएँ खरीदने की क्षमता रखते हैं। इसके विपरीत, गरीब तथा सम्पत्तिहीन की स्थिति निम्न होती है। सम्पत्ति के घटने एवं बढ़ने के साथ-साथ समाज में व्यक्ति का स्तर भी घटता-बढ़ता जाता है।
2. **व्यवसाय**—व्यवसाय भी सामाजिक स्तरीकरण का प्रमुख आधार है। समाज में कुछ व्यवसाय सम्मानजनक एवं ऊँचे माने जाते हैं तो कुछ निम्न एवं घृणित। डॉक्टर, इंजीनियर, प्रशासक, प्राध्यापक आदि का पेशा, बाल काटने, कपड़े धोने और चमड़े का काम करने वालों के पेशों से श्रेष्ठ एवं सम्माननीय माना जाता है। अत: इन पेशों को करने वालों की स्थिति भी सामाजिक संस्तरण में ऊँची होती है।
4. **धार्मिक ज्ञान**—धर्म प्रधान समाजों में धर्म भी स्तरीकरण उत्पन्न करता है। जो लोग धार्मिक कर्मकाण्डों में संलग्न होते हैं, धार्मिक उपदेश देते हैं एवं धर्म के अध्ययन में रत रहते हैं, उन्हें सामान्य लोगों से ऊँचा माना जाता है। भारत में पण्डे-पुजारियों, धार्मिक गुरुओं, साधु-सन्तों एवं ब्राह्मणों की सामाजिक स्थिति उनके धार्मिक ज्ञान और धर्म से सम्बन्धित होने के कारण ही ऊँची रही है। वर्तमान में धर्म के महत्त्व के घटने के साथ-साथ स्तर निर्धारण में इसका प्रभाव भी कमजोर होता जा रहा है।
5. **राजनीतिक शक्ति**—सत्ता एवं अधिकारों के आधार पर भी समाज में संस्तरण पाया जाता है। जिन लोगों के पास सैनिक शक्ति, सत्ता और शासन की बागडोर होती है, उनकी स्थिति उन लोगों से ऊँची होती है जो सत्ता एवं शक्तिविहीन होते हैं। शासक और शासित का भेद सभी समाजों में पाया जाता है।

सी० राइट मिल्स ने स्तरीकरण के लिए शक्ति को महत्त्वपूर्ण माना है। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न व्यक्ति सेना के उच्चाधिकारियों से अपने सम्बन्ध कायम कर लेते हैं और समाज में आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक दृष्टि से प्रभावशाली बन जाते हैं। दूसरी तरफ, वे लोग होते हैं जिनका आर्थिक, राजनीतिक व सामाजिक प्रभाव कम या नगण्य होता है। यह भिन्नता ही समाज में स्तरीकरण पैदा करती है।

प्र.3. सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूपों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

सामाजिक स्तरीकरण के रूप
(Forms of Social Stratification)

बॉटोमोर (Bottomore) द्वारा सामाजिक स्तरीकरण के चार स्वरूपों का संक्षेप में वर्णन किया गया है—

1. **दास-प्रथा**—सामाजिक स्तरीकरण का प्रारम्भिक स्वरूप दास-प्रथा थी। यह वह प्रथा है जिसमें मालिक एवं दास की प्रस्थिति तथा उसके अधिकार सुपरिभाषित होते थे और परस्पर सभी दासों को मालिक की जायदाद/सम्पत्ति की तरह देखा जाता था। परन्तु सभी मालिकों की स्थिति सामाजिक स्तरीकरण में समान नहीं होती थी जो अन्य दासों के मालिक होते थे। इस तरह यह दास-प्रथा प्राचीन सामाज में ही विद्यमान रही है।
2. **जागीरदारी व्यवस्था—दुर्खीम ने** 'श्रम-विभाजन का सिद्धान्त' (Theory of Division of Labour) देकर इसके आधार पर सामाजिक स्तरीकरण को स्पष्ट किया है। इस व्यवस्था में सम्पूर्ण समाज तीन प्रमुख वर्गों में विभाजित था। (i) पादरी (ii) कुलीन (iii) जनसाधारण वर्ग। इन तीनों के मध्य उच्च निम्न का एक महत्त्वपूर्ण विभाजन था। सबसे उच्च स्थान पादरी तथा द्वितीय स्थान पर कुलीन और सबसे निम्न स्थान पर जनसाधारण की प्रस्थिति थी। **बॉटोमोर** के द्वारा इस तथ्य की पुष्टि की गई कि इन वर्गों के बीच श्रम-विभाजन का भी स्पष्ट रूप था। पादरी वर्ग का दायित्व कुलीन वर्ग हेतु ईश्वर से प्रार्थना, कुलीन का दायित्व स्वयं की रियासत/जागीर में रहने वाले सदस्यों के हितों को देखना था और जनसाधारण वर्ग का कार्य सभी उपरोक्त वर्गों हेतु भोजन एवं अन्य सेवाएँ प्रदान करना था। इस प्रकार इन वर्गों के बीच श्रम-विभाजन का महत्त्व था। परन्तु वर्तमान में जनतान्त्रिकीकरण के कारण सामाजिक स्तरीकरण की यह व्यवस्था समाप्त हो चुकी है।
3. **जाति व्यवस्था (बन्द स्तरीकरण)**—जाति शब्द अंग्रेजी भाषा के **कास्ट** 'Cast' का हिन्दी अनुवाद है। अंग्रेजी के कास्ट (Cast) शब्द की व्युत्पत्ति पुर्तगाली भाषा के 'Casta' शब्द से हुई है जिसका अर्थ मत, विभेद तथा जाति से लिया जाता है। जैविक रूप से भिन्न समूह जो सामान्य तथा विशिष्ट आनुवंशिकता को निरूपित करता है, जाति कहलाती है। विभिन्न विद्वानों ने जाति को परिभाषित करने का प्रयास किया है—

   मैक्स वेबर ने भारतीय जाति की विशेषता एक बन्द प्रस्थिति समूह की बताई है।

   मजूमदार एवं **मदन** के अनुसार, "जाति एक बन्द वर्ग है।"

   घुरिए द्वारा जाति व्यवस्था की छह विशेषताएँ दी गईं—

   (i) समाज का खण्डात्मक विभाजन

   (ii) संस्तरण

   (iii) खान-पान एवं सामाजिक अन्त:क्रिया में प्रतिबन्ध

   (iv) नागरिक एवं धार्मिक निर्योग्यताएँ एवं कुछ वर्गों का विशेषाधिकार

   (v) व्यवसाय के अप्रतिबन्धित चयन की कमियाँ एवं विवाह में प्रतिबन्ध

   (vi) यहाँ पर जातिगत व्यवस्था (बन्द स्तरीकरण) से तात्पर्य है जिसमें व्यक्ति को अपनी सामाजिक स्थिति में परिवर्तन करने की छूट नहीं प्राप्त होती है।

   भारत में जाति व्यवस्था का संस्तरण स्पष्ट होता है। यहाँ जाति एक ऐसा समूह है जिसकी सदस्यता जन्म पर आधारित होती है। प्रत्येक जाति का व्यक्ति अपनी जाति के ही व्यवसाय का चयन करता है और एक जाति का सदस्य अपनी ही जाति में विवाह करता है। व्यक्ति को स्वयं की जाति से बाहर विवाह करने की अनुमति नहीं प्राप्त होती है। इस प्रकार जाति को एक बन्द स्तरीकरण का स्वरूप कहा गया है।
4. **वर्ग व्यवस्था (खुला स्तरीकरण)**—वर्गों की उपस्थिति सार्वभौमिक है। विश्व में कोई भी समाज ऐसा नहीं है, जिसमें वर्ग न पाए जाते हों। आधुनिक समाजों में तो स्तरीकरण का यह प्रमुख आधार है। इसलिए **मार्क्स** कहते हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, परन्तु अधिक स्पष्टता आधारभूत रूप में वह एक **'वर्ग प्राणी'** है। आदिकाल से ही आयु, लिंग, शिक्षा, आय, व्यवसाय, धर्म आदि के आधार पर वर्गों का निर्माण होता रहा है और समाज का स्तरीकरण बालक, युवा,

प्रौढ़ एवं वृद्ध, स्त्री-पुरुष, शिक्षित-अशिक्षित, गरीब-अमीर, किसान, व्यापारी, शिक्षक, क्लर्क आदि वर्गों में किया जाता रहा है।

इस स्तरीकरण के अन्तर्गत व्यक्ति की योग्यता और कुशलता को सम्मिलित किया जाता है। इसमें वर्गों का आधार केवल आर्थिक ही नहीं बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक भी है। जिन समाजों में वैयक्तिक योग्यता, सम्पत्ति और व्यवसाय के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण उन्नत होता है, वह खुला स्तरीकरण कहलाता है, क्योंकि व्यक्ति की योग्यता में परिवर्तन होने से उसकी वर्ग व्यवस्था में भी परिवर्तन हो जाता है। वर्गों का निर्माण जन्म के अतिरिक्त सम्पत्ति, व्यवसाय, वैयक्तिक योग्यता के आधार पर होता है।

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, एक वर्ग समुदाय का वह भाग है जो सामाजिक प्रस्थिति के आधार पर दूसरों से पृथक किया जा सके। इसमें जाति का महत्त्व नहीं होता है, इसीलिए इसे खुला स्तरीकरण कहा गया है। इसमें व्यक्ति अपने स्तर का परिवर्तन स्वयं से कर सकता है।

प्र.4. व्यक्ति एवं समूह के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक स्तरीकरण के महत्त्व (प्रकार्य) पर प्रकाश डालिए।

उत्तर

सामाजिक स्तरीकरण का महत्त्व (प्रकार्य)
[Importance (Functions) of Social Stratification]

सामाजिक स्तरीकरण सार्वभौमिक तथ्य है। इसका कोई-न-कोई रूप सभी समाजों एवं कालों में पाया जाता रहा है। इसी से इसका महत्त्व एवं उपयोगिता प्रकट होती है। ऐसा माना जाता है कि यदि किसी समाज में असमानता की संस्थागत पद्धति नहीं पाई जाती है तो वह समाज मुश्किल से ही जीवित रह सकता है। प्रत्येक समाज में पदों के महत्त्व में अन्तर होने एवं व्यक्तियों की योग्यता, बुद्धि एवं कुशलता में भेद होने के कारण कुछ व्यक्ति प्रगति कर जाते हैं और कुछ पिछड़ जाते हैं। इस कारण समाज में स्वत: ही स्तरीकरण पैदा हो जाता है। व्यक्ति एवं समाज के लिए वर्गीकरण का महत्त्व निम्न प्रकार है—

(I) व्यक्ति के लिए सामाजिक स्तरीकरण का महत्त्व (प्रकार्य)
(Importance or Functions of Social Stratification for Individual)

1. **आवश्यकता पूर्ति में सहायक**—मानव की आवश्यकताएँ असंख्य हैं। इनकी पूर्ति के लिए उसे विभिन्न व्यक्तियों का सहयोग लेना होता है। स्तरीकरण द्वारा समाज में कार्यों का विभाजन कर दिया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने निश्चित कार्य को कुशलता से करके मानव की आवश्यकता पूर्ति में सहयोग प्रदान करता है।
2. **अधिक कार्य के लिए प्रोत्साहन**—सामाजिक स्तरीकरण का एक महत्त्वपूर्ण प्रकार्य यह है कि वह व्यक्ति को अधिक कार्य करने की प्रेरणा देता है। समाज में महत्त्वपूर्ण पदों के लिए समाज द्वारा अधिक पुरस्कार की व्यवस्था की जाती है। प्रत्येक व्यक्ति में प्रसिद्धि पाने एवं बड़ा बनने की इच्छा होती है। इस इच्छा को पूरा करने एवं उच्च पद पाने के लिए स्तरीकरण द्वारा व्यक्ति को कठोर परिश्रम करने की प्रेरणा दी जाती है।
3. **सहयोग को बढ़ावा**—स्तरीकरण में विभिन्न योग्यता वाले व्यक्तियों को पद प्रदान किए जाते हैं। इससे समाज में संघर्ष की स्थिति पैदा नहीं होती और सभी व्यक्ति परस्पर सहयोग द्वारा समाज को सुचारु रूप से चलाने में योग देते हैं।
4. **मनोवृत्तियों का निर्धारण—ओलसन** मानते हैं कि स्तरीकरण मानव की मनोवृत्तियों को भी तय करता है। व्यक्ति जिस जाति, वर्ग एवं प्रस्थिति-समूह का सदस्य होता है उसके विचार, क्रियाएँ एवं मनोवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं।
5. **शक्ति-सन्तुलन**—स्तरीकरण समाज में शक्ति सन्तुलन कायम रखता है। स्तरीकरण में कुछ व्यक्तियों के पास महत्त्वपूर्ण पद होते हैं, उनके पास शक्ति भी अधिक होती है। दूसरी तरफ राजनीतिक अधिकार एवं शक्तिविहीन लोगों की संख्या अधिक होती है। ये लोग शक्तिसम्पन्न लोगों को शक्ति के दुरुपयोग करने से रोकते हैं। शक्तिशाली लोग सामान्य लोगों पर नियन्त्रण रखते हैं और उन्हें निर्देशित करते हैं। इस प्रकार दोनों ही वर्ग परस्पर नियन्त्रण रखकर शक्ति-सन्तुलन बनाए रखते हैं।
6. **उत्तरदायित्व की भावना का विकास**—स्तरीकरण में जब एक व्यक्ति को एक निश्चित पद प्रदान कर दिया जाता है तो वह अपने पद को बनाए रखने के लिए अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह निष्ठापूर्वक करता है। इससे व्यक्ति में उत्तरदायित्व की भावना का विकास होता है।

7. **व्यक्ति की प्रस्थिति एवं भूमिका का निर्धारण**—स्तरीकरण द्वारा प्रत्येक व्यक्ति का समाज में स्थान निर्धारित किया जाता है और व्यक्ति की प्रस्थिति के अनुसार ही उसे कार्य भी सौंपे जाते हैं।

(II) समूह के लिए महत्त्व (Importance of the Group)

ओलसन ने सामाजिक स्तरीकरण के समूह के लिए कुछ कार्यों एवं महत्त्व का निम्न प्रकार किया है—

1. **सामाजिक परिवर्तन**—एक सामान्य धारणा यह है कि स्तरीकरण परिवर्तन विरोधी है, किन्तु इसके विपरीत स्तरीकरण परिवर्तन को प्रोत्साहन भी देता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता में वृद्धि करके उच्च प्रस्थिति प्राप्त करने का प्रयास करता है और उसके द्वारा रिक्त किए हुए स्थान को नए व्यक्ति ग्रहण करते हैं। साथ ही नए पदों के अनुरूप व्यक्ति अपने व्यवहार, सम्बन्ध, रहन-सहन, विचार एवं मनोवृत्तियों में भी परिवर्तन लाता है।
2. **सामाजिक संघर्षों से रक्षा**—सामाजिक स्तरीकरण में समाज के विभिन्न समूहों में अधिकारों एवं कार्यों का विभाजन कर दिया जाता है। इससे उनमें परस्पर संघर्ष नहीं हो पाता। विभिन्न व्यक्तियों में उनकी योग्यता के अनुरूप पदों, कार्यों, सुविधाओं एवं पुरस्कारों के वितरण के कारण भी संघर्ष की स्थिति से बचा जाता है। स्तरीकरण इस बात का विश्वास दिलाता है कि महत्त्वपूर्ण पद योग्य व्यक्तियों को सौंपे जाएँगे।
3. **सामाजिक एकीकरण**—सामाजिक स्तरीकरण में कार्यों का विभाजन कर दिया जाता है और प्रत्येक व्यक्ति एवं समूह अपने कार्यों का निर्वाह कर सामाजिक एकता एवं संगठन को बनाए रखने में योग देता है। इससे वे संघर्ष की स्थिति से बचे रहते हैं।
4. **सामाजिक प्रगति**—सामाजिक स्तरीकरण में ऊँचे एवं नीचे पदों की व्यवस्था होती है। व्यक्ति उच्च पदों को प्राप्त करने के लिए आपस में प्रतिस्पर्धा करते हैं, कठिन परिश्रम करते हैं। इससे समाज में निर्माण का कार्य होता है, नवीन आविष्कार होते हैं और समाज प्रगति करता है।
5. **सामाजिक सम्बन्धों का निर्धारण**—एक स्तर एवं वर्ग के लोगों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध पाए जाते हैं क्योंकि उनके स्वार्थ एवं रुचियाँ समान होते हैं। उदाहरण के लिए, पूँजीपतियों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होते हैं। यही बात श्रमिकों में देखने को मिलती है। इसका कारण उनके उद्देश्यों की समानता है। इसी प्रकार से एक ही जाति के लोगों में भी अन्य जातियों के लोगों की अपेक्षा घनिष्ठ सम्बन्ध पाए जाते हैं, क्योंकि एक व्यक्ति के नाते-रिश्ते अपनी ही जाति में होते हैं एवं संकट में जाति के सदस्य ही सहायक होते हैं।
6. **श्रम-विभाजन**—स्तरीकरण में समाज के कार्यों का विभिन्न लोगों में विभाजन कर दिया जाता है। श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण के कारण कार्यकुशलता बढ़ती है, विभिन्न कार्य करने वालों में पारस्परिक निर्भरता एवं सहयोग बढता है और अन्ततः यह सामाजिक एकता एवं संगठन को सुदृढ़ बनाता है। स्तरीकरण में यह भी तय होता है कि एक इकाई का अन्य इकाइयों के साथ कैसा सम्बन्ध होगा।
7. **सामाजिक मानदण्डों का पालन करने की प्रेरणा**—सामाजिक स्तरीकरण में प्रत्येक व्यक्ति अपने पद को बनाए रखने के लिए जागरूक होता है और पद से सम्बन्धित सामाजिक मानदण्डों (Social Norms) का पालन करता है। ऐसा न करने पर उसकी प्रतिष्ठा गिरने का डर रहता है। अतः स्तरीकरण में स्वतः ही अचेतन रूप में सामाजिक मानदण्डों का पालन किया जाता है।
8. **अनावश्यक प्रतिस्पर्द्धा एवं संघर्ष से रक्षा**—स्तरीकरण में समूहों के कार्यों, अधिकारों एवं व्यवसाय आदि का विभाजन होने के कारण प्रत्येक समूह अपना निर्धारित कार्य करता है। इससे अनावश्यक प्रतिस्पर्द्धा और संघर्षों से बचा जा सकता है।

प्र.5. सामाजिक गतिशीलता का अर्थ एवं परिभाषा स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

सामाजिक गतिशीलता का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Social Mobility)

सामाजिक गतिशीलता का तात्पर्य एक व्यक्ति या समूह द्वारा एक पद, स्थान या व्यवसाय त्यागकर दूसरा पद, स्थान या व्यवसाय ग्रहण करने से है। विभिन्न विद्वानों ने सामाजिक गतिशीलता को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है—

बोगार्डस के अनुसार, "सामाजिक पद में कोई भी परिवर्तन सामाजिक गतिशीलता है।"

फिचर के अनुसार, "सामाजिक गतिशीलता व्यक्ति, समूह या श्रेणी (Category) के एक सामाजिक पद या स्तृत (Stratum) से दूसरे में गति करने को कहते हैं।"

हार्टन तथा हण्ट के अनुसार, "सामाजिक गतिशीलता का तात्पर्य उच्च या निम्न सामाजिक प्रस्थितियों में गमन करना है।"

सोरोकिन लिखते हैं, "सामाजिक गतिशीलता से हमारा तात्पर्य सामाजिक समूहों तथा स्तरों के झुण्ड में एक सामाजिक पद से दूसरे सामाजिक पद में परिवर्तन होना है।"

फेयरचाइल्ड ने लोगों के एक सामाजिक समूह से दूसरे सामाजिक समूह में गमन को ही सामाजिक गतिशीलता कहा है।

एस०एम० दुबे के अनुसार, "सामाजिक गतिशीलता एक बहुत ही विस्तृत शब्द है जिसके अन्तर्गत या तो व्यक्ति या सम्पूर्ण समूह की आर्थिक, राजनीतिक या व्यावसायिक प्रस्थिति में ऊपर या नीचे की ओर परिवर्तन को सम्मिलित किया जाता है।"

प्रो० पीटर (Peter) के अनुसार, "समाज के सदस्यों के सामाजिक जीवन में होने वाले स्थिति, पद, पेशा या और निवास स्थान सम्बन्धी परिवर्तनों को सामाजिक गतिशीलता कहते हैं।"

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि—

1. सामाजिक गतिशीलता का सम्बन्ध व्यक्ति या समूह के पद या प्रस्थिति से है।
2. सामाजिक गतिशीलता में व्यक्ति या समूह की सामाजिक प्रस्थिति में परिवर्तन आता है।
3. यह परिवर्तन एक समूह या समाज की संरचना के अन्तर्गत ही होता है।
4. सामाजिक गतिशीलता की कोई निश्चित दिशा नहीं है, यह ऊपर व नीचे की ओर तथा समानान्तर भी हो सकती है। एक व्यक्ति चुनाव जीत कर मन्त्री बन जाता है, एक छात्र अध्ययन समाप्त कर कोई अधिकारी बन जाता है, एक मजदूर लखपति बन जाता है तो ये सभी स्थितियाँ सामाजिक गतिशीलता को प्रकट करती हैं। जाति-व्यवस्था वाले समाजों की तुलना में प्रजातन्त्रीय व्यवस्था में सामाजिक गतिशीलता के अवसर अधिक होते हैं। प्रत्येक समूह व समाज की एक संरचना होती है जिसमें विभिन्न प्रस्थितियाँ व पद होते हैं। प्रस्थितियाँ व पद उच्चता व निम्नता के क्रम में होते हैं, इसे ही सामाजिक स्तरीकरण के नाम से जाना जाता है। सामाजिक स्तरीकरण में परिवर्तन सामाजिक गतिशीलता है। उदाहरण के लिए, जातीय संस्तरण में विभिन्न जातियों की प्रस्थिति ऊँची व नीची है। ब्राह्मण क्षत्रियों से ऊँचे हैं और वैश्य क्षत्रियों से नीचे। यदि कोई व्यक्ति अपनी जातीय प्रस्थिति बदलकर उच्च या निम्न प्रस्थिति ग्रहण कर लेता है तो यह सामाजिक गतिशीलता कहलाएगी। जब एक व्यक्ति क्लर्क से अफसर बन जाता है तो इस परिवर्तन को हम सामाजिक गतिशीलता कहेंगे क्योंकि इसमें उसकी प्रस्थिति बदल गई है। सामाजिक गतिशीलता उच्चता व निम्नता तथा क्षैतिज किसी भी दिशा में हो सकती है। स्पष्ट है कि जब किसी व्यक्ति या समूह की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन होता है तो उसे सामाजिक गतिशीलता कहते हैं।

प्र.6. सामाजिक गतिशीलता का वर्गीकरण दीजिए।

उत्तर

सामाजिक गतिशीलता का वर्गीकरण
(Types/Classification of Social Mobility

सामाजिक गतिशीलता को विभन्न विचारकों के अनुसार निम्नलिखित रूप में वर्गीकृत किया गया है—

1. सोरोकिन के अनुसार सामाजिक गतिशीलता का वर्गीकरण
2. कॉल के अनुसार सामाजिक गतिशीलता का वर्गीकरण।

सोरोकिन के अनुसार सामाजिक गतिशीलता का वर्गीकरण
(Classification of Social Mobility according to Sorokin)

सोरोकिन ने अपनी पुस्तक 'Social Mobility' (1927) में निम्नलिखित दो प्रकार की सामाजिक गतिशीलता का उल्लेख किया है—

1. **विषमस्तरीय/लम्ब सामाजिक गतिशीलता**—विषमस्तरीय/लम्ब सामाजिक गतिशीलता के अर्थ को स्पष्ट करते हुए **सोरोकिन महोदय** ने लिखा है कि "**विषमस्तरीय** गतिशीलता से मेरा अभिप्राय उन सम्बन्धों से हैं, जो किसी व्यक्ति या सामाजिक वस्तु के एक सामाजिक स्तर से दूसरे सामाजिक स्तर में जाने के कारण उत्पन्न होते हैं।"

अत: स्पष्ट है कि लम्बवत् **विषमस्तरीय/लम्ब** गतिशीलता अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें व्यक्ति एक सामाजिक पद (स्थिति) से दूसरे सामाजिक पद (स्थिति) पर जाता है। इसमें स्थिति का परिवर्तन होता है तथा यह परिवर्तन उच्च या निम्न किसी भी प्रकार का हो सकता है। अतैव उच्च से निम्न या निम्न से उच्च सामाजिक स्थिति (प्रतिष्ठा) वाले सामाजिक स्तरों में व्यक्तियों के आवागमन को लम्बवत् सामाजिक गतिशीलता के रूप में जाना जाता है।

विषमस्तरीय/लम्ब गतिशीलता को भी इन्होंने निम्नलिखित दो उपभागों में बाँटा है—

(i) **आरोही गतिशीलता**—आरोही गतिशीलता के अन्तर्गत कोई व्यक्ति समाज के निम्न स्तर से उच्च स्तर की ओर बढ़ता है। इसमें व्यक्ति की सामाजिक स्थिति में वृद्धि होती है। उदाहरण के लिए, किसी चपरासी का प्रधानाध्यापक बन जाना आरोही गतिशीलता मानी जाएगी।

(ii) **अवरोही गतिशीलता**—अवरोही गतिशीलता में व्यक्ति समाज में अपनी उच्च प्रतिष्ठा खोकर निम्न स्थिति में पहुँच जाता है। यह प्रक्रिया विकसित देशों में अधिक होती है।

2. **समतल सामाजिक गतिशीलता**—समतल गतिशीलता से तात्पर्य एक व्यक्ति या सामाजिक तथ्य का एक समूह से दूसरे समूह में उसी स्थिति में स्थानान्तरण होना है। सामाजिक गतिशीलता में भौगोलिक गति होती है, इस गतिशीलता में व्यक्ति की सामाजिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता है। उदाहरण के लिए, किसी छोटे शहर के बैंक का मैनेजर जब बड़े शहर के बैंक का बाबू हो जाता है, तब उसके व्यवसाय में परिवर्तन न होकर केवल भौगालिक स्थिति में परिवर्तन होता है अर्थात् उसी व्यवसाय में कार्यरत् रहते हुए मात्र स्थान में परिवर्तन के कारण उसकी स्थिति में उतार-चढ़ाव आ जाता है। वर्ग आधारित खुला समाज में सामाजिक गतिशीलता की अधिक सम्भावना रहती है।

सोरोकिन ने समतल सामाजिक गतिशीलता के भी कुछ प्रकार बताए हैं—

(i) **धार्मिक गतिशीलता**—व्यक्ति या समूह जब एक धर्म (धार्मिक विश्वास) को छोड़कर किसी दूसरे धर्म को स्वीकार कर लेता है तो इसे धार्मिक गतिशीलता की संज्ञा दी जाती है; जैसे—किसी हिन्दू का ईसाई धर्म स्वीकारना।

(ii) **व्यावसायिक गतिशीलता**—यदि दो अलग-अलग व्यवसाय हैं लेकिन उनकी स्थिति समान है तो व्यक्ति का एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में प्रवेश करना ही व्यावसायिक गतिशीलता कहलाता है; जैसे-जब कोई ग्रामीण व्यक्ति शहर में रहने के लिए जाता है तो वहाँ अपने ग्रामीण व्यवसाय के समान स्थिति वाले (पान या चाय की दुकान) व्यवसाय को करने लगता है तो इसे व्यावसायिक गतिशीलता कहते हैं।

(iii) **क्षेत्रीय गतिशीलता**—किसी क्षेत्र या समुदाय विशेष से किसी अन्य क्षेत्र या समुदाय में व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह का जाना (प्रवेश) क्षेत्रीय गतिशीलता कहलाता है। अकाल, युद्ध, क्रान्ति एवं संकट के समय यह गति अति तीव्र हो जाती है।

(iv) **दलगत गतिशीलता**—जब कोई व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह किसी राजनीतिक दल की अस्थिरता, अन्य दलों के सिद्धान्तों में विश्वास, स्वार्थवश या अन्य किसी कारण से एक राजनीतिक दल को छोड़कर दूसरे दल में सम्मिलित हो जाता है तो इसे दलगत गतिशीलता कहते हैं। वर्तमान भारतीय राजनीति इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

(v) **परिवार की गतिशीलता**—विवाह या पुनर्विवाह करना, किसी बालक को गोद लेना या तलाक आदि देना पारिवारिक एवं रिश्तेदारी गतिशीलता के अन्तर्गत आता है।

(vi) **अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता**—जब एक देश के लोग दूसरे देश में बस जाते है तो इसे अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता कहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता कई कारणों से हो सकती है; जैसे—शिक्षा प्राप्त करने, रोजगार प्राप्त करने या आर्थिक लाभ प्राप्त करने के लिए किसी व्यक्ति का दूसरे देश में चले जाना एक अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता कहलाता है।

कॉल के अनुसार सामाजिक गतिशीलता का वर्गीकरण
(Classification of Social Mobility According to Kohl)

कॉल ने भी सामाजिक गतिशीलता को तीन भागों में विभाजित किया है—

1. **प्रजनक गतिशीलता**—कॉल के अनुसार समाज में कभी-कभी उच्च वर्ग के लोग उस वर्ग के अनुसार सन्तान उत्पन्न नहीं कर पाते हैं तो वह समाज के अन्य वर्ग के लोगों (मध्यम एवं निम्न) के रिक्त स्थान को पूर्ण करने हेतु प्राय: गतिशील हो जाते हैं। ऐसी गतिशीलता सीजर के दौरान रोम में पाई जाती थी।

2. **प्रवासी गतिशीलता**—जब लोग आर्थिक अवसर की प्राप्ति हेतु अपना स्थान छोड़कर अन्य आर्थिक अवसर युक्त वाले स्थान पर चले जाते हैं तो यह प्रवासीय गतिशीलता कहलाती है। यह स्थानीय या प्रवासी लोगों के मध्य समाज में उच्च स्तर प्राप्ति हेतु की जाती है। यह गतिशीलता 1859-1920 के मध्य अमेरिका में स्पष्ट हुई थी।
3. **प्रौद्योगिक गतिशीलता**—औद्योगीकरण एवं नगरीकरण के कारण नए-नए व्यवसायों का विकास हुआ। कृषि पर आधारित कार्यों में कमी आई है। इस परिस्थिति में किसानों एवं गरीबों के बच्चों को नौकरी भी प्राप्त हुयी है। उनकी आय में वृद्धि होने से जीवन स्तर में भी सुधार हुआ है। इस गतिशीलता का आधार औद्योगिकीकरण के होने के कारण इसे प्रौद्योगिकी गतिशीलता कहा जाता है।

उपर्युक्त यह विभाजन अत्यन्त प्राचीन है वर्तमान में सामाजिक गतिशीलता के अन्य रूप प्रचलित हैं—

1. **अन्तरा-पीढ़ी गतिशीलता**—यह वर्गीकरण इस आधार पर किया गया है कि किसी व्यक्ति को एक सामाजिक स्थिति से दूसरी सामाजिक स्थिति में पहुँचने में कितनी पीढ़ी का समय लगता है। यदि एक व्यक्ति स्वयं के ही जीवन काल में अपनी स्थिति को बदलने में सफल हो जाता है तो उसे अन्तरा-पीढी गतिशीलता कहते हैं। यही जीवनवृत्त गतिशीलता (Career Mobility) भी कहलाती है। वर्तमान में इस प्रकार की गतिशीलता का अधिक प्रचलन है। उदाहरण के लिए, एक दुकानदार अपने कठिन परिश्रम से करोड़पति बन सकता है। गतिशीलता का यह उदाहरण आरोही अन्तरा-पीढ़ी गतिशीलता को दर्शाता है।
2. **अन्तः पीढ़ी गतिशीलता**—यदि एक स्थिति से दूसरी स्थिति में जाने में एक पीढ़ी से अधिक समय लगता है तो वह अन्त:पीढ़ी गतिशीलता कहलाती है। उदाहरण के लिए, राम की सामाजिक स्थिति की तुलना उसके माता-पिता की सामाजिक स्थिति से करने पर हम देखते हैं कि राम अपने माता-पिता से उच्च स्तर पर हैं या निम्न स्तर पर। यह गतिशीलता अन्त:पीढ़ी गतिशीलता कहलाती है। यह आरोही अन्त:पीढ़ी गतिशीलता कहलाती है।

प्र.7. सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करने वाले कारकों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर

सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करने वाले कारक
(Factors Affecting Social Mobility)

सामाजिक गतिशीलता को निम्नलिखित कारक प्रभावित करते हैं—

1. **किसी सामाजिक वर्ग में उपलब्ध सामाजिक पदों की संख्या में परिवर्तन**—वर्तमान सदी के गत दो दशकों में औद्यौगिक क्षेत्र में कुछ परिवर्तनों ने हमारे समाज में इन्जीनियर के पदों की संख्या में अत्यधिक परिवर्तन एवं वृद्धि कर दी है। इस वृद्धि के कारण अन्य सामाजिक वर्गों के व्यक्तियों को इन्जीनियर की स्थिति में परिवर्तन होने के कारण बहुत से अवसर उपलब्ध कराए गए हैं। इस कारण आधुनिक औद्योगिक समाज में सामाजिक गतिशीलता को बहुत प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है।
2. **पदों की स्थिति में परिवर्तन**—वर्तमान आधुनिक समय में होने वाले परिवर्तनों एवं वैज्ञानिक शोधों में एक नई सामाजिक गतिशीलता का उद्‌भव हुआ है जो कुछ व्यवसायों की सापेक्षिक स्थिति में हुए परिवर्तनों से सम्बन्धित होती है; जैसे—वर्तमान समाज में वैज्ञानिकों की स्थिति अन्य व्यवसायों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण मानी जाती है जबकि राजनीतिज्ञों (केन्द्र या राज्य) की स्थिति सापेक्षिक दृष्टि से निम्न हो गई है।
3. **प्रसवन दर की विविधता**—वर्तमान समय में परिवार के आकारों एवं सामाजिक वर्ग-स्थिति में विलोम अनुपात दिखाई देता है। वर्तमान में निम्न वर्ग के परिवार बड़े तथा मध्यम एवं उच्च वर्ग के परिवार छोटे होते जा रहे हैं। फलस्वरूप मध्यम वर्ग के व्यक्तियों के अभाव में मध्य वर्गीय पद रिक्त होते जा रहे हैं जिनकी (पदों की) पूर्ति निम्न वर्ग के लोगों को अवसर प्रदान करके की जा रही है। अत: निम्न वर्ग के लोगों द्वारा मध्य वर्गीय पदों को ग्रहण करने पर सामाजिक गतिशीलता को स्थान मिलता है।
4. **सामाजिक ढाँचा**—सामाजिक ढाँचा भी सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करने वाला मुख्य कारक है। वंशानुगत असमानता पर आधारित समाज में सामूहिक गतिशीलता को स्थान नही मिलता है जबकि जो समाज अवसरों की समानता पर आधारित होता है उसमें इसे (सामाजिक गतिशीलता) विशेष रूप बल (प्रोत्साहन) मिलता है।

TOUCH 'n' PASS

5. **आर्थिक समृद्धि**—आर्थिक समृद्धि (सम्पन्नता) एक वर्ग से दूसरे वर्ग में सामाजिक गतिशीलता को अत्यधिक प्रभावित करती है। चूँकि हमारा समाज आर्थिक दृष्टि से तीन वर्गों (धनी, मध्यम तथा गरीब) में विभाजित है एवं तीनों वर्गों के रहन-सहन, खान-पान एवं सामाजिक स्तर आदि में अन्तर पाया जाता है। धनी वर्ग के लोगों को समाज में अत्यधिक सम्मान दिया जाता है। इसलिए प्रत्येक वर्ग का व्यक्ति अधिकाधिक धन अर्जित करता है ताकि समाज में उसकी भी स्थिति उच्च हो जाए तथा उसे भी धनाढ्यों के समान प्रतिष्ठा प्राप्त हो सके।
6. **शिक्षा**—सामाजिक गतिशीलता को शिक्षा भी प्रभावित करती है। आज प्रत्येक व्यक्ति यह मानता है कि उसकी सामाजिक स्थिति में उन्नति एवं सुधार शिक्षा के द्वारा ही सम्भव हुआ है। अत: शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति की अपनी सामाजिक स्थिति में उन्नति एवं सुधार हेतु पूर्णतया संलग्न है। इस संलग्नता से सामाजिक गतिशीलता को बढ़ावा मिलता है।
7. **महत्त्वाकांक्षा का स्तर**—मनुष्य की महत्त्वाकांक्षा एवं दृढ़ता उच्च सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करती है। किसी भी समाज में जितने अधिक महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति होंगे, समाज की गतिशीलता उतनी अधिक होगी।
8. **व्यावसायिक प्रतिष्ठा**—जिन व्यवसायों को समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं होती है, उन व्यवसायों को त्यागकर व्यक्ति दूसरे व्यवसाय को ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार व्यावसायिक प्रतिष्ठा सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करती हैं। इसी प्रकार व्यवसायों की असमानता भी सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करती है।
9. **शासन व्यवस्था**—चूँकि लोकतन्त्र में अवसरों की समानता को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है इसलिए लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली में सामाजिक गतिशीलता को अत्यधिक बल (प्रोत्साहन) मिलता है। अत: देश की शासन-व्यवस्था भी सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सामाजिक गतिशीलता को बहुत-से कारण प्रभावित करते हैं।

❑

TOUCH 'n PASS

- यद्यपि इस पुस्तक को यथासम्भव शुद्ध एवं त्रुटिरहित प्रस्तुत करने का भरसक प्रयास किया गया है, तथापि इसमें कोई कमी अथवा त्रुटि अनिच्छाकृत ढंग से रह गई हो तो उससे कारित क्षति अथवा सन्ताप के लिए लेखक, प्रकाशक तथा मुद्रक का कोई दायित्व नहीं होगा। सभी विवादित मामलों का न्यायक्षेत्र मेरठ न्यायालय के अधीन होगा।
- इस पुस्तक में समाहित सम्पूर्ण पाठ्य-सामग्री (रेखा व छायाचित्रों सहित) के सर्वाधिकार प्रकाशक के अधीन हैं। अत: कोई भी व्यक्ति इस पुस्तक का नाम, टाइटिल-डिजाइन तथा पाठ्य-सामग्री आदि को आंशिक या पूर्ण रूप से तोड़-मरोड़कर प्रकाशित करने का प्रयास न करें, अन्यथा कानूनी तौर पर हर्जे-खर्चे व हानि के जिम्मेदार होंगे।
- इस पुस्तक में रह गई तथ्यात्मक त्रुटियों तथा अन्य किसी भी कमी के लिए विद्वत् पाठकगण से भूल-सुधार/सुझाव एवं टिप्पणियाँ सादर आमन्त्रित हैं। प्राप्त सुझावों अथवा त्रुटियों का समायोजन आगामी संस्करण में कर दिया जाएगा। किसी भी प्रकार के भूल-सुधार/सुझाव आप info@vidyauniversitypress.com पर भी ई-मेल कर सकते हैं।

मॉडल पेपर

समाजशास्त्र की मूल अवधारणाओं का परिचय

B.A.-I (SEM-I) [पूर्णांक : 75

नोट—सभी खण्डों को निर्देशानुसार हल कीजिए।

खण्ड-अ : अतिलघु उत्तरीय प्रश्न

***निर्देश**—सभी पाँच प्रश्नों के उत्तर दीजिए। प्रत्येक प्रश्न **3 अंक** का है। अधिकतम 75 शब्दों में अतिलघु उत्तर अपेक्षित हैं।*

1. किंग्सले डेविस ने समाजशास्त्र की विषय-वस्तु के अन्तर्गत किन विषयों को सम्मिलित किया है?

2. प्राकृतिक विज्ञानों के अन्तर्गत आने वाले मुख्य विज्ञानों के नाम बताइए तथा इनके अन्तर्गत किसका अध्ययन किया जाता है?

3. नातेदारी की परिभाषा दीजिए।

4. संस्कृति के चार मुख्य उपादानों (अंगों) के नाम बताइए।

5. संघर्ष की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

खण्ड-ब : लघु उत्तरीय प्रश्न

***निर्देश**—निम्नलिखित तीन प्रश्नों में से किन्हीं **2 प्रश्नों** के उत्तर दीजिए। प्रत्येक प्रश्न **7.5 अंक** का है। अधिकतम 200 शब्दों में लघु उत्तर अपेक्षित हैं।*

6. समाजशास्त्र एवं सामान्य समझ की अवधारणा तथा अन्तर स्पष्ट कीजिए।

अथवा समाजशास्त्र एवं राजनीति विज्ञान के मध्य पाए जाने वाले सम्बन्धों पर प्रकाश डालिए।

7. समिति और संस्था में अन्तर बताइए।

अथवा बहुपति विवाह के कारण एवं परिणामों का उल्लेख कीजिए।

8. बहुलवाद, सांस्कृतिक सापेक्षवाद तथा बहुसंस्कृतिवाद में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

अथवा सामाजिक विभेदीकरण से आप क्या समझते हैं? इसकी मुख्य विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

खण्ड-स : विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

***निर्देश**—निम्नलिखित पाँच प्रश्नों में से किन्हीं **3 प्रश्नों** के उत्तर दीजिए। प्रत्येक प्रश्न **15 अंक** का है। अधिकतम 500-800 शब्दों में विस्तृत उत्तर अपेक्षित हैं।*

9. समाजशास्त्र में मानविकी उन्मुखीकरण का अर्थ एवं परिभाषा स्पष्ट कीजिए तथा मानविकी उन्मुखीकरण के उपागमों का वर्णन कीजिए।

अथवा समाजशास्त्र और इतिहास विषय के मध्य पाए जाने वाले सम्बन्ध एवं अन्तर को स्पष्ट कीजिए।

10. समाज की अवधारणा स्पष्ट कीजिए। "समाज सामाजिक सम्बन्धों का जाल है।" इस कथन को समझाइए।

अथवा परिवार के महत्त्वपूर्ण कार्यों एवं महत्त्वों की विवेचना कीजिए।

11. धर्म उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।

अथवा बहुलवाद से आप क्या समझते हैं? इसका अर्थ, परिभाषा एवं विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

12. प्रतिस्पर्धा के परिणाम एवं महत्त्वों की व्याख्या कीजिए।

अथवा सामाजिक संरचना को परिभाषित करते हुए इसके प्रमुख रूपों का वर्णन कीजिए।

13. सामाजिक प्रतिमान का अर्थ, परिभाषा एवं विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

अथवा व्यक्ति एवं समूह के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक स्तरीकरण के महत्त्व (प्रकार्य) पर प्रकाश डालिए।

❑

TOUCH 'n' PASS